

सनातनजैनग्रंथमाला।

१६

श्रीगजाधरलाल न्यायतीर्थकृत हिंदी-अनुवादसहित

योगसार।

जिसको

गांधी हरिभाई देवकरण एडसस द्वारा संरक्षित भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्थाके

महामंत्री पन्नालाल वाकलीवालने

९ विश्वकोष लेन बाघबाजार-विश्वकोष प्रेस कलकत्तामें श्रीराखालचंद्र मित्रके प्रबंधसे

उस्मानाबादनिवासी गांधी कस्तूरचंद्रजीके स्वर्गीय पुत्र बालचंद्रजीके स्मरणार्थ

छपाकर प्रकाशित किया।

वीरनिर्वाण संवत् २४४४ ईशवीय सन् १९१८।

प्रथम संस्करण।

प्रस्तावना

जिसप्रकार सुवर्ण और सुवर्णपाषाणकी सत्ता अनादि है इसीप्रकार लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान भी अनादि हैं यह नहि कहा जासकता कि पहिले लौकिक ज्ञान था वा पारमार्थिक। हां इतना अवश्य कहसक्ते है कि किसी समयमें लौकिक और पारमार्थिक दोनों ज्ञान समानरूपसे आदरणीय हो जाते है तो किसीसमय अध्यात्मज्ञान अधिकरूपसे आदरणीय गिनाजाता है और किसीसमय लौकिकज्ञान ही परम आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। जब हम वर्तमान ससारकी और दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट मालूम पडजाता है कि इससमय लौकिक ज्ञानका अमान सम्मान है। जो महानुभाव कुछ भी लौकिकज्ञान रखता है वह आदरकी दृष्टिसे देखाजाता है। उससे भी अधिक लौकिकज्ञानकी पुस्तक लिखनेवाला देखाजाता है तथा जो पुरुष किसीप्रकारका नया आविष्कार निकाल देता है वह तो प्रमाणस्वरूप ही समझा जाता है अधिक कहातक कहाजाय लौकिकज्ञानको विज्ञानके नामसे भी भूषित करडाला है। परंतु पूर्वकालमें पारमार्थिक ज्ञानकी ही विशेष चर्चा थी। उसके उपदेशका, उसके वास्तविकस्वरूपके निदर्शक शास्त्रोंके निर्माण करनेवालोंका ही परम आदर था जिसके कि प्रमाणस्वरूप अगणित ग्रथ वर्तमानमें दृष्टिगोचर हो रहे है क्योंकि यह सवहीके स्वानुभवगोचर है कि हमारेलिये जैसा अविनाशीक अध्यात्मज्ञान परमसुखदायी है वैसा विनाशीक लौकिकज्ञान नहीं। उससमयमें प्राथमिक शिक्षामें ही पारमार्थिक ज्ञानकी उपयोगिता लोगोंके हृदयमें कूट २ कर भरदी जाती थी इसलिये वे पारमार्थिकज्ञानको उपादेयतम समझते थे और जबतक उसकी प्राप्तिके मार्गका अवलंबन नहि करते थे तबतक अपनेको घोर पातकी मानते थे।

पाठक ! उसीसमयके निदर्शक अनुपम पारमार्थिकज्ञानके उपायस्वरूप आज हम पुनः एक अपूर्व ग्रथको आपकी भेट करनेके लिये उपस्थित हुये हैं इसका नाम **श्रीयोगसार** है। इसमें जीवाधिकार अजीवाधिकार आदि नौ अधिकारोंका वडी विद्वत्तासे वर्णन कियागया हैं। यद्यपि जीव आदि अधिकारोंमें जीव आदिके स्वरूपका ग्रंथकारने वर्णन किया है परंतु उनका लक्ष्य प्रत्येक अधिकार और समस्तग्रंथमें यही रहा है कि शुद्ध आत्मा उपादेय है और सब पदार्थ हेय है एवं स्वस्वरूपका ध्यानही योगसार है इसीलिये इसका नाम भी योगसार रक्खा है तथा यह ग्रंथ अत्यंत गहन है हमारा विश्वास है ज्यों २ इसका मनन परिशीलन किया जायगा त्यों त्यों इसमें वचनागोचर गंभीरता प्रकट होती जायगी और आत्मस्वरूपके खोजियोंके हृदयमें एक विलक्षण ही शांतिका स्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

ग्रंथकर्ता।

इस अनुपम ग्रंथके कर्ता अध्यात्मरसके अनुभवी परम विद्वान यतिराज अमितगति हैं। उक्तनामके दो यतिराज होगये है एकतो मुंजराजाके राज्यकाल विक्रमसंवत् १०५० में सुभाषितरत्नसंदोह धर्मपरीक्षा आदि ग्रंथोंके कर्ता महात्मा माधवसेन आचार्यके शिष्य प्रसिद्ध विद्वान अमितगति और दूसरे उन्हींके गुरुके गुरु आचार्य नेमिषेणके गुरु। इसीवातका उल्लेख सुभाषितरत्नसंदोहके कर्ता यतिराज अमितगतिने सुभाषितरत्नसंदोहकी प्रशस्तिमें इसप्रकार किया है—

आशीर्विध्वस्तकंतोर्विपुलशमभृत: श्रीमत: कांतिकीर्तेः सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्य:।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोप: श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिश्शेषसंगः॥
अलंघ्यमहिमालयो विपुलसत्त्ववान् रत्नधिर्वरस्थिरगभीरतो गुणमणिः पयोवारिधि:।
समस्तजनतासतां श्रियमनश्वरीं देहिनां सदामलजलच्युतो विवुधसेवितो दत्तवान्॥
तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमय: शिष्य: सतामग्रणी: श्रीमन्माथुरसंघसाधुतिलकः श्रीनेमिषेणोऽभवत्।
शिष्यस्तस्य महात्मनः शमयुतो निर्धूतमोहद्विप: श्रीमान् माधवसेनसूरिरभवत् क्षोणीतले पूजित:॥
कोपारातिविघातकोऽपि सकृप: सोमोप्यदोपाकरो जैनोऽप्युग्रतरस्तपो गतभयो भीतोऽपि संसारतः।
निष्कामोऽपि समिष्टमुक्तिवनितायुक्तोऽपि यः संयतः सत्यारोपितमानसो धृतवृषोऽप्यर्च्यप्रियोऽप्यप्रिय:॥
दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजवंधोः शमदमयममूर्तेश्चंद्रशुभ्रोरुकीर्तेः।
अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चिद्विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रं॥

अर्थात् शास्त्रके पारंगत आचार्य देवसेनके शिष्य आचार्य अमितगति हुये जो मुनियोंके मस्तकाभरण और समस्त परिग्रहसे रहित थे। अचिंत्यमहिमाके भडार आचार्य अमितगतिके शिष्य माथुरसंघके तिलक आचार्य श्रीनेमषेण हुये। उनके शिष्य प्रसिद्ध विद्वान आचार्य माधवसेन और उनके अद्वितीय शिष्य सुभाषितरत्नसदोहके कर्ता अमितगति हुये।

यही वात अमितगति श्रावकाचारकी प्रशस्तिमें भी माधवसेनके शिष्य अमितगतिने लिखी है परंतु परमोपकारी योगसारके कर्ता

१—"अभूत्समो यस्य न तेजसेन स शुद्धवोधोऽजनि **देवसेनः**। मुनीश्वरो निर्जितकामसेन पादारविन्दप्रणमद्रसेन॥
दोषाधकारपरिमर्दनवद्धकक्ष्यो भूतस्ततो**ऽमितगति**र्भुवनप्रकाशः। तिग्मद्युतेरिव दिन कमलाववोधी मार्गप्रबोधनपरो बुधवंदनीय·॥
विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्य श्री**नेमिषेणो**ऽजनि तस्य शिष्य। श्री**माथुरान्**कनभ शशाक सदा विधूतार्हततत्त्वशंक·॥
माधवसेनोऽजनि महनीय सयतनाथो जगति जनीय। जीवनराशेरिव मणिराशी रम्यतमोऽतोऽखिलमितिराशि·॥
तस्मादजायत नयादिव साधुवाद शिष्टार्चितो**ऽमितगति**र्जगति प्रतीत॥

अमितगतिने केवल ग्रथके अंतमें अपने नाम श्रवणकरानेकी ही कृपाकी है गुरुपरंपरा और अपने काल आदिके विषयमें कुछ भी उल्लेख नहि किया है इसलिये इस शंकाका समाधान होना कि योगसारके कर्ता देवसेनके शिष्य अमितगति हैं? किंवा माधवसेनके शिष्य अमितगति हैं? हमारेलिये सर्वथा काठिन ही जान पडता है परंतु लेखनशैलीसे इसवातका हम अवश्य अनुमान करसक्ते हैं कि योगसार ग्रंथके निर्माणका श्रेय देवसेनके शिष्य यतिराज अमितगतिको ही होना चाहिये। क्योंकि माधवसेन आचार्यके शिष्य अमितगतिके जो सुभाषितरत्नसदोह धर्मपरीक्षा अमितगतिश्रावकाचार सामायिक पाठ आदि ग्रंथ हमारे दृष्टिपथ हुये हैं उनसवकी लेखनशैली अत्यंतसरल प्रासाद गुणकोंलिये हुये है परंतु योगसारकी लेखनशैलीमें शाब्दिक गांभीर्य न होकर भी आर्थिक गाभीर्य वहुत ऊंचे दर्जेका है तथा हमारे इस अनुमानके सत्य निकलनेपर देवसेनके शिष्य अमितगतिका स्थितिकाल भी मुंजराजाके राज्यकालसे १००-२०० वर्ष प्रथम अर्थात् विक्रम सवत ८००-९०० शताद्बी निश्चित करलिया जासकता है। वस! इसके सिवाय हमारे पास कोई पुष्टप्रमाण नहीं है और न कोई इतिहासविपयक विशेष सामग्री है जो हम योगसार ग्रंथके कर्ता यतिराज अमितगतिके समय आदिका निस्संदेह उल्लेख करसकें जिन महाशयोंके पास इतिहासविषयकी सामग्री हो उन्हे अवश्य यह वात विचारणीय है।

अतमें सामान्यनियमानुसार हमारी विद्वानोंसे यह प्रार्थना है कि हमसे यदि कहीं अर्थका अनर्थ किंवा विरुद्ध स्खलन हुई हो तो वे हमे सूचना दें ताकि हम उसे परमार्जित करदें क्योंकि यह ग्रंथ अतिगहन है हमें इसके लेखगांभीर्यका जैसा पता मिलना चाहिये वैसा नहीं मिल पाया है। तथा इस ग्रथका भाषार्थ एक ही ग्रंथके आधारसे लिखा गया है इसलिये ग्रंथकी दूसरी प्रतिसे कुछ हीनता हो तो वह भी कृपाकर सूचित करें।

विनीत

गजाधरलाल

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं निस्संगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं।
ब्रह्मप्राप्त्या परमकृत स्वेषु चात्मतिष्ठं नित्यानंदं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यं ॥ ९-८३ ॥

योगसारकी विषय सूची ।



योगसारके श्लोकोंकी अकारादि क्रमसे सूची।

२

३

५

११

१२



सनातनजैनग्रंथमाला ।

१६

श्रीमद्-अमितगति आचार्यविरचित

योगसार ।

(अध्यात्मतरंगिणी)

हिंदी-अनुवादसहित ।

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्वस्वभावोपलब्धये ।
स्वस्वभावमयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषं ॥ १ ॥

अर्थ-विविक्त-कर्मोंके संबंधसे रहित, अव्यय-समान अवस्थित, आत्मिक-स्वभावस्वरूप, बुद्ध, अविनाशी, पापरहित श्रीसिद्धपरमेष्ठीको मैं (ग्रथकार) अपने स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये नमस्कार करता हूं । भावार्थ-जो सिद्ध-परमात्मा, कर्मोंसे रहित होनेके कारण विविक्त हैं, चरमशरीरसे किंचित् ऊन परिमाणसे घट बढ नहि सकते इसलिये अव्यय-अवस्थित हैं, सम्यग्दर्शन आदि आत्मिक गुणस्वरूप होनेसे स्वस्वभावस्वरूप हैं, विद्वान् लोग उनके अनुपम बोधकी स्तुति और प्रशंसा करते हैं एवं समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं इसलिये बुद्ध, अविनाशी होनेसे ध्रुव और पापोंसे रहित होनेके कारण विकल्मष हैं ऐसे सिद्ध परमात्माको उनके स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये मैं ग्रंथकार नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

जीवाजीवद्वयं त्यक्त्वा नापरं विद्यते यतः।
तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं स्वस्वभावबुभुत्सया ॥ २॥

अर्थ–संसारमें सिवाय जीव और अजीवके दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जितने भर इंद्रियगोचर और अतींद्रिय पदार्थ हैं वे सब जीव अजीवके ही अंतर्गत हैं इसलिये स्वस्वरूपज्ञानकी अभिलाषासे जीव अजीव दोनोंका लक्षण जानना उचित है। भावार्थ–जिसमें जानने और देखनेकी शक्ति मौजूद हो वह जीव और जिसमें यह शक्ति विद्यमान न हो वह अजीव कहा जाता है तथा यह लोक जीव अजीवमय ही है जीव अजीवसे भिन्न नहीं इसलिये इन जीव और अजीव दोनों पदार्थोंके लक्षण स्वस्वरूपके ज्ञानकेलिये अवश्य जानने चाहिये। क्योंकि–

यो जीवाजीवयोर्वेत्ति स्वरूपं परमार्थतः। सोऽजीवपरिहारेण जीवतत्त्वे निलीयते ॥ ३ ॥
जीवतत्त्वविलीनस्य रागद्वेषपरिक्षयः। ततः कर्माश्रयच्छेदस्ततो निर्वाणसंगमः ॥ ४ ॥

अर्थ–जो महानुभाव वास्तविक रीतिसे जीव और अजीवके स्वरूपको जानता है वह अजीव तत्त्वको छोडकर जीवतत्त्वमें लीन होता है जीवतत्त्वमें लीन होनेपर उसके राग और द्वेषका सर्वथा नाश होजाता है राग द्वेषके नष्ट होजाने पर अजीवकर्म भी नहिं रहते और समस्त कर्मोंके नाश हो जानेपर उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३–४ ॥ भावार्थ–लोग कांचको देखकर रत्नकी ओर और पीतलको देखकर सुवर्णकी ओर ऋजु होते हैं तो जिसप्रकार रत्नको उत्कृष्ट मानकर उसके अपनानेमें कांच और रत्न दोनोंका ज्ञान कार्यकारी है और सुवर्णको उत्तम मान उसके अपनानेमें पीतल और सुवर्ण दोनोंका ज्ञान उपयोगी है विना कांच और पीतलके जाने रत्न और सुवर्ण दोनों पदार्थ उत्कृष्ट नहिं मालूम पड सकते उसी प्रकार अजीव पदार्थको जानकर और उसके गुणोंको पहिचान कर ही जीव पदार्थकी ओर ऋजु हुआ जाता है इसलिये जीव पदार्थमें लीनता होनेकेलिये जीव अजीव दोनोंही पदार्थोंका ज्ञान कार्यकारी है विना अजीव पदार्थको जाने जीव पदार्थ अपनाया नहिं जा सकता और जो मनुष्य जीवतत्त्वमें लीन होजाता है उसके राग द्वेष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं रागद्वेषके नाशसे कर्मोंका भी बंध नहिं होता क्षयही होता है और समस्त कर्मोंके क्षयसे उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि स्वस्वभावके जाननेकेलिये जीव अजीव दोनोंही पदार्थोंका ज्ञान कार्यकारी है ॥ ३–४ ॥

परद्रव्यवहिर्भूतं स्वस्वभावमवैति यः।
परद्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—जो महानुभाव आत्मिक स्वभावको अन्यद्रव्योंसे वहिर्भूत-भिन्न मानता है उसै परद्रव्योंमें न कमी द्वेष होता है और न राग ही। भावार्थ—जबतक यह जीव अपने स्वभावको नहिं पहिचानता मोहसे मूढ हो परद्रव्योंको ही अपनाता है तबतक स्त्री पुत्र आदि पदार्थ मेरे हैं ऐसा मानकर उनसे राग करता है और वैरी सर्प कांटे आदि पदार्थोंको दुःखदायी जानकर उनसे द्वेष करता है परंतु जिस समय इसै यह ज्ञान होजाता है कि मैं ज्ञानदर्शन आदि स्वस्वभावस्वरूप हूं यह मेरा स्वभाव परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है-परद्रव्य कभी मेरे निज नहिं हो सकते उससमय वह स्त्री पुत्र आदिको हितकारी जान न कभी उनमें राग करता है और न वैरी सर्प आदि पदार्थोंको अहितकारी जान उनमें द्वेष करता है किंतु दोनोंमें समताभाव रखता है ॥ ५ ॥

उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मनः।
द्विविधो दर्शनज्ञानप्रभेदेन जिनाधिपैः ॥ ६ ॥

अर्थ—आत्माका लक्षण उपयोग (चेतनाके साथ साथ रहने वाला आत्माका परिणाम) है तथा वह दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है ॥ ६ ॥

चतुर्धा दर्शनं तत्र चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधेः।
केवलस्य च विज्ञेयं वस्तुसामान्यवेदकं ॥ ७ ॥

अर्थ—चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका है और वह पदार्थके सामान्य आकारको ग्रहण करता है। भावार्थ—जिसके द्वारा पदार्थका विशेष ग्रहण न होकर सामान्य ग्रहण हो वह दर्शनोपयोग है और उसके चार भेद हैं। केवल चक्षुसे पदार्थका सामान्य ग्रहण होना चक्षुर्दर्शन, नेत्रके सिवाय शेष इंद्रियोंसे सामान्यग्रहण होना अचक्षुर्दर्शन, अवधिज्ञानसे पूर्व अवधिकोलिये केवल रूपी पदार्थोंका सामान्य ग्रहण होना अवधिदर्शन और मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंका अवलोकन केवलदर्शन है ॥ ७ ॥

मतिः श्रुतावधी ज्ञाने मनःपर्ययकेवले। सज्ज्ञानं पंचधाऽवाचि विशेषाकारवेदनं ॥ ८ ॥
मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगाज्ञानभेदतः। मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच सम्यग्ज्ञान, कुमति कुश्रुति और कुअवधिज्ञान ये तीनप्रकारके मिथ्याज्ञान मिलकर आठप्रकारका ज्ञानोपयोग है। भावार्थ—मूलमें ज्ञानोपयोगके दो भेद हैं एक सम्यग्ज्ञानोपयोग और दूसरा मिथ्याज्ञानोपयोग। मतिज्ञान आदिके भेदसे सम्यग्ज्ञान पांच प्रकारका है और मिथ्याज्ञानके कुमति आदि तीन भेद हैं। जो ज्ञान इंद्रिय और मन दोनोंकी सहायतासे हो वह मति, केवल मनकी सहायतासे होने वाला श्रुत, अवधिकोलिये केवल रूपी पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला अवधि, परके मनमें स्थित केवल रूपी पदार्थोंका जाननेवाला मन पर्यय और समस्त रूपी अरूपी पदार्थोंको मय उनकी समस्त गुण और पर्यायोंके जाननेवाला केवलज्ञान है। सच्चे झूठेका कुछ भी विवेक न कर पांच इंद्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान कुमतिज्ञान, केवल मनसे होनेवाला कुश्रुतज्ञान और अवधिकोलिये केवलरूपी पदार्थोंका कुज्ञान कुअवधिज्ञान कहा जाता है। एवं इन समस्त ज्ञानोंमें वस्तुका विशेषाकार प्रतिफलित होता है॥ ८–९ ॥

उदेति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनं।
कर्मणः क्षयतः सर्वं क्षयोपशमतः परं ॥ १० ॥

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकारके उपयोगोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन तो कर्मके क्षयसे होते हैं और मति आदि शेष ज्ञान वा चक्षुदर्शन आदि शेष दर्शन कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं। भावार्थ—कर्मके नाशका नाम क्षय है और वर्तमान निषेकमें (एकसमय उदयमें आनेवाले परमाणुओंके समूहमें) सर्ववाती स्पर्धकोंका (वर्गणाओंके समूहका) उदयाभावी क्षय (विना फलदियेही आत्मासे कर्मोंका संबंध छूट जाना) देशघाती स्पर्धकोंका उदय और आगामिकालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम होने रूप कर्मकी अवस्थाको क्षयोपशम कहते हैं। ज्ञानका विरोधी कर्म ज्ञानावरण और दर्शनका विरोधी दर्शनावरण कर्म है जबतक इन कर्मोंका संबंध आत्मासे रहता है तबतक ये ज्ञान और दर्शनको नहिं होने देते। किंतु इनकी क्षय वा क्षयोपशम अवस्थासे ज्ञान दर्शनकी प्रकटतामें कोई प्रकारका व्या-

आत्मा के केवलज्ञान आदि और दर्शनावरणके चक्षुर्दर्शनावरण आदि भेद हैं। आत्मा-
घात नहिं होता। ज्ञानावरण कर्मके मतिज्ञानावरण आदि और दर्शनावरणके चक्षुर्दर्शनावरण आदि भेद हैं। आत्मा-
का केवलज्ञानगुण अपने विरोधी केवलज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे और केवलदर्शन केवलदर्शनावरण कर्मके क्षयसे
होता है इसलिये केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्माके क्षायिकभाव हैं। किंतु इनसे भिन्न मतिज्ञान आदि ज्ञान और
चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन अपने विरोधी मतिज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंके
क्षयोपशमसे होते हैं इसलिये ये आत्माके क्षायोपशमिक भाव कहे जाते हैं ॥ १० ॥

यौगपद्येन जायेते केवलज्ञानदर्शने।
क्रमेण दर्शनं ज्ञानं परं निश्शेषमात्मनः ॥ ११ ॥

अर्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो तो एकसाथ होते हैं परंतु इनसे भिन्न जितने ज्ञान और दर्शन हैं—क्रमसे
होते हैं वहा दर्शनोंके वाद ही ज्ञान होते हैं ऐसा नियम है। भावार्थ—जवतक ज्ञान और दर्शन दूसरोंके अधीन रहते
हैं तबतक वे युगपत् नहिं होसकते परंतु अधीनताके दूर होते ही वे एक साथ होने लगते हैं। मतिज्ञान आदि ज्ञान
और चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन अपने विरोधी कर्मोंके परतंत्र हैं इसलिये वहां दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होते हैं यह नियम है
अर्थात् छद्मस्थ (केवलज्ञान और केवलदर्शनके सिवा अन्य ज्ञान और दर्शनके धारक) मनुष्य पहिले देखते हैं तब प-
दार्थोंका ज्ञान करते हैं परंतु केवलज्ञान और केवलदर्शन कर्मोंके आधीन नहीं-स्वतंत्र हैं इसलिये वे एकही साथ होते हैं-
केवली भगवान पदार्थोंका दर्शन और ज्ञान एकही साथ करते हैं ॥ ११ ॥

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनैः सम्यक्त्वसमवायतः ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वके संबंधसे ज्ञान, मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्वके संबंधसे सम्यग्ज्ञान होता है। अर्थात् जबतक आ-
त्मामें मिथ्यादर्शनकी सत्ता है तबतक ज्ञान मिथ्याज्ञान रहता है परंतु ज्योंही सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ कि ज्ञान तत्काल
सम्यग्ज्ञानरूप परिणत होजाता है ॥ १२ ॥

वस्त्वन्यथापरिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यतः।

तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः कर्मारामोदयोदकं ॥ १३ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा वस्तुका अन्यथा ज्ञान हो औरका और ही प्रतिभासित हो-उसै मिथ्यात्व मिथ्यादर्शन कहते हैं वह कर्मरूपी आराम (बगीचा) के उदयमें जलस्वरूप है अर्थात् जिसप्रकार उपवनके वृक्षोंके ऊगने बढ़ने आदि कार्योंमें कारण जल है जलसे वे उदित होते हैं उसीप्रकार कर्मोंके उदयमें कारण मिथ्यात्व है मिथ्यात्वके कारण नियमसे कर्मोंका उदय आत्मामें होता है ॥ १३ ॥

उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकं ।
जातं सांशयिकं चेति मिथ्यात्वं तत्त्रिधा विदुः ॥ १४ ॥

अर्थ–गृहीतमिथ्यात्व अगृहीतमिथ्यात्व और सांशयिकमिथ्यात्व ये तीन प्रकारके मिथ्यात्व हैं वे दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्तिमें कारण दर्शनमोहनीय कर्म है। भावार्थ–जो मिथ्यात्व ग्रहण किया हुआ हो अर्थात् पहिलेसे न रहनेपर भी कुगुरु आदिके उपदेशसे उदित हुआ हो वह गृहीतमिथ्यात्व है। जो गृहीत न हो वह अगृहीतमिथ्यात्व है (इसका उदय स्थावर आदि जीवोंमें रहता है) और गुरु आदि सग्रंथ हैं वा निर्ग्रंथ इत्यादि संदेहरूप मतिको सांशयिकमिथ्यात्व कहते हैं तथा दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे इनकी उत्पत्ति होती है ॥ १४ ॥

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्वभावितः ।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनकमोहितः ॥ १५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार धतूरेका खानेवाला मनुष्य कंकर पत्थर भी सुवर्ण समझता है उसीप्रकार जो जीव मिथ्यात्वसे मूढ़ है-मिथ्यादृष्टि है वह अतत्त्वको भी तत्त्व मानने लगता है उसै तत्त्व अतत्त्वका जराभी बोध नहिं होता ॥ १५ ॥

यथा वस्तु तथा ज्ञानं संभवत्यात्मनो यतः ।
जिनैरभाणि सम्यक्त्वं तत्क्षमं सिद्धिसाधने ॥ १६ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा पदार्थ जैसा है उसका उसीरूपसे ज्ञान होता है जराभी ज्ञानमें उसके स्वरूपका हेरफार नहिं

होता वह सम्यक्त्व है और वह मोक्षकी सिद्धिमें समर्थ कारण है-सम्यग्दृष्टि जीवको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है मिथ्यादृष्टिको नहीं ॥ १६ ॥

मिथ्यात्वंमिश्रसम्यक्त्वसंयोजनचतुष्टये । क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते सप्तधा मोहकर्मणि ॥ १७ ॥
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं क्षायोपशमिकं त्रिधा । तत्रापि क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परं ॥१८॥

अर्थ-मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व और अनंतानुबंधी क्रोध अनंतानुबंधी मान अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ ये सात प्रकृति (भेद) मोहनीयकर्मकी हैं। जिससमय इन सातो प्रकृतियोंका क्षय होजाता है उस समय क्षायिकसम्यक्त्व, सातो प्रकृतियोंका उपशम होजाता है औशमिकसम्यक्त्व और इन्हीं सातो प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे अर्थात् छै प्रकृतियोंके अनुदय और सम्यक्त्व प्रकृति नामक मिथ्यात्वके उदयसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है इसप्रकार क्षायिक औपशमिक और क्षायोपशमिकके भेदसे सम्यक्त्व तीन प्रकारका है एवं यहां क्षायिकसम्यक्त्व तो साध्य है और औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उसके साधन हैं औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके वाद नियमसे क्षायिक सम्यक्त्वकी प्रकटता होती है। भावार्थ-मिथ्यात्व आदि प्रकृतियोंके उपशम आदि औपशमिक आदि सम्यक्त्वोंमें कारण हैं जवतक इनके उपशम आदि नहिं होते तवतक औपशमिक आदि सम्यक्त्व हो नहिं सकते। जिसके उदयसे आप्तभापितमार्गसे पराङ्मुखता, तत्त्वार्थश्रद्धानमें निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता हो वह मिथ्यात्वप्रकृति है। जव शुभ परिणामोंके प्रभावसे मिथ्यात्वका रस हीन होजाता है और वह शक्तिके घटनेसे असमर्थ होकर आत्माके श्रद्धानको नहिं रोक सकता अर्थात् सम्यक्त्वको विगाड नहिं सकता किंतु चल मल आदि दोप उत्पन्न करदेता है तव जिसका उदय होता है वह सम्यक्त्वप्रकृति है और जिसके उदयसे तत्त्वोंके श्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव दही गुड़के मिलेहुयेस्वादके समान मिलेहुये हों उसे सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं एवं जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घातैं वे अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ हैं ॥ १७-१८ ॥

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः ।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥ १९ ॥

अर्थ-आत्मा ज्ञानप्रमाण है-जितना प्रमाण ज्ञानका है उतना ही आत्माका है और ज्ञान ज्ञेय (जाननेके योग्यप-

दार्थ) प्रमाण है तथा वह ज्ञेय लोकालोक है इसलिये इसरीतिसे ज्ञान सर्वगत सर्वव्यापक है। भावार्थ–ग्रंथकारने इस श्लोकसे ज्ञानकी सर्वव्यापकताकी सिद्धिकी है क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है और उसके भेद लोकाकाश और अलोकाकाश हैं–ज्ञान लोकाकाश और अलोकाकाशको पूर्णरूपसे जानता है इसलिये इस युक्तिसे ज्ञान सर्वगत है तथा गुण और गुणी समान अंशोंमे रहते हैं इस युक्तिसे आत्माको भी ज्ञानप्रमाण कहा है इसलिये ज्ञानके सर्वगत होनेसे आत्मा भी सर्वगत सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं ज्ञेयं वापि प्रजायते ।
लक्ष्यलक्षणभावोऽस्ति तदानीं कथमेतयोः ॥ २० ॥

अर्थ–यदि ज्ञानको आत्मासे अधिक मानलिया जायगा अथवा ज्ञेयको अधिक स्वीकार कर लिया जायगा तो ज्ञान और आत्माका लक्ष्यलक्षणभाव--गुणगुणीस्वभाव न बन सकैगा। भावार्थ–यह बात ऊपर बतलादी गई है कि गुण अपने गुणीके समान प्रदेशोंमें व्याप्त रहता है यह कभी नहि हो सकता कि वह गुणीके प्रदेशोंसे अधिक स्थानपर रहै अथवा गुणीके थोड़ेसे प्रदेशमें रहै और शेष प्रदेश गुणशून्य पड़े रहैं आत्मा गुणी, और ज्ञान गुण है यह ज्ञान आत्माका गुण तभी हो सकता है जब कि वह जितने आत्माके प्रदेश हैं उन्हींमें रहै न उनके कम प्रदेशोंमें रहै और न आत्मक्षेत्रसे अधिक क्षेत्रमें रहै यदि आत्मक्षेत्रसे अधिक वा कम क्षेत्रमें रहैगा तो वह कभी आत्माका गुण-लक्षण नहिं हो सकता और इस रीतिसे आत्मा और ज्ञानका गुणगुणीभाव नहिं बन सकता तथा ज्ञेयको भी आत्माके प्रमाण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यदि ज्ञेयको अधिक माना जायगा तो ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण माननेसे ज्ञान भी अधिक स्वीकार करना पड़ेगा इसलिये इसरीतिसे फिर भी आत्मा और ज्ञानका गुण गुणीभाव न सिद्ध हो सकैगा ॥ २० ॥

क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीरमिंद्रनीलं स्वतेजसा ।
ज्ञेयाक्षिप्तं तथा ज्ञेयं ज्ञानं व्याप्नोति सर्वतः ॥ २१ ॥

अर्थ--जिसप्रकार दुग्धमें पड़ा हुआ इद्रनीलमणि अपनी प्रभासे समस्त दुग्धको व्याप्त करलेता है-उससमय दुग्ध नीलाही नीला जान पड़ने लगता है उसीप्रकार ज्ञेय-पदार्थोंको विषय करलेनेवाला ज्ञान भी अपनी प्रभासे समस्त पदा-

थोंको व्याप्त करलेता है-सबको जानता है । भावार्थ-एक चोडे वर्तनको दूधसे भर दीजिये और उसमें इद्रनीलमणि डाल दीजिये तो वर्तनके एक देशमें पड़ा हुआ भी वह इंद्रनीलमणि अपनी तीक्ष्णप्रभासे जिसप्रकार समस्त दूधको व्याप्त करलेता है उसीप्रकार यद्यपि लोक और अलोक अनंत हैं और ज्ञान जहां जहां आत्मप्रदेश हैं वहीं वहीं है तथापि वह अपने चमत्कारसे सबको विषय करता है--समस्त पदार्थोंको जानता है ॥ २१ ॥

चक्षुर्गृह्णद्यथारूपं रूपरूपं न जायते ।
ज्ञानं जानत्तथा ज्ञेयं ज्ञेयरूपं न जायते ॥ २२ ॥

अर्थ-जिसप्रकार रूपको ग्रहण करनेवाला नेत्र रूपस्वरूप नहिं होजाता-अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है उसीप्रकार यद्यपि ज्ञान पदार्थोंको जानता है परंतु वह पदार्थस्वरूप नहिं होजाता--सदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है। भावार्थ-यदि यहांपर कोई ऐसी शंका करै कि जब ज्ञान समस्त पदार्थोंको जानता है तो वह पदार्थके आकार होना चाहिये वा पदार्थमें जो जड़त्व आदि धर्म हैं वे ज्ञानमेंभी आना चाहिये । उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है अर्थात् नेत्र जिसप्रकार छोटे बड़े पदार्थोंको देखता है परंतु उसके आकार नहि होता और यदि वह शीत पदार्थको देखता है तो शीतस्वरूप और उष्णपदार्थको देखता है तो उष्णस्वरूप भी नहिं होता उसीप्रकार ज्ञान भी जैसे पदार्थको देखता है उसके आकार नहिं होता और न उसमें दृश्य पदार्थके गुण आते हैं वह सदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है ॥ २२ ॥

दवीयांसमपि ज्ञानमर्थं वेत्ति निसर्गतः ।
अयस्कांतः स्थितं दूरे नाकर्षति किमायसं ॥ २३ ॥

अर्थ-जिसप्रकार चुंबक पत्थरका यह स्वभाव है कि वह दूर पर स्थित लोहको अपने पास खींच लेता है उसीप्रकार ज्ञानका भी यह स्वभाव है कि वह दूर भी स्थित पदार्थको स्पष्टरूपसे जान लेता है। भावार्थ-यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञान कहीं रहता है और ज्ञेय कहीं, फिर ज्ञान इतनी दूरसे ज्ञेयको कैसे जान सकता है ! क्योंकि ज्ञानका चुंबक पत्थरके समान स्वभाव है अर्थात् चुंबक पत्थर जिसप्रकार समीपवर्ती और दूरवर्ती दोनों पदार्थोंको अपनी ओर खींचता है उसीप्रकार ज्ञान भी समीपवर्ती दूरवर्ती दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानता है ॥ २३ ॥

ज्ञानमात्मानमर्थं च परिच्छिंते स्वभावतः ।
दीप उद्योतयत्यर्थं स्वस्मिन्नान्यमपेक्षते ॥ २४ ॥

अर्थ–जिसप्रकार दीपकका यह स्वभाव है कि वह स्व और पर पदार्थोंके प्रकाशनमें अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहि करता-सहायता नहिं चाहता उसीप्रकार ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह अपनेको भी जानता है और पर पदार्थोंको भी–स्वपर पदार्थोंके ज्ञानमें अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा नहिं करता । भावार्थ–यहां पर यह शंका हो सकती है कि यदि पदार्थोंको ज्ञान जानता है तो ज्ञानको कोन जानता है ? यदि कहा जाय कि उसै अन्य ज्ञान जानता है तो वहांपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि उस ज्ञानको कोन जानता है यदि वहां भी यह कह दिया जाय कि अन्य ज्ञान उसै जानता है तो फिर भी वहां यह शंका हो सकती है उसै कौन जानता है इस रीतिसे ज्ञानके स्वरूपको नष्ट करनेवाला अंनवस्था[1] दोष आसक्ता है और ज्ञान पदार्थका स्वरूप सिद्ध नहि हो सकता। यदि यह उत्तर दिया जाय कि अनेक ज्ञान मान कर अंतमें एक ऐसा ज्ञान मानलेंवें कि वह पूर्व ज्ञानको भी जनावेगा और अपनेको भी जानेगा तव प्रथम ही ज्ञानमें स्वपरके जाननेकी शक्ति स्वीकार करलेनी चाहिये व्यर्थ अनत ज्ञान माननेकी क्या आवश्यकता ? इसी आशयसे ग्रथकारने प्रदीपका दृष्टांत देकर ज्ञानको स्वपरप्रकाशक वतलाया है अर्थात् जिसप्रकार विना किसी अन्य पदार्थकी सहायताके दीपक स्व और परको प्रकाशित करता है उसीप्रकार ज्ञान भी विना किसी अन्य पदार्थकी सहायताके स्व और परको स्पष्टरूपसे जानता है ॥ २४ ॥

क्षायोपशमिकं ज्ञानं कर्मापाये निवर्तते ।
प्रादुर्भवति जीवस्य नित्यं क्षायिकमुज्ज्वलं ॥ २५ ॥

अर्थ–जिससमय ज्ञानावरणकर्मका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय क्षायोपशमिक ज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है-क्षायोपशमिक ज्ञानकी आत्मामें सत्ता नहिं रहती और अविनाशी अत्यंत देदीप्यमान क्षायिकज्ञान प्रगट हो जाता है२५

१ [अप्रामाणिकपदार्थपरपरापरिकल्पनाविश्रात्यभावोऽनवस्था] अप्रामाणिक अनेक पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना कल्पनाका अत न आना अनवस्था दोष है ।

संतमर्थमसंतं च कालत्रितयगोचरं ।
अवैति युगपज्ज्ञानमव्याघातमनुत्तमं ॥ २६ ॥

अर्थ—यह क्षायिक ज्ञान भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंके विद्यमान अविद्यमान दोनों प्रकारके पदार्थोंको एक साथ जानता है अव्याघात है-किसीसे इसका व्याघात-रुकना वा नाश नहिं होता और अनुत्तम है सिवाय इसके संसारमें कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं ॥ २६ ॥

असंतस्ते मता दक्षैरतीता भाविनश्च ये ।
वर्तमानाः पुनः संतस्त्रैलोक्योदरवर्तिनः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पदार्थ अतीत-नष्ट होगये और भावी-होनेवाले हैं वे अविद्यमान पदार्थ हैं तथा ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकमें जो वर्तमानकालमें मोजूद हैं वे विद्यमान पदार्थ हैं ॥ २७ ॥

अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे स्वे काले यथाखिलाः ।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलं ॥ २८ ॥

अर्थ—भूत और भावी समस्त पदार्थ जिसरूपसे अपने अपने कालमें वर्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूपसे जानता है । भावार्थ—जो पदार्थ नष्ट हो गये वे अपने कालमें जिसरूपसे विद्यमान थे और जो होने वाले हैं वे अपने कालमें जिसरूपसे विद्यमान रहेंगे उसरूपसे और वे जिसरूपसे इससमय हैं उस रूपसे भी उन्हें केवलज्ञान जानता है । भूत भावी और वर्तमान पदार्थोंकी ऐसी कोई भी पर्याय नहीं जिसै केवलज्ञान न जान सकै सबको वह स्पष्ट रूपसे जानता है ॥ २८ ॥

सर्वेषु यदि न ज्ञानं यौगपद्येन वर्तते । तदैकमपि जानाति पदार्थं न कदाचन ॥ २९ ॥
एकत्रापि यतोऽनंताः पर्यायाः संति वस्तुनि । क्रमेण जानता सर्वे ज्ञायंते कथ्यतां कदा ॥३०॥

अर्थ-ज्ञान यदि समस्त पदार्थोंको एक साथ न जानेगा तो वह एक पदार्थको भी कभी नहिं जान सकता क्योंकि

एक पदार्थमें भी अनंती पर्यायें हैं यदि ज्ञान उन्हें भी क्रम क्रमसे जाने तो कैसे सबोंको जान सकता है? कदापि नहीं। भावार्थ–एक पदार्थ भी अनंती पर्यायोंका पुंज है और उसका पूर्णरूपसे ज्ञान उसीसमय हो सकता है जब कि उसकी समस्त पर्यायोंको जान लिया जाय यदि यह माना जाय कि ज्ञान एकसाथ समस्त पदार्थोंको नहि जान सकता तो वह एक पदार्थको भी एक साथ नहिं जान सकेगा क्योंकि जिसप्रकार एक साथ समस्त पदार्थोंका जानना कठिन है उसीप्रकार एक पदार्थकी अनंती पर्यायोंका भी एक साथ जानना कठिन है अर्थात् यदि वह एक पदार्थकी पर्यायोंको भी क्रम क्रमसे जानेगा तो पर्याय अनंती हैं उन सबको समाप्त कर सकैगा यह निश्चय नहीं और जब तक वह उस पदार्थकी समस्त पर्यायोंको न पूर्ण कर सकैगा तब तक उस पदार्थका पूर्ण रूपसे ज्ञानभी वीचमें लटकता रह जायगा अथवा मति आदि जिसप्रकार थोड़ी २ पर्यायोंको ही विषयकर पदार्थको जना देते हैं उसीप्रकार केवल ज्ञान भी थोडी २ पर्यायोंको विषयकर पदार्थोंको जनावेगा इस रीतिसे केवल और मति आदि ज्ञान एकसे मानने पडेंगे। इसलिये यह अवश्य मानना पडेगा कि यदि ज्ञान अनंत पर्यायोंके धारक पदार्थको एक साथ जानता है तो वह समस्त पदार्थोंको भी अवश्य एकसाथ जानता है ॥ २९-३० ॥

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं यद्रूपं परमात्मनः।
श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो नाभव्यो भववर्धकः ॥ ३१ ॥

अर्थ–घातिया कर्मोंके नाशसे जो परमात्माका स्वरूप प्रकट होता है उसे भव्य ही मानता है और भक्तिपूर्वक उसका श्रद्धान करता है अभव्य नहीं, क्योंकि वह भववर्धक-अनादि अनंत काल तक संसारमें रुलनेवाला होता है। भावार्थ–जिसको मोक्ष प्राप्ति हो सकै वह भव्य और जिसै न हो सकै वह अभव्य कहा जाता है जिस समय ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय आर्हंत्यविभूति प्रकट हो जाती है और घातियाकर्मोंके नाशकरनेसे आत्मा परमात्मा हो जाता है। इस परमात्माको भव्य तो मानता है और भक्तिपूर्वक उसपर श्रद्धान करता है अभव्य नहीं किंतु जिसप्रकार पित्तके बुखारवालेको मीठा भी दूध कडुवा लगता है उसीप्रकार अभव्यको सब वातें विपरीत भासने लगती हैं और इसीलिये उसका कभी संसार नहिं छूटता सदा वह इस चतुर्गतिरूप संसारमें सर्वत्र रुलता ही फिरता है ॥ ३१ ॥

यत्सर्वार्थवरिष्ठं यत्क्रमातीतमतींद्रियं ।
श्रद्धत्यात्मनो रूपं स याति पदमव्ययं ॥ ३२ ॥

अर्थ—आत्माका स्वरूप समस्तपदार्थोंमें उत्कृष्ट है क्रमातीत है अतींद्रिय है इस रूपसे जो श्रद्धान करता है वही अविनाशी पद मोक्षको प्राप्त होता है । भावार्थ—संसारमें कोई भी पदार्थ आत्माकी तुलना नहिं करता इसलिये तो यह समस्त पदार्थोंमें उत्तम है । सब पदार्थोंको एक साथ स्पष्टरूपसे जानता है इसलिये क्रमातीत है । और इंद्रियोंके गोचर नहीं इसलिये अतींद्रिय है इसरूपसे जो आत्माके स्वरूपका श्रद्धान करता है उसै अविनाशी पद-मोक्षपद प्राप्त होता है ॥

निर्व्यापारीकृताक्षस्य यत्क्षणं भाति पश्यतः ।
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं शुद्धं संवेदनात्मकं ॥ ३३ ॥

अर्थ—इंद्रियोंके व्यापारको रोककर अंतरंगकी ओर देखनेवाले मनुष्यके हृदयमें जो क्षणभरकेलिये शुद्ध और संवेदनात्मक स्वरूप स्फुरायमान होने लगता है वह आत्माका स्वरूप है । भावार्थ—जब तक नेत्र आदि इंद्रियोंका व्यापार हुआ करता है जब तक आत्मज्ञानकी ओर जरा भी ध्यान नहिं जाता समस्त जीव उन्हींके व्यापारोंमें ऊहापोह करते रहते हैं परंतु जिससमय बाह्य इंद्रियोंका व्यापार सर्वथा रुकजाता है और मन आत्माके ज्ञानमें सर्वथा लीन हो जाता है उस समय जो स्वसंवेदनरूप शुद्ध स्वरूप झलकने लगता है वह आत्माका स्वरूप है ॥ ३३ ॥

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्नीरागीभूतचेतनैः ।
निरवद्यश्रुतेनापि केवलेनैव बुध्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी आत्माके जानकार हैं और रागद्वेषसे रहित हो गये हैं वे तो केवलज्ञानसे ही आत्माके स्वरूपको जानते हैं और जो निर्दोष समस्त शास्त्रके ज्ञाता श्रुत केवली हैं वे श्रुतज्ञान से ही आत्माके स्वरूपको जानते हैं । भावार्थ—यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा केवलज्ञानसे ही जाना जाता है-उसै आत्माके विचारके जानकार सर्वथा रागद्वेषसे रहित महात्मा ही जानते हैं परंतु कथंचित् श्रुतकेवली भी उसके स्वरूपको जानते हैं क्योंकि आत्माका समस्त स्वरूप श्रुतज्ञानके अंतर्भूत है और जिसप्रकार श्रुतकेवली अन्य पदार्थोंको जानते हैं उसीप्रकार आत्मप-

दार्थ को भी भले प्रकार जानते हैं भेद इतना ही है कि केवलज्ञानसे आत्माका ज्ञान स्पष्ट रूपसे होता है क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान है और श्रुतकेवलीके ज्ञानसे अस्पष्टरूपसे होता है क्योंकि उनका ज्ञान परोक्षज्ञान है ॥ ३४ ॥

रागद्वेषापराधीनं यदा ज्ञानं प्रवर्तते ।
तदाभ्यधायि चारित्रमात्मनो मलसूदनं ॥ ३५ ॥

अर्थ-जिससमय ज्ञानकी प्रवृत्ति रागद्वेषके आधीन नहीं होती रागद्वेष सब नष्ट हो जाते हैं उससमय चारित्र होता है और उससे आत्माके समस्त कर्ममल दूर हो जाते हैं। भावार्थ-जब तक सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्तिमें राग द्वेषका अंश बना रहता है तब तक उस प्रवृत्तिको यथार्थ चारित्र नहिं कह सकते। किंतु राग द्वेषसे रहित ही सम्यग्ज्ञानकी प्रवृत्ति सम्यक्चारित्र कहलाती है और सम्यक्चारित्र द्वारा आत्मासे कर्ममलोंका सर्वथा नाश हो जाता है ॥ ३५ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म संगविवर्जनं ।
कषायविकले ज्ञाने समस्तं नैव तिष्ठति ॥ ३६ ॥

अर्थ-जबतक ज्ञान कषायोंसे दूषित रहता है तबतक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये पांच व्रत स्थित नहिं रह सकते ॥ ३६ ॥

हिंसत्वं वितथं स्तेयं मैथुनं संगसंग्रहः ।
आत्मरूपगते ज्ञाने निश्शेषं प्रपलायते ॥ ३७ ॥

अर्थ-परंतु जिससमय ज्ञान आत्माके स्वरूपके जाननेमें लीन हो जाता है राग द्वेषसे कलुषित नहिं रहता उससमय हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह पांचों पाप देखते देखते विलीन हो जाते हैं ज्ञानके आत्मस्वरूप होते ही पांचों पापोंका जरा भी पता नहिं लगता। भावार्थ-हिंसा झूठ चोरी आदि पांचों पापोंमें क्रोध मान माया लोभ कारण हैं जबतक ज्ञान इन कषायोंसे कलुषित रहता है तबतक अहिंसा आदिका उत्थान नहिं होता किंतु जिस समयसे कषाय नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान आत्मस्वरूपके जाननेमें लीन हो जाता है उस समय हिंसा आदि पाप लापता हो जाते हैं इसलिये पापोंके नाशार्थ क्रोध आदिको न कर अवश्य आत्माके स्वरूपका मनन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

चारित्रं दर्शनं ज्ञानमात्मरूपं निरंजनं ।
कर्मभिर्मुच्यते योगी ध्यायमानो न संशयः ॥ ३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्माका निर्दोप स्वरूप है जो योगी इस विशुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करता है वह अवश्य कर्मबंधसे मुक्त होजाता है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ३८ ॥

यः करोति परद्रव्ये रागमात्मपराङ्मुखः !
रत्नत्रयमयो नासौ न चारित्रचरो यतिः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो यति आत्मिक स्वरूपसे पराङ्मुख होकर परपदार्थोंमें अनुराग करता है-उन्हें अपनाता है वह कभी रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप नहिं होसकता और वह किसीप्रकारके चारित्रका आचरण करनेवाला भी नहिं कहा जा सकता । भावार्थ—जो यति आत्मस्वरूपमें लीन है परपदार्थोंको न अपना कर अपनेही स्वरूपको अपनाता है वही रत्नत्रयस्वरूप और चारित्रका आचरण करनेवाला कहा जाता है किंतु जो पदार्थ स्त्री पुत्र धन धान्य आदिको अपना मानता है और उनमें गाढ़ अनुराग करता है वह रत्नत्रयस्वरूप और चारित्रका आचरण करनेवाला नहिं कहा जा सकता ॥ ३९ ॥

अभिन्नमात्मनः शुद्धं ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटं ।
चारित्रं चर्यते शश्वच्चारुचारित्रवेदिभिः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो महानुभाव निर्दोप चारित्रके जानकार हैं वे निरंतर आत्मासे अभिन्न शुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूप निश्चय चारित्रका आचरण करते हैं । भावार्थ—निर्मल चारित्रके धारक मनुष्य यह जानते हैं कि निश्चय चारित्र आत्मासे अभिन्न-आत्मस्वरूप है निर्दोष है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकी स्वस्वरूपमें लीनतारूप होनेसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप है इसलिये वे सदा उसीका आचरण करते रहते हैं ॥ ४० ॥

आचारवेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्वरोचनं ।

चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—व्यवहारनयसे आठ प्रकारके आचारोंका जानना ज्ञान है तत्त्वोंमें रुचि रखना सम्यक्त्व है और तपोंका आचरण करना सम्यक्चारित्र है ॥ ४१ ॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रस्वभावः परमार्थतः ।
आत्मा रागविनिर्मुक्तो मुक्तिमार्गो विनिर्मलः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वभावस्वरूप है रागद्वेषसे रहित है निश्चय नयसे वही निर्दोष मोक्षमार्ग है । भावार्थ—व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनोंका समुदाय मोक्षमार्ग है परंतु निश्चयनयसे सम्यग्दर्शन आदि स्वभावस्वरूप और रागद्वेषसे रहित आत्माही निर्मल मोक्षमार्ग है ॥ ४२ ॥

यश्चरत्यात्मनात्मानमात्मा जानाति पश्यति ।
निश्चयेन स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमुच्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—निश्चयनयसे अपनेसे अपनेको आचरण करना चारित्र, अपनेसे अपनेको जानना सम्यग्ज्ञान और अपनेसे अपनेमें श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । भावार्थ—निश्चयनयसे आत्मा और सम्यग्दर्शन आदि गुण एक हैं इसलिये वाह्य तप आदिका आचरण न कर अपनेसे अपनेका आचरण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है । वाह्य पदार्थोंका ज्ञाता न बन अपनेसे अपनेको जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान और वाह्य पदार्थोंका श्रद्धान न कर अपनेसे अपनेकाही श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है ॥ ४३ ॥

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः ।
लब्ध्युपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः ॥ ४४ ॥

अर्थ—इसलिये जो महानुभाव मुमुक्षु हैं मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्माका भलेप्रकार श्रद्धान ज्ञानकर उसका आचरण करें क्योंकि सिवाय इसके निर्वाण कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला दूसरा कोई भी उपाय नहीं है

है। भावार्थ–ज्ञान श्रद्धानके साथ आत्माकी सेवा करना ही मोक्षकी प्राप्तिका परम उपाय है विना इस उपायका आश्रय किये मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये मोक्षाभिलापियोंको इसी उपायका अवलंबन करना चाहिये ॥ ४४ ॥

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि विकल्पातीतचेतसः ।
तद्रूपं स्पष्टमाभाति कृताभ्यासस्य तत्त्वतः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जो महानुभाव किसीप्रकारके संकल्प विकल्प नहिं करता और स्पर्श आदि विषयोंसे स्पर्शन आदि इंद्रियोंको रोककर अपने आत्माके स्वरूपका दृढ़ अभ्यास करता है उसी महात्माके अंतरंगमें वास्तविक दृष्टिसे आत्माका स्पष्ट स्वरूप झलकता है-वही आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है। भावार्थ–जबतक इंद्रियां वश नहिं होतीं संकल्प विकल्प करना नहिं छूटता और दृढ़रूपसे आत्माका अभ्यास नहिं किया जाता तब तक आत्माके वास्तविक और स्पष्टस्वरूपका बोध नहिं होता इसलिये जो महानुभाव आत्माके विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इंद्रियोंको वशकर और संकल्प विकल्पोंका सर्वथा त्यागकर आत्मस्वरूपका दृढ़ अभ्यास करें ॥ ४५ ॥

स्वसंविदितमत्यक्षमव्यभिचारि केवलं ।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य रूपं चेतयितुः परं ॥ ४६ ॥

अर्थ–स्वसंविदित अतींद्रिय अव्यभिचारि और केवल ज्ञानको छोड़कर आत्माका कोई भी उत्कृष्ट स्वरूप नहीं। भावार्थ–जो ज्ञान स्वसंविदित है स्वयं अपनेको जानता है (अपने ज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहिं करता) अतींद्रिय है-पदार्थोंके ज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहिं करता, व्यभिचाररहित और अद्वितीय है वही आत्माका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है–सिवाय ज्ञानके आत्माका कोई उत्कृष्ट स्वरूप नहीं ॥ ४६ ॥

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि ।
आत्मतत्त्वपरिज्ञानो बध्यते कलिलैरपि ॥ ४७ ॥

अर्थ–जिस मनुष्यका परपदार्थोंमें जरा भी राग है वह आत्मतत्त्वका जानकार होने पर भी कर्मोंसे बंधता रहता

है-सदा उसकी आत्माके साथ कर्मोंका बंध होता रहता है। भावार्थ--आत्मतत्त्वके स्वरूपकी प्राप्तिमें विरोधी कारण राग है जब तक पदार्थोंको अपना मानकर उनमें राग बना रहता है तब तक कभी भी आत्मस्वरूप प्राप्त नहिं हो सकता इसलिये आत्मस्वरूपके पानेके अभिलाषियोंको चाहिये वे परपदार्थोंसे सर्वथा राग छोड़ दें ॥ ४७ ॥

यो विहायात्मनो रूपं सेवते परमेष्ठिनः ।
स बध्नाति परं पुण्यं न कर्मक्षयमश्नुते ॥ ४८ ॥

भावार्थ -जो महानुभाव अपने स्वरूपका ध्यान न कर परमेष्ठीके स्वरूपका ध्यान करता है उसके उत्कृष्ट पुण्यका बंध तो होता है परंतु कर्मोंका क्षय नहिं होता। उसके अशुभ कर्मोंका वियोग और शुभ कर्मोंका सदा आस्रव होता रहता है। भावार्थ-शुभ राग और अशुभ रागके भेदसे राग दो प्रकारका है। स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थोंमें जो राग होता है वह अशुभ राग कहा जाता है और अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय आदि शुभ पदार्थोंमें किया हुआ राग शुभ राग कहलाता है। इनमें अशुभ रागसे अशुभ-कर्मका बंध और शुभ रागसे शुभ कर्मोंका बंध होता है इसलिये जो महानुभाव परमेष्ठीके स्वरूपका ध्यान करते हैं उनके शुभ कर्मका बंध होता है उनके कर्मोंका नाश नहिं होता परंतु जो अपनी आत्माके स्वरूपका ध्यान करते हैं उनके शुभ अशुभ किसीप्रकारके कर्मोंका बंध नहिं होता और समस्त कर्मोंका नाश होजाता है इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने ही स्वरूपका ध्यान करें परमेष्ठियोंके स्वरूपका ध्यान न करें। परंतु जबतक आत्मस्वरूपका भलेप्रकार ज्ञान न हो वा उसके ध्यान करनेमें किसीप्रकारकी असमर्थता हो तबतक तो परमेष्ठियोंके गुणोंका चिंतवन अवश्य करें ॥ ४८ ॥

नागच्छच्छक्यते कर्म रोद्धुं केनापि निश्चितं ।
निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना ॥ ४९ ॥

अर्थ—जबतक परद्रव्योंसे रहित हो आत्माके स्वरूपमें प्रेम नहिं होता तबतक आनेवाले कर्मोंका प्रतिरोध नहिं हो सकता यह निश्चय है। भावार्थ—जबतक स्त्री पुत्र आदि परद्रव्योंको अपनाया जाता है और आत्मतत्त्वमें प्रेम नहिं किया जाता तबतक निरंतर कर्मोंका आस्रव होता रहता है किंतु जिससमय परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्व छोड़दिया जाता है और

आत्मस्वरूपमें प्रेम होने लगता है उससमय कर्मोका आस्रव बंद होजाता है—परद्रव्योंसे रहित केवल आत्मस्वरूपमें प्रेम करनेसे किसी प्रकारके कर्मका आस्रव नहिं होता ॥ ४९ ॥

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं परद्रव्यमुपासते ।
ते यांति सागरं मन्ये हिमवंतं यियासवः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो मूढ़ मनुष्य मोक्ष तो प्राप्त करना चाहते हैं और परद्रव्योंकी उपासना करते हैं-उन्हें अपनाते हैं मैं जानता हूं वे हिमवान पर्वतपर तो जाना चाहते हैं और समुद्रकी ओर चले जाते हैं ॥ भावार्थ—जिसप्रकार हिमवान पर्वतकी ओर जानेवाले मनुष्य समुद्रकी ओर जानेसे अज्ञानी समझे जाते हैं उसीप्रकार जो मनुष्य स्त्री पुत्र आदि परद्रव्योंको तो अपनाते हैं उनकी सेवा शुश्रूषा करते हैं और अपने स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त करना चाहते हैं वे भी अज्ञानी और मूढ़ समझे जाते हैं उन्हें कभी मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती ॥ ५० ॥

परद्रव्यी भवत्यात्मा परद्रव्यविचिंतकः ।
क्षिप्रमात्मत्वमायाति विविक्तात्मविचिंतकः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो आत्मा परद्रव्योंका विचार करता रहता है उन्हें अपनाता रहता है वह परद्रव्यवाला वा परद्रव्यस्वरूप हो जाता है और जो समस्त परद्रव्योंसे रहित केवल आत्माके स्वरूपका विचार करता है वह शीघ्र ही आत्मस्वरूपको प्राप्त करलेता है। भावार्थ—यह एक साधारण नियम है कि मनुष्य जिसबातका ध्यान करता है उसी पदार्थकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य आत्मस्वरूपका विचार न कर सदा परद्रव्योंका विचार करता रहता है उन्हें ही अपनाता है और उन्हींकी सेवा शुश्रूषा करता है उसे परद्रव्योंकी ही प्राप्ति होती है परंतु जो यह समझकर कि 'यह आत्मा समस्त पदार्थोंसे भिन्न है। जो परपदार्थोंका स्वरूप है वह आत्माका स्वरूप नहिं होसकता' आत्मस्वरूपका ही चिंतवन करता है वह अवश्य और शीघ्र आत्मस्वरूपको प्राप्त करलेता है अर्थात् वह समस्त कर्मोंसे रहित सिद्ध शुद्धात्मा होजाता है ॥५१॥

कर्मनोकर्मनिर्मुक्तममूर्तमजरामरं ।

निर्विशेषमसंबद्धमात्मानं योगिनो विदुः ॥ ५२ ॥

अर्थ—यह आत्मा-कर्म और नोकर्मोंसे रहित है अमूर्त है जरा और मरणसे रहित है सामान्य स्वरूप है और कर्मोंसे असंबद्ध है ऐसा योगिगण जानते हैं। भावार्थ—ज्ञानावरण आदि कर्म और इंद्रिय आदि पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल नोकर्म कहे जाते हैं। यह आत्मा कर्म नोकर्मोंसे रहित है। इसमें स्पर्श आदि पुद्गलके धर्म नहीं, इसलिये अमूर्तिक है। जरा मरण आदि शरीरके धर्म हैं उनसे भी यह आत्मा रहित है। ज्ञानस्वरूप दर्शनस्वरूप आदि विशेष स्वरूप न होकर यह सामान्यस्वरूप है और किसी प्रकारके कर्मोंसे बंधा नहिं है ऐसा योगी लोग इसे जानते और कहते हैं॥ ५२ ॥

वर्णगंधरसस्पर्शशब्ददेहेंद्रियादयः।
चेतनस्य न विद्यंते निसर्गेण कदाचन ॥ ५३ ॥

अर्थ—वर्ण गंध रस स्पर्श शब्द देह और इंद्रिय आदि पदार्थ स्वभावसे कभी चेतनके नहिं हो सकते अर्थात् ये समस्त जड़ पुद्गलके धर्म हैं आत्मा चेतन है इसलिये कभी भी ये उसके धर्म नहिं कहे जा सकते ॥ ५३ ॥

शरीरयोगतः सांति वर्णगंधरसादयः।
स्फटिकस्येव शुद्धस्य रक्तपुष्पादियोगतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार स्वच्छ भी स्फटिक रक्तपुष्प पीतपुष्प आदिके योगसे रक्त पीत होजाता है वह स्वभावसे तो रक्त पीत नहीं उसीप्रकार स्वभावसे तो आत्मा निर्मल है परंतु शरीरके संबंधसे वह स्पर्श रस गंध आदिसे युक्त है ऐसा कह दिया जाता है। भावार्थ—यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो स्फटिक मणि स्वच्छ निर्मल श्वेत पदार्थ है परंतु जिससमय उसके सामने रक्त पीत आदि पुष्प रख दिये जाते हैं उससमय उनकी प्रतिच्छायासे व्यवहारनयसे वह लाल पीला कह दिया जाता है उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनयसे यह आत्मा भी सर्वथा निर्मल और अमूर्तिक है तथापि शरीरके संबंधसे व्यवहारनयसे यह रसवाला गंधवाला वर्णवाला आदि भी कह दिया जाता है ॥ ५४ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहपुरस्सराः। भवंत्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिणः सतः ॥ ५५ ॥

यदि चेतयितुः संति स्वभावेन क्रुधादयः। भवंतस्ते विमुक्तस्य निवार्यंते तदा कथं ॥ ५६ ॥

अर्थ--राग द्वेष मद क्रोध लोभ और मोह आदि दोष औदयिक भाव हैं इसलिये ही समस्त संसारियोंके सदा उदयमें आते रहते हैं। क्योंकि यदि ये क्रोधादिक भाव कर्मोंके उदयजन्य न होकर स्वाभाविक-स्वभावजन्य होते तो इन्हें मुक्त आत्माके होने से कौन रोक सक्ता? भावार्थ--जो भाव कर्मोंके उदय होने पर जीवके हों वे औदयिक हैं। राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदि भाव सदा कर्मोंके उदयमें ही इस जीवके होते रहते हैं इसलिये ये भाव औदयिक कहे जाते हैं और यदि ये औदयिक न हो स्वाभाविक होते तो कर्ममुक्त जीवके भी होने चाहिये थे पर होते नहीं इसलिये औदयिक ही हैं ॥ ५५--५६ ॥

गुणजीवादयः संति विंशतिर्या प्ररूपणाः।
कर्मसंबंधनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणं ॥ ५७ ॥

अर्थ--गुणस्थान जीव समास पर्याप्ति आदि जो बीस प्ररूपणा हैं वे भी कर्मके संबंधसे उत्पन्न हैं इसलिये वे जीवका लक्षण नहिं हो सकतीं। भावार्थ--जो भाव कर्मके संबंधसे उत्पन्न हैं वे कभी भी जीवके स्वभाव वा लक्षण नहिं कहे जा सकते ॥ ५७ ॥

क्षायोपशमिकाः संति भावा ज्ञानादयोऽपि ये।
स्वरूपं तेऽपि जीवस्य विशुद्धस्य न तत्त्वतः ॥ ५८ ॥

अर्थ--यह जीव निश्चयनयसे समस्तकर्मावरणोंसे रहित निर्दोष है इसलिये जो ज्ञान अज्ञान भाव कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं वे भी जीवके स्वरूप नहिं हो सकते। भावार्थ--जो भाव परपदार्थोंके संबंधसे हों वे जीवके स्वरूप नहि हो सकते मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि ज्ञान कुमति कुश्रुति आदि अज्ञान चक्षुदर्शन आदि दर्शन कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं इसलिये ये जीवके स्वरूप नहि हो सकते केवल केवलज्ञान केवलदर्शन आदि केवल आत्माकी सहायतासे होते हैं इसलिये वे ही आत्माके स्वरूप हैं ॥५८॥

गलितनिखिलरागद्वेषमोहादिदोषः सततमिति विभक्तं चिंतयन्नात्मतत्त्वं।

गतमलमविकारं ज्ञानदृष्टिस्वभावं जननमरणमुक्तं मुक्तिमाप्नोति योगी ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो योगी समस्त राग द्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित है और निरंतर इसबातका विचार करता रहता है कि आत्माका स्वरूप समस्त परपदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न है वही योगी उस मोक्षको प्राप्त करता है जो कि समस्त मल और विकारोंसे रहित है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वभाव है और जन्म मरणसे मुक्त है। भावार्थ—मोक्ष अवस्था, समस्त मलोंसे रहित है। वहांपर किसीप्रकारका विकार भी नहीं रहता। वह अखंड ज्ञान दर्शन स्वभाव मय है और जन्म मरणसे मुक्त है तथा यह मोक्ष उसी योगीको प्राप्त हो सकती है जो समस्त राग द्वेष आदिसे रहित है और सदा आत्माके स्वरूपको परपदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न समझता रहता है इसलिये, योगियोंको चाहिये कि वे राग द्वेष मोह आदिका सर्वथा नाशकर सदा समस्त परपदार्थोंके स्वरूपसे भिन्न आत्मस्वरूपका चिंतवन करते रहें ॥ ५९ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें जीवाधिकार समाप्त हुआ ॥ १ ॥

धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाः परिकीर्तिताः ।
अजीवा जीवतत्त्वज्ञैर्जीवलक्षणवर्जिताः ॥ १ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य कालद्रव्य और पुद्गल द्रव्य ये पांच द्रव्य अजीव द्रव्य कहीं जातीं हैं और जीव द्रव्यका जो कुछ स्वरूप बतलाया है उससे इनका सर्वथा भिन्न है ॥ १ ॥

अवकाशं प्रयच्छंतः प्रविशंतः परस्परं ।
मिलंतश्च न मुंचंति स्वस्वभावं कदाचन ॥ २ ॥

अर्थ—वे समस्त द्रव्य एक दूसरेको अवकाश दान देते हैं और सबके सब एक स्थानपर रहनेसे एक दूसरेमें प्रविष्ट और सम्मिलित भी हैं परंतु आत्मिक स्वभावको कभी नहिं छोड़ते। भावार्थ—धर्म द्रव्यका स्वभाव जीव पुद्गलोंको गमनमें सहायता पहुचाना, अधर्म द्रव्यका स्वभाव उन्हें ठहरनेमें सहायता देना, आकाश द्रव्यका सब द्रव्योंको अवकाशदान देना, कालका वर्तना वा नवा पुराना परिणाम कराना और पुद्गलका मिलना विछुड़ना आदि स्वभाव है।

यद्यपि ये समस्त द्रव्य एक दूसरेको अवकाश दान देते हैं एक दूसरेमें प्रविष्ट और इनका आपसमें मेल भी है परंतु
यह कदापि नहिं होता कि जो स्वभाव धर्मका है वह अधर्मका वा जो स्वभाव कालका है वह आकाशका हो जाय इस-
लिये एक क्षेत्रमें रहनेसे यद्यपि ये एक स्वरूप जान पड़ते हैं परंतु इनके स्वभाव भिन्न २ हैं इसलिये ये सर्व भिन्न ही हैं।

अमूर्ता निष्क्रियाः सर्वे मूर्तिमंतोऽत्र पुद्गलाः।
रूपगंधरसस्पर्शव्यवस्था मूर्तिरुच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ--केवल पुद्गल द्रव्यको छोड़कर ये समस्त द्रव्य अमूर्त और निष्क्रिय क्रियारहित हैं किंतु पुद्गल द्रव्य मूर्ति-
मान और सक्रिय है तथा रूप रस गंध और स्पर्शस्वभाव मूर्ति, कही जाती है। भावार्थ-रूप रस गंध स्पर्श मूर्ति है
जिसके यह मूर्ति विद्यमान हो वह मूर्तिक है। धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्योंमें मूर्ति नहीं इसलिये वे सब अमूर्त
हैं तथा अजीवोंमें पुद्गलमें गमन आदि क्रिया देखनेमें आती हैं इसलिये यह सक्रिय है धर्म अधर्म आदिमें ये क्रिया
नहिं होतीं इसलिये वे सब निष्क्रिय हैं॥ ३ ॥

जीवेन सह पंचापि द्रव्याण्येते निवेदिताः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति लक्षणयोगतः ॥ ४ ॥

अर्थ-जिसमें गुण और पर्याय रहैं उसका नाम द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण जीवमें और पांचोंप्रकारके अजीवोंमें
मोजूद है इसलिये धर्म अधर्म आदि पांचों अजीव और जीव ये छहो द्रव्य हैं। भावार्थ-जो गुण और पर्यायोंका धारक
है वह द्रव्य है। यह द्रव्यका लक्षण है। जीवद्रव्यमें ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चेतनत्व अमूर्तत्व विशेषगुण और अस्तित्व
आदि सामान्य गुण मोजूद हैं और उनकी पर्यायोंका परिवर्तन हुआ करता है, पुद्गलमें स्पर्श रस गंध वर्ण अचेतनत्व
मूर्तत्व विशेषगुण और अस्तित्व आदि सामान्य गुण विद्यमान हैं और उनकी प्रतिसमय पर्यायें पलटतीं रहती हैं।
धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये विशेषगुण अस्तित्व आदि सामान्य गुण मोजूद हैं और इनकी
पर्यायें भी पलटतीं रहतीं हैं। अधर्मद्रव्यमें स्थितिहेतुत्व अमूर्तत्व और अचेतनत्व विशेष गुण अस्तित्व आदि सामान्य
गुण हैं। आकाशद्रव्यमें अवगाहनहेतुत्व अमूर्तत्व और अचेतनत्व विशेष गुण अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण

हैं और इनकी पर्यायें पलटतीं रहती हैं एवं काल द्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व अचेतनत्व आदि विशेष गुण और अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण हैं और इनकी पर्यायें पलटतीं रहती हैं इस रीतिसे धर्म आदि पांचों अजीवोंमें और जीव द्रव्यमें यह लक्षण मोजूद है इसलिये ये छहो द्रव्य हैं ॥ ४ ॥

द्रूयते गुणपर्यायैर्यद्यद् द्रवति तानथ ।
तद्द्रव्यं भण्यते षोढा सत्तामयमनश्वरं ॥ ५ ॥

अर्थ–जो गुण पर्यायोंसे प्राप्त किया जाय अथवा जो गुण और पर्यायोंको प्राप्त हो वह द्रव्य है इसद्रव्यके जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल छै भेद हैं तथा ये छहो अस्तित्वस्वरूप और अविनाशी हैं ॥ ५ ॥

ध्रौव्योत्पादलयालीढा सत्ता सर्वपदार्थगा ।
एकशोऽनंतपर्याया प्रतिपक्षसमन्विता ॥ ६ ॥

अर्थ–यह सत्ता ध्रौव्य उत्पाद और व्यय तीन स्वरूप है समस्त पदार्थोंमें रहनेवाली है अनंत पर्यायोंकी धारक है और प्रतिपक्षसे युक्त है। भावार्थ–यह सत्ता ध्रौव्य उत्पाद और व्यय स्वरूप तीनों पदार्थोंमें रहती है इसलिये तीनों स्वरूप है और नित्य पदार्थमें रहनेसे नित्यस्वरूप, उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें रहनेसे उत्पादस्वरूप और विनाशीक पदार्थोंमें रहनेसे व्ययस्वरूप होनेसे एक एक स्वरूप है। घट पट आदि समस्त पदार्थोंमें रहती है इसलिये सर्वपदार्थग और केवल घट वा केवल पटमें भी रहती है इसलिये एकपदार्थग, सब पदार्थोंमें एक स्वरूपसे रहती है इसलिये एकस्वरूप और भिन्न पदार्थोंमें भिन्न २ स्वरूपसे रहती है इसलिये अनेक स्वरूप भी है। पदार्थकी अनंत पर्यायोंमें रहती है इसलिये अनतपर्यायस्वरूप और एक पर्यायमें रहती है इसलिये एकपर्यायस्वरूप भी है ॥ ६ ॥

नश्यत्युत्पद्यते भावः पर्यायापेक्षयाखिलः ।
नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्न द्रव्यापेक्षया पुनः ॥ ७ ॥

अर्थ–पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं परंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न कोई पदार्थ नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है इसलिये इस नयकी अपेक्षा सब ध्रुव हैं। भावार्थ–पर्याया-

र्थिक नय केवल पर्यायको ही विषय करता है और पर्यायोंका सदा उत्पाद व्यय हुआ करता है एवं ये पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्योंका नाश और उत्पत्ति होती है यह कहा जाता है तथा द्रव्यार्थिकनय केवल द्रव्यको विषय करता है और द्रव्य सदा अवस्थित-नित्य रहता है उसका कभी नाश और उत्पाद नहिं होता इसलिये द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सब पदार्थ नित्य और अविनाशी हैं ऐसा कहा जाता है ॥ ७ ॥

किंचित्संभवति द्रव्यं न विना गुणपर्ययैः ।
संभवंति विना द्रव्यं न गुणा न च पर्ययाः ॥ ८ ॥

अर्थ–विना गुण और पर्यायोंके तो कभी कोई द्रव्य नहिं हो सकता और विना द्रव्यके गुण और पर्याय नहिं हो सकते गुण पर्याय और द्रव्यका तादात्म्य संबंध है । भावार्थ–अनेक मनुष्योंका सिद्धांत है कि गुण पर्याय भिन्न हैं और द्रव्य भिन्न है तथा द्रव्य जब उत्पन्न होता है तब उसकी उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें गुण उत्पन्न नहिं होते परंतु जैन सिद्धांतमें यह बात नहीं । उसका कथन है कि व्यवहारदृष्टिसे यद्यपि गुण और द्रव्य भिन्न २ कहे जाते हैं परंतु निश्चय नयसे नहीं । निश्चय नयसे जो द्रव्य है वही गुण हैं और जो गुण हैं वही द्रव्य है तथा उत्पत्ति क्षणमें द्रव्यमें गुण नहिं होते पीछेसे उत्पन्न होते हैं यह भी बात मिथ्या है क्योंकि यदि प्रथमक्षणमें द्रव्यमें गुण आदि न माने जांयगे तो उससमय 'गुणवाला द्रव्य है' यह लक्षण ही उसमें न जायगा इसलिये यही मानना पड़ेगा कि गुण पर्यायोंके विना कोई द्रव्य नहि रहसकता और द्रव्यके विना गुण पर्याय नहिं रह सकते ॥ ८ ॥

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशानामसंख्यया ।
अवष्टब्धो नभोदेशः प्रदेशः परमाणुना ॥ ९ ॥

अर्थ–धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और एक जीव द्रव्य प्रत्येकके असंख्याते २ प्रदेश हैं और वे लोकाकाशमें व्याप्त हैं तथा जितनी आकाशकी जगहको अविभागी पुद्गलका परमाणु घेरता है उसका नाम प्रदेश है । भावार्थ–आकाशके दो भेद हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । इनमें लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है और धर्म अधर्म एक जीव द्रव्योंमें प्रत्येकके असंख्यात २ प्रदेश हैं इसलिये ये तीनों द्रव्य लोकाकाशमें व्याप्त हैं तथा जितनी आकाशकी जगहको अविभागी पुद्गलका परमाणु व्याप्त करता है उसे प्रदेश कहते हैं ॥ ९ ॥

द्रव्यमित्यादिमध्यांतमविभागमतींद्रियं ।
अविनाश्यग्निशस्त्राद्यैःपरमाणुरुदाहृतं ॥ १० ॥

अर्थ—जो द्रव्य स्वयं आदि स्वयं मध्य और स्वयं अंतस्वरूप हो, विभाग रहित हो, अतींद्रिय हो और अग्नि शस्त्र आदिसे विनष्ट न हो सकै वह परमाणु है। भावार्थ—परमाणु इतना छोटा पदार्थ है कि वही अपनी आदि वही अपना मध्य और वही अपना अंत है वह अविभागी है-उसका कोई भी विभाग नहिं हो सकता। अतींद्रिय है—इंद्रियां उसै विषय नहिं करसकतीं और अविनाशी है-अग्निसे जल नहिं सक्ता और न शस्त्र आदिसे उसके खंड हो सक्ते हैं ॥१०॥

प्रदेशा नभसोऽनंता अनंतानंतमानकाः ।
पुद्गलानां जिनैरुक्ताः परमाणुरनंशकः ॥ ११ ॥

अर्थ—आकाशके प्रदेश अनंत है। पुद्गलोंके अनंतानंत हैं और परमाणु अनश है-उसका कोई विभाग नहीं होता ११

असंख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः ।
एकैका व्यतिरिक्तास्ते रत्नानामिव राशयः ॥ १२ ॥

अर्थ—काल द्रव्यके परमाणु असंख्याते हैं और लोकाकाशमें रत्नोंकी राशिके समान वे एक एक और जुदे जुदे हैं। भावार्थ—अमूर्तिक द्रव्योंमें धर्म अधर्म आकाश और एक जीव द्रव्य अखंड हैं इनके किसीप्रकारके विभाग नहि हो सकते परंतु काल द्रव्य ऐसा नहीं जिसप्रकार रत्नोंकी राशि होती है अर्थात् जिसप्रकार राशिके समस्त रत्न जुदे २ होते हैं उसीप्रकार काल द्रव्यके परमाणु जुदे २ हैं और असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें वे एक एक कर स्थित हैं ॥ १२ ॥

धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य लोकाकाशमशेषकं ।
व्योमैकांशादिषु ज्ञेया पुद्गलानामवस्थितिः ॥ १३ ॥

अर्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशको व्याप्तकर स्थित हैं और पुद्गल द्रव्योंकी स्थिति आकाशके एक प्रदेशको

लेकर असंख्यात प्रदेश पर्यंत समझनी चाहिये । भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य अखंड और असंख्यात प्रदेशी द्रव्य हैं एवं असंख्यात प्रदेशी ही लोकाकाश है इसलिये ये दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं ऐसा कोई भी लोकाकाशका प्रदेश नहीं जहां धर्म और अधर्म द्रव्य न हों परंतु पुद्गल द्रव्यके एकसे लेकर अनंतानंत भाग हैं वे परमाणु और स्कंध कहे जाते हैं और आकाशके एक प्रदेशको लेकर असंख्याते प्रदेशोंमें वे रहते हैं अर्थात् एक प्रदेशमें परमाणु दो प्रदेशोंमें द्व्यणुक त्रसरेणु आदि रहते हैं ॥ १३ ॥

लोकासंख्येयभागादाववस्थानं शरीरिणां ।
अंशा विसर्पसंहारौ दीपानामिव कुर्वते ॥ १४ ॥

अर्थ—जीवोंकी स्थिति लोकके असंख्येयभाग आदि प्रदेशोंमें है और दीपकके अंशोंके समान उनके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं और फैल भी जाते हैं । भावार्थ—यदि दीपकको किसी खुली जगहपर रख दिया जाय तो उसका प्रकाश फैल जाता है और उसीको यदि किसी वर्तन आदि संकुचित स्थानमें रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उस वर्तन आदिके ही आकार संकुचित हो जाता है तो जिसप्रकार दीपकके प्रकाशमें संकुचित विस्तृत होनेकी शक्ति है उसीप्रकार यह आत्माभी संकोच विकासशाली है जिस समय समुद्घात अवस्थामें इसके प्रदेश फैलते हैं तो यह समस्त लोकको भी व्याप्त करलेता है और समुद्घात अवस्थाके सिवाय यह जैसे शरीरको धारण करता है उसीके परिमाण इसके प्रदेश हो जाते हैं ॥ १४ ॥

जीवानां पुद्गलानां च धर्माधर्मौ गतिस्थिती ।
अवकाशं नभः कालो वर्तनां कुरुते सदा ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य जीव पुद्गलोंकी गतिमें, अधर्मद्रव्य स्थितिमें, सहायता प्रदान करता है, आकाश अवकाशदान देता है और कालद्रव्य वर्तना-नया पुरानापना करता है । भावार्थ—जिससमय जीव पुद्गल गमन करते हैं उससमय धर्म द्रव्य उनकी सहायता करता है, जिससमय ठहरते हैं उस समय अधर्म द्रव्य सहायता करता है, आकाश द्रव्य अवकाशदान देकर उनका उपकार करता है और कालद्रव्य द्रव्योंकी वर्तना करानेमें सहकारी कारण है ॥ १५ ॥

संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते ।
मुक्तास्तद्व्यतिरेकेण न कस्याप्युपकुर्वते ॥ १६ ॥

अर्थ–जो जीव संसारमें रहनेवाले हैं वे भी एक दूसरेका उपकार करते हैं किंतु मुक्त जीव किसीका उपकार नहिं करते क्योंकि वे संसारी जीवोंसे भिन्न हैं–संसारके जालसे बाहर निकल गये हैं । भावार्थ–जो चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करनेवाले हैं वे संसारी हैं और जो संसारसे-समस्तकर्मोंसे रहित हैं वे मुक्त जीव हैं । इनमें संसारी जीव एक दूसरेका उपकार करते हैं सिद्ध जीव नहीं क्योंकि वे कृतकृत्य हैं-संसारमें कोई भी कार्य उन्हें करनेकेलिये अवशिष्ट नहिं रहा ।

जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वंति पुद्गलाः ।
उपकारेण जीवानां भ्रमतां भवकानने ॥ १७ ॥

अर्थ–जो जीव संसाररूपी महावनमें भटकनेवाले हैं उनके जीवन मरण सुख और दुःखमें उपकारी पुद्गल है अर्थात् जीवोंका जो जीवन मरण सुख और दुःख उपकार होता है वह पुद्गल द्रव्यकी ही सहायतासे होता है ॥ १७ ॥

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः ।
करोति कोऽपि कस्यापि न किंचन कदाचन ॥ १८ ॥

अर्थ–संसारमें समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें मग्न हैं निश्चयनयसे कोई भी कभी कुछ भी उनके स्वरूपको नवीन नहिं बना सकता । भावार्थ–संसारमें जीव आदि अनेक पदार्थ हैं और चेतन आदि उनके स्वरूप भी भिन्न भिन्न हैं उन पदार्थोंके जो स्वरूप हैं वे पदार्थ सदा उन्हीमें लीन रहते हैं कोई भी पदार्थ उनके स्वरूपका परिवर्तन नहिं करसकता तथापि पहिले जो परिवर्तन आदि कह आये हैं वह व्यवहारनयसे है निश्चयसे नहीं ॥ १८ ॥

स्कंधो देशः प्रदेशोणुश्चतुर्धा पुद्गलो मतः ।
समस्तमर्धमर्धार्धमविभागमिमं विदुः ॥ १९ ॥

अर्थ–स्कंध देश प्रदेश और परमाणुओंके भेदसे पुद्गल चार प्रकारका है समस्त समुदायका नाम स्कंध, आधेका देश, उससेभी आधेका प्रदेश और जिसका फिरसे विभाग न हो सकै वह परमाणु है॥ १९ ॥

सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः स्थूलैः स्थूलतरैश्चितः ।
अनंतैः पुद्गलैश्चित्रैः कुंभो धूमैरिवाभितः ॥ २० ॥

अर्थ–जिसप्रकार घडा सब ओरसे धूमसे व्याप्त रहता है उसका कोई भी ऐसा प्रदेश बांकी नहिं वचता जहां धूम न हो उसीप्रकार यह लोकाकाश भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर स्थूल स्थूलतर अनंते चित्र विचित्र पुद्गलोंसे भरा हुआ है। भावार्थ–पुद्गलका सूक्ष्मभेद कर्म है। सूक्ष्मतर परमाणुयें हैं । स्थूल फल जमीन जल आदि हैं और स्थूलतर महास्कंध है ये चारो प्रकारके पुद्गल घड़ामें जिसप्रकार धूआं भरा रहता है वा घी भरा रहता है उसप्रकार समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं ऐसा कोई भी लोकाकाशका प्रदेश नहीं जहां सूक्ष्म आदि पुद्गलके भेद न हों ॥ २० ॥

मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं मूर्तामूर्तैर्गुणैर्युतं ।
अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता अमूर्ता संत्यतींद्रियाः ॥ २१ ॥

अर्थ–मूर्त और अमूर्तके भेदसे द्रव्य दो प्रकारके हैं और क्रमसे वे मूर्त और अमूर्त गुणोंसे युक्त इंद्रियग्राह्य हैं। जिनको इंद्रियां विषय करतीं हैं वे मूर्तगुण हैं और जो अतींद्रिय हैं-इन्द्रियोंके विषय नहिं हों वे अमूर्त गुण हैं। भावार्थ–यह ऊपर कहदिया गया है कि स्पर्श रस आदि गुणोंका समुदाय मूर्त्ति है और जिसके यह मूर्ति हो वह मूर्त्त कहा जाता है। पुद्गलके यह मूर्ति मोजूद है इसलिये वह मूर्त है और धर्मादि शेष पांच द्रव्योंमें यह मूर्ति नहीं इसलिये वे अमूर्त हैं। स्पर्श रस आदि मूर्तिक गुण पुद्गलमें रहते हैं और ज्ञान दर्शन आदि चेतनत्व अचेतनत्व गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्व आदि गुण जीव आदि अमूर्त द्रव्योंमें रहते हैं। तथा स्पर्श आदि मूर्त गुणोंका इंद्रियोंसे ज्ञान होता है और चेतनत्व अचेतनत्व आदि अमूर्त गुणोंको इन्द्रियां विषय नहिं करतीं ॥ २१ ॥

कर्म वेदयमानस्य भावाः संति शुभाशुभाः ।
कर्मभावं प्रपद्यंते संसक्तास्तेषु पुद्गलाः ॥ २२ ॥

अर्थ–जो मनुष्य कर्मोंका भोगनेवाला है–पहिले संचय किये कर्मोंके फलोंको भोगता है उसके शुभ अशुभ भाव होते हैं और जो पुद्गल इन शुभ अशुभ भावोंसे आकर आत्माके साथ संबंध करते हैं वे कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।

भावार्थ–जो जीव पूर्वसंचित कर्मोंके भोगनेवाले हैं नियमसे उनके शुभ अशुभ परिणाम होते हैं और उन शुभ अशुभ भावोंसे संबंध रखनेवाले पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं इसलिये ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलस्वरूप हैं अन्य नहीं ॥ २२ ॥

योगेन ये समायांति शस्ताशस्तेन पुद्गला : ।
तेऽष्टकर्मत्वमिच्छंति कषायपरिणामतः ॥ २३ ॥

अर्थ–प्रशस्त वा अप्रशस्त योगसे जिन पुद्गलोंका आस्रव होता है वे कषायमय परिणामोंके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अष्टकर्म स्वरूप परिणत हो जाते हैं । भावार्थ–शरीर वचन और मनकी क्रियाका नाम योग है और वह प्रशस्त अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है अर्थात् शुभ पदार्थमें मन वचन कायकी क्रियाको प्रशस्त योग कहते हैं और जो मन वचन कायकी क्रिया अशुभ पदार्थमें हो वह अप्रशस्त योग कही जाती है उन्हीं प्रशस्त अप्रशस्त योगोंके द्वारा पुद्गलोंका आस्रव होता है और वे पुद्गल, कषायमय परिणामोंके निमित्तसे ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदुः ।
नाम गोत्रांतरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरयः ॥ २४ ॥

अर्थ–ज्ञानावरणी दर्शनावरणी वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म हैं ॥ २४ ॥

कल्मषोदयतो भावो यो जीवस्य प्रजायते ।
स कर्ता तस्य भावस्य कर्मणो न कदाचन ॥ २५ ॥

अर्थ–कर्मके उदयसे जीवके जिन भावोंकी उत्पत्ति होती है उन्हींका वह कर्ता है कर्मोंका वह कर्ता कभी नहिं हो सकता । भावार्थ–कर्मोंके द्वारा आत्मामें रागद्वेष आदि विभाव भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे यह रागी द्वेषी आदि कहा जाता है इसलिये यह राग आदि भावोंका कर्ता है कर्मोंका कर्ता नहीं ॥ २५ ॥

विविधाः पुद्गलाः स्कंधा संपद्यंते यथा स्वयं ।
कर्मणामपि निष्पत्तिरपरैरकृता तथा ॥ २६ ॥

अर्थ–किंतु जिसप्रकार पुद्गलके परमाणु आपसे आप स्कंध अवस्थाको प्राप्त होजाते हैं उसी प्रकार कर्मोंकी भी स्वयं उत्पत्ति हो जाती है-पुद्गल आपसे आप कर्मरूप परिणत हो जाते हैं उनकी उत्पत्तिको करनेवाला दूसरा कोई नहीं। भावार्थ–जिसप्रकार पुद्गलके परमाणु आपसे आप द्व्यणुक त्रसरेणु आदि स्कंधरूप परिणत हो जाते हैं परमाणुओंको स्कंधरूप परिणमाने वाला कोई पदार्थ नहीं उसीप्रकार पुद्गल भी जीवोंके शुभ अशुभ भावोंका संबंध करते ही कर्मरूप परिणत हो जाते हैं-पुद्गलोंको भी कर्मस्वरूप परिणमावनेमें अन्य जीव आदि कारण नहीं ॥ २६ ॥

कर्मभावं प्रपद्यंते न कदाचन चेतनाः ।
कर्म चैतन्यभावं वा स्वस्वभावव्यवस्थितेः ॥ २७ ॥

अर्थ–चेतन-जीव कभी कर्मस्वरूप परिणत नहिं हो सकते और कर्म कभी चेतन नहिं हो सकते क्योंकि इनके स्वभावोंकी न्यारी न्यारी व्यवस्था है-दोनोंके स्वभाव आपसमें सर्वथा भिन्न हैं। भावार्थ–आत्मा चैतन्यस्वरूप है और कर्म जड़स्वरूप हैं इसलिये जिसप्रकार शीत उष्णस्वरूप नहि हो सकता और उष्ण शीतस्वरूप नहिं हो सकता उसीप्रकार चेतन कर्मस्वरूप नहिं हो सकता और कर्म चेतनस्वरूप नहिं हो सकता–सदा ये भिन्न ही रहै हैं रहैंगे और हैं ॥

जीवः करोति कर्माणि यद्युपादानभावतः ।
चेतनत्वं तदा नूनं कर्मणो वार्यते कथं ॥ २८ ॥

अर्थ–यदि कहाजायगा कि आत्मा कर्मोंका उपादान कारण है और उपादान भावसे वह कर्मोंका कर्ता है तो वहां पर यह उत्तर है कि उपादान कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। जब चेतन आत्मा कर्मोंका उपादान कारण है तब ही कर्म भी अवश्य चेतन स्वरूप होने चाहिये। भावार्थ–कारण दो प्रकारके होते हैं उपादान कारण और सहकारी कारण। इनमें यह नियम है कि उपादान कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। यदि उपादान कारण उष्ण होगा तो उससे उष्ण कार्यकी उत्पत्ति होगी यदि वह शीत होगा तो उससे शीत कार्य उत्पन्न होगा यह

कभी नहिं हो सकता कि शीत उपादान कारणसे उष्ण कार्य और उष्ण उपादान कारणसे शीत कार्य हो। यदि कर्मोंका उपादान कारण, आत्मा माना जायगा तो आत्मा चेतन और कर्म जड़ हैं इसलिये कर्मोंको भी चेतन मानना पड़ेगा अतः यह बात युक्तियुक्त है कि चेतन आत्मा कभी जड़ कर्मोंका उपादान कारण नहिं हो सकता ॥ २८ ॥

यद्युपादानभावेन विधत्ते कर्म चेतनं ।
अचेतनत्वमेतस्य तदा केन निषिध्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—अथवा यदि यह भी कहा जाय कि कर्म ही आत्माका उपादान कारण है और वह उपादानरूपसे चेतनका कर्ता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशामें जीवको भी अचेतन कहना पड़ेगा अर्थात् उपादानकारण कर्मके जड़ होनेसे जीव भी जड़ हो जायगा इसलिये कर्म कभी आत्माका उपादान कारण नहिं हो सकता ॥ २९ ॥

एवं संपद्यते दोषः सर्वथापि दुरुत्तरः ।
चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः ॥ ३० ॥

अर्थ—इसरीतिसे अर्थात् यदि कर्मको चेतनका उपादान कारण माना जायगा अथवा चेतनको कर्मका उपादान कारण माना जायगा तो कौन चेतन और कौन अचेतन यह बात ही सिद्ध न हो सकैगी। भावार्थ—जब यह नियम माना जायगा कि जड़ चेतनका उपादान और चेतन जड़का उपादान कारण होता है तब या तो सब पदार्थ जड़ही हो जांयगे या वे सब चेतन ही कहे जांयगे इसलिये चेतन अचेतन दोनों पदार्थोंकी रक्षाकेलिये जड़को चेतनका और चेतनको जड़का उपादान कारण न मानना चाहिये ॥ ३० ॥

सरागं जीवमाश्रित्य कर्मत्वं यांति पुद्गलाः ।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि सरागत्वं प्रपद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिससमय पुद्गल सरागी जीवका अवलंबन करते हैं उससमय वे कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और जब जीव कर्मोंका आश्रय करता है तब वह भी रागी हो जाता है। भावार्थ—जिससमय जीव रागी और द्वेषी रहता है उससमय

जो पुद्गल उसके साथ आकर संबंध करते हैं वे रागद्वेपके निमित्तसे कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और जिससमय पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं उससमय उसके निमित्तसे जीव भी रागी और द्वेपी हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

कर्म चेत्कुरुते भावो जीवः कर्ता तदा कथं ।
न किंचित्कुरुते जीवो हित्वा भावं निजं परं ॥ ३२ ॥

अर्थ-यदि रागद्वेष आदि जीवके भाव कर्मोंको उत्पन्न करते हैं तो वेही कर्मकी उत्पत्तिमें कारण हैं जीव नहीं क्योंकि जीव सिवाय अपने भावोंके अन्य किसी भी पदार्थका कर्ता नहीं। भावार्थ- जो कार्यको करै वही कर्ता कहा जाता है, रागद्वेष आदि भाव कर्मोंको करते हैं इसलिये वे ही कर्मोंके कर्ता हैं जीव नहीं क्योंकि जीव सिवाय अपने आत्मिक भावोंके दूसरे किसी पदार्थको नहिं करता॥ ३२ ॥

कर्मतो जायते भावो भावतः कर्म सर्वदा ।
इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं दृष्टव्यं भावकर्मणोः ॥ ३३ ॥

अर्थ-कर्मसे भावोंकी उत्पत्ति होती हैं और भावोंसे कर्म उत्पन्न होते हैं इसरीतिसे भाव और कर्म दोनो ही आपसमें कर्ता हैं। भावार्थ-जिससमय भाव, कर्मोंको करते हैं उससमय तो भाव कर्ता हैं और जिससमय कर्म, भावोंको करते हैं उससमय कर्म कर्ता हैं इसरीतिसे भावभी कर्ता और कर्म हैं और कर्म भी कर्ता एवं कर्म कहे जाते हैं ॥३३॥

कोपादिभिः कृतं कर्म जीवेन कृतमुच्यते ।
पदातिभिर्जितं युद्धं जितं भूपतिना यथा ॥ ३४ ॥

अर्थ-जिसप्रकार युद्धको जीतते तो सेनाके लोग हैं और नाम राजाका होता है उसीप्रकार कर्मोंको करते तो क्रोध आदि भाव हैं और नाम जीवका होता है। भावार्थ-यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो युद्धके जीतनेवाले सेनाके ही लोग होते हैं परंतु व्यवहारसे जीतनेवाला राजा है यह बात कहदी जाती है उसीप्रकार वास्तविक रीतिसे कर्मोंके करनेवाले तो क्रोध आदि भाव ही हैं परंतु व्यवहारसे उनका कर्ता जीव है यह कहदिया जाता है ॥ ३४ ॥

देहसंहतिसंस्थानगतिजातिपुरोगमाः ।
विकाराः कर्मजाः सर्वे चैतन्येन विवर्जिताः ॥ ३५॥

अर्थ–शरीर संहनन संस्थान गति जाति आदि जो विकार देखने सुननेमें आते हैं वे सब कर्मज हैं–कर्मोंसे उत्पन्न हैं और चेतनासे सर्वथा रहित है। भावार्थ–औदारिक वैक्रियिक आहारक आदिके भेदसे शरीर पांचप्रकारका है। वज्रवृषभनाराचसंहनन वज्रनाराचसंहनन आदि छै प्रकारका संहनन है । समचतुरस्रसंस्थान न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान आदि छै भेद संस्थानके हैं। मनुष्य देव आदि चार गतियां और एकेंद्रियजाति द्वींद्रिय जाति आदि पांचप्रकारकी जातियां हैं। मनुष्य तिर्यंचके स्थूलशरीरका नाम औदारिकशरीर है। छोटे बड़े एक अनेक आदि भांति भांतिके आकार स्वरूप होजानेवाला वैक्रियिकशरीर है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके तत्त्वोंमें कोई शंका होनेपर केवली या श्रुतकेवलीके निकट जानेकेलिये मस्तकमेंसे जो पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक और वैक्रियिकशरीरोंको कांति देनेवाला तैजस, और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्माण शरीर कहते हैं।

जिस संहननमें वज्रके हाड़ वज्रके वेष्ठन और वज्रकी ही कीलिया हों वह वज्रवृषभनाराचसंहनन है। जिस संहननमें वज्रके हाड़ और वज्रकी कीलीं हों परंतु वेष्ठन वज्रके न हों वह वज्रनाराचसंहनन है। जिसके वेठन और कीली रहित हाड़ हों वह नाराच संहनन, जिसके हाड़ोंकी संधि अर्धकीलित हो वह अर्धनाराचसंहनन, जिसके हाड परस्पर कीलित हों वह कीलकसंहनन और जिसके जुदे जुदे हाड़ नसोंसे बंधे हों-परस्पर कीले हुये न हों वह असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहा जाता है। जिससंस्थानमें शरीरकी रचना नीचे और मध्यमें समरूपसे हो वह समचतुरस्रसंस्थान है। जिसमें शरीर वड़वृक्षके समान हो अर्थात् नाभिसे ऊपरके अंग बड़े और नीचेके छोटे हों वह न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान है। नाभिके नीचेके अंग बड़े और ऊपरके छोटे हों वह स्वातिसंस्थान, जिसमें शरीर कुबड़ा हो वह कुब्जक संस्थान, जिसमें बोना शरीर हो वह वामनसंस्थान, और जिसमें शरीरके अंगोपांग किसी निश्चित आकारके न हों वह हुंडकसंस्थान कहा जाता है। नरकगति, तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति गति कही जाती हैं।

जिसके केवल एकेंद्रिय हो वह एकेंद्रिय जाति, जिसके दो इंद्रियां हो वह द्वींद्रिय जाति, जिसके तीन इंद्रियां हों वह तेइंद्रिय जाति, जिसके चार इंद्रियां हो वह चौ इंद्रिय जाति, और जिसके पांच इंद्रियां हों वह पंचेंद्रिय

जाति है। इसीप्रकार निर्माण बंधन आदि और भी बहुतसे विकार हैं और वे समस्त कर्म जनित हैं-उनमें चेतनाका सर्वथा अभाव है ॥ ३५ ॥

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रो संयतो देशसंयतः। प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्तत्त्वज्ञैरनिवृत्तकः ॥ ३६ ॥

सूक्ष्मः शांतः परः क्षीणो योगी चेति त्रयोदश। गुणाः पौद्गलिकाः प्रोक्ताः कर्मप्रकृतिनिर्मिताः ३७

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सासादन मिश्र अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय उपशांतमोह क्षीणमोह सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं और उनमें आदि के तेरह गुण स्थान पुद्गलीक हैं क्योंकि इन सबका निर्माण कार्मण-कर्मप्रकृतियोंसे होता है। केवल चौदहवां गुणस्थान पुद्गलीक नहीं है। भावार्थ—कर्म प्रकृतियां पुद्गलीक हैं इसलिये इनसे जिनकी उत्पत्ति होगी वे भी पुद्गलीक ही होंगे। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंकी कर्मप्रकृतियोंसे उत्पत्ति होती है क्योंकि गुणस्थानोंकी उत्पत्तिमें मोहनीय कर्म और योग कारण हैंअर्थात् आदिके चार गुणस्थान तो दर्शनमोहनीय कर्मके निमित्तसे होते हैं, पांचवेसे बारहतक चारित्रमोहनीयके निमित्तसे और शेषका तेरहवां योगके निमित्तसे होता है इसलिये ये सब तो पुद्गलीक हैं परंतु चौदहवां गुणस्थानमें योगका अभाव निमित्त है इसलिये वह पुद्गलीक नहीं है ॥ ३७ ॥

देहचेतनयोरैक्यं मन्यमानैर्विमोहितैः।
एते जीवा निगद्यंते न विवेकविशारदैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य मूढ़ हैं तत्त्व अतत्त्वका जराभी ध्यान नहिं रखते और शरीर एवं चेतनको एक कहते हैं वे गुणस्थान जीवसमास आदिको जीव मानते हैं परंतु जो विवेकी हैं और शरीर एवं आत्माको भिन्न २ मानते हैं वे गुणस्थान जीवस्थान आदिको आत्मा स्वीकार नहिं करते। भावार्थ—जबतक जीव अज्ञानी रहते हैं और शरीर एवं आत्माको एक मानते हैं तमीतक वे गुणस्थान जीवस्थान आदिको आत्मा मानते हैं परंतु जिससमय उनको तत्त्वोंका वास्तविक ज्ञान हो जाता है और शरीरको जड़ एवं आत्माको चेतन मान निकलते हैं उससमय वे गुणस्थान जीवस्थान आदिको जीवस्वरूप नहिं मानते ॥ ३८ ॥

प्रमत्तादिगुणस्थानवंदना या विधीयते ।
न तया वंदिताः संति मुनयश्चेतनात्मकाः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिससमय प्रमत्तविरत आदि गुणस्थानोंकी वंदना-स्तुति की जाती है उससमय वे ही वंदनीक गिने जाते हैं उनके धारक चेतनस्वरूप मुनि आदिकी वंदना नहिं होती । भावार्थ—यहां शंका हो सकती है कि यदि प्रमत्तविरत आदि गुणस्थान जीवस्वरूप नही तब उनकी स्तुति क्यों की जाती है, तो उसका आशय यह है कि निर्ग्रंथ लिंगका प्रारंभ छठे गुणस्थान-प्रमत्तविरतसे होता है इसलिये जीव यह जानकर कि प्रमत्तविरत आदि गुणस्थान मुनियोंके होते हैं उनकी (गुणस्थानोंकी) वंदना उपासना कर निकलते हैं परंतु उनसे वे गुणस्थान ही वदनीक गिने जाते हैं उनके धारक मुनि आदि नहीं क्योंकि गुणस्थान आधार और उनके धारक जीव आधेय हैं इसलिये गुणस्थान जीवके शुद्ध स्वरूप नहीं जीवोंसे कथंचित् भिन्न हैं ॥ ३९ ॥

परं शुभोपयोगाय जायमाना शरीरिणां ।
ददाति विविधं पुण्यं संसारसुखकारणं ॥ ४० ॥

अर्थ—हां ! वंदनासे जीवोंके परिणाम शुभ होते हैं और उनसे उनको अनेक प्रकारके पुण्योंकी प्राप्ति होती है जो कि भांति भांतिके संसारके सुखोंके कारण हैं इसलिये वदना निरर्थक नहीं । भावार्थ—संसारमें जो चक्रवर्ती नारायण तीर्थंकर आदिके सुख प्राप्त होते हैं उनकी प्राप्तिमें प्रधान कारण पुण्य है विना पुण्यके यदि कोई चाहै कि मुझे चक्रवर्ती आदिकी विभूतियां प्राप्त हो जांय कभी हो नहिं सकतीं। तथा उस पुण्यकी प्राप्तिमें प्रधान कारण शुभोपयोग है शुभोपयोगके विना पुण्य कभी प्राप्त नहिं हो सकता और शुभोपयोगमें कारण वंदना है इसलिये प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत आदि गुणस्थानोंकी वंदनासे सांसारिक कल्याणोंकी प्राप्ति हो जानेसे वह (वंदना) सर्वथा निरर्थक नहीं है। परंतु उससे मोक्षकल्याण-निराकुलतामयसुख नहिं मिल सकता इसलिये जो मनुष्य निराकुलतामय सुखके अभिलाषी हैं उन्हें शुभ अशुभ दोनों प्रकारके बधोंके नष्ट करनेवाले आत्मिक शुद्धचिद्रूपका ध्यान करना चाहिये । केवल गुणस्थान आदिकी वंदनासे उन्हें निराकुलतामय सुख प्राप्त नहिं हो सकता ॥ ४० ॥

नाचेतने स्तुते देहे स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षणः ।
न कोशे वर्णिते नूनं सायकस्यास्ति वर्णना ॥ ४१ ॥

अर्थ--जिसप्रकार कोश-म्यानके वर्णन करनेसे खड्गका वर्णन नहि हो सकता उसीप्रकार अचेतन देहकी स्तुतिसे ज्ञानलक्षण आत्माकी स्तुति नहिं हो सकती। भावार्थ--खड्गका जो चीड़ना फाड़ना काम है वह म्यानसे नहिं हो सकता और म्यानका काम खड्गसे नहिं हो सकता इसलिये म्यानसे खड्ग और खड्गसे म्यान जिसप्रकार जुदा पदार्थ है और म्यानके वर्णन करनेसे खड्गका वर्णन नहिं हो सकता उसीप्रकार रक्त मज्जा आदि सात धातुओंसे निर्मित शरीर पदार्थ अचेतन है और ज्ञान लक्षणका धारक आत्मा चेतन है इसलिये अचेतन देहकी स्तुतिसे आत्माकी स्तुति नहिं हो सकती किंतु आत्माकी स्तुतिसे ही आत्माकी स्तुति होती है ॥ ४१ ॥

यत्र प्रतीयमानेऽपि न यो जातु प्रतीयते । स ततः सर्वथा भिन्नो रसाद्रूपमिव स्फुटं ॥ ४२ ॥
काये प्रतीयमानेऽपि चेतनो न प्रतीयते । यतस्ततस्ततो भिन्नो न भिन्नो ज्ञानलक्षणात् ॥४३॥

अर्थ--जिसकी प्रतीति होनेपर जिसकी प्रतीति न हो वह उससे सर्वथा भिन्न है जिसप्रकार रससे रूप। शरीरकी प्रतीति होनेपर आत्माकी प्रतीति नहि होसकती इसलिये वह शरीरसे सर्वथा भिन्न है परंतु अपने ज्ञानस्वरूपसे भिन्न नहीं। भावार्थ--चार्वाक-नास्तिकका सिद्धांत है कि जिसप्रकार कोदों आदि पदार्थोंसे तयार किये मदमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उससे मदके पीनेवाले मनुष्य बेहोश हो जाते हैं उसीप्रकार जिससमय पृथ्वी आदि भूतोंका आपसमें मेल हो जाता है उससमय एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वही चैतन्य शक्ति कही जाती है इसलिये आत्मा देह स्वरूप ही है देहसे भिन्न पदार्थ नहीं। इसी सिद्धांतका यहां ग्रंथकारने खंडन किया है अर्थात् यदि आत्माको देहस्वरूप माना जायगा तो देहकी प्रतीतिके समय आत्माकी भी प्रतीति होनी चाहिये। सो तो होती नहीं इसलिये जिसप्रकार रसके प्रतीतिकालमें रूपकी प्रतीति न होनेसे रूप रससे सर्वथा भिन्न है उसीप्रकार शरीरकी प्रतीतिसे आत्माकी भी प्रतीति नहिं होती इसलिये शरीरसे आत्मा सर्वथा भिन्न है--शरीर कभी चेतनस्वरूप नहिं हो सकता परंतु अपने ज्ञानलक्षणसे आत्माकी भिन्नता नहीं-वह नियमसे ज्ञानस्वरूप है ॥ ४२--४३ ॥

दृश्यते ज्ञायते किंचिद्यदक्षैरनुभूयते ।
तत्सर्वमात्मनो वाह्यं विनश्वरमचेतनं ॥ ४४ ॥

अर्थ–इंद्रियोंसे जो कुछ आत्माका स्वरूप देखने जानने और अनुभव करनेमें आता है वह सब उसका वाह्य स्वरूप है एवं वह विनाशीक और अचेतन है। भावार्थ–जो पदार्थ मूर्तीक हैं जिनमें स्पर्श रस गंध वर्णस्वरूप मूर्ति विद्यमान है इंद्रियां उन्हींको विषय करसकती हैं अमूर्तिक पदार्थोंको नहीं । आत्मा अमूर्तिक चेतन है उसके शुद्धस्वरूप ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं इसलिये इंद्रियोंकी यह सामर्थ्य नहीं कि वे इसके स्वरूपको देख जान सकें परंतु कभी कभी यह आत्मा क्रोध मान आदि विभावरूप हो जाता है और जिससमय यह क्रोध मान आदि करता है उससमय इसके राग क्रोध आदि रूपको इंद्रियोंके द्वारा दूसरे जीव देख जान लेते हैं और अनुभव भी करलेते हैं तथा ये राग आदि कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हुये हैं इनके उत्पादक कारण अचेतन कर्म हैं और विनाशीक हैं-पलभरमें नष्ट हो जानेवाले हैं इसलिये ये आत्माके स्वरूप नहीं किंतु केवलज्ञान केवलदर्शन आदि आत्माके स्वरूप हैं क्योंकि ये केवल आत्मासे प्रकट हुये हैं-इनके विकासमें कारण चेतन आत्मा है इसलिये ये चेतन हैं और कभी भी नष्ट नहिं हो सकते इसलिये अविनाशीक हैं ॥ ४४ ॥

न निर्वृतिं गतस्यास्ति तद्रूपं किंचिदात्मनः ।
अचेतनमिदं प्रोक्तं सर्वं पौद्गलिकं जिनैः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जिससमय यह आत्मा मोक्ष धामको प्राप्त हो जाता है–ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशकर अक्षय और अव्यावाध सुखका भोग करने लग जाता है उससमय रागद्वेष आदि कोई भी रूप इसके विद्यमान नहिं रहता क्योंकि राग द्वेष आदि पुद्गलीक हैं-पुद्गलकर्मसे उत्पन्न हैं इसलिये अचेतन हैं और मोक्ष अवस्थामें जड़ चेतनका सर्वथा भेद हो जाता है । भावार्थ–आत्मा जीवात्मा और परमात्माके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मोंके संबंधसे जो आत्मा संसारमें परिभ्रमण करता है वह जीवात्मा है और जिसने केवलज्ञान दर्शन आदि विभूतियोंको प्राप्त करलिया है जो अविनाशी और निर्वाण धाममें विराजमान है वह परमात्मा है । जबतक यह जीवात्मा संसारमें भटकता

फिरता है तबतक कर्मोंके संबंधसे इसके क्रोध आदि विभाव स्वरूप उत्पन्न होते रहते हैं और उनका इंद्रियोंसे देखना जानना और अनुभव भी होता रहता है किंतु जिससमय यही जीवात्मा परमात्मा हो जाता है उससमय कर्मोंका संबंध सर्वथा और सदाकेलिये छूट जाता है और कर्मोंके अभावसे इसके क्रोध आदि विकार भी नहिं उत्पन्न होते। इसलिये क्रोध आदि विकारजन्य जो रूप इस संसारी आत्माका देखनेमें आता है वह मोक्ष अवस्थामें चेतन और जड़का सर्वथा भेद हो जानेसे नहीं रहता। वहां तो शुद्ध निष्कलंक रूप प्रगट होजाता है ॥ ४५ ॥

विकाराः संति ये केचिद्रागद्वेषमदादयः।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजाः ॥ ४६ ॥

अर्थ–राग द्वेष मोह आदि जितनेभर विकार हैं सब कर्मज हैं-इनकी उत्पत्ति ज्ञानावरणादि कर्मोंसे होती है और जिसप्रकार मेघसे सूर्यमें अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार कर्मोंसे ये आत्मामें उत्पन्न हो जाते हैं। भावार्थ–सूर्य पदार्थ अखंड तेजका पुंज है और समस्त पदार्थोंको प्रकाशमान करना उसका स्वभाव है परंतु जबतक उसपर मेघका पर्दा पड़ा रहता है तबतक उसमें अनेक (स्पष्टरूपसे पदार्थोंका न दिखाना आदि) विकार उत्पन्न होते रहते हैं और उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहि होता किंतु जिससमय वह मेघकी आड़से बाहिर निकल आता है–उसपर जराभी मेघका पर्दा नहिं रहता उससमय वह अखंड प्रभा पुंजसे चमचमाता हुआ सबोंकी दृष्टि गोचर होता है और समस्त विकारोंसे रहित होकर पदार्थोंको प्रकाशित करता है। उसीप्रकार यह आत्मा भी देदीप्यमान ज्ञान आदि गुणोंका पुंज है जब तक इसपर ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आदि कर्मोंका पर्दा पड़ा रहता है तबतक यह नर नारक आदि गतियोंमें भ्रमण करता फिरता है और कर्मके संबधसे उत्पन्न राग द्वेष आदि विकारोंसे कभी रागी और कभी द्वेषी आदि बना करता है परंतु जिससमय कर्मोंसे सर्वथा और सदाके लिये जुदा हो जाता है उससमय राग आदि विकारोंके अभावसे इसका वास्तविक ज्ञानादिस्वरूप प्रकट हो जाता है और यह संसारके स्थूल सूक्ष्म समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जान देख लेता है इसलिये यह बात युक्तिसिद्ध है कि रागादि भाव कर्मजनित अचेतन हैं आत्मजनित चेतन नहीं ॥ ४६ ॥

अनादावपि संबंधे जीवस्य सह कर्मणा।

न जीवो याति कर्मत्वं जीवत्वं कर्म वा स्फुटं ॥ ४७ ॥

अर्थ—यद्यपि जीव और कर्मोंका संबंध अनादिकालसे है तथापि जीव कभी कर्मस्वरूप नहिं होता और कर्म जीवस्वरूप नहिं होता। भावार्थ—जिसप्रकार सुवर्णपाषाण (जिससे सोना उत्पन्न होता है) और सुवर्णका आपसमें अनादिकालसे संबंध है वहां यह नहिं कहा जासकता कि पहिले सुवर्ण है वा पहिले पाषाण है परंतु यह कभी नहिं हो सकता कि सुवर्ण पाषाणस्वरूप और पाषाण सुवर्णस्वरूप हो जाय क्योंकि जिससमय सुवर्णपाषाण अग्निसे तपाया जाता है उससमय वह जुदा होजाता है और सुवर्ण जुदा हो जाता है उसीप्रकार आत्मा और कर्मका भी अनादि कालसे संबंध है यह कभी नहिं कहा जा सकता कि कर्म पहिलेसे है वा आत्मा पहिलेसे है और यह भी नहिं हो सकता कि आत्मा कर्मस्वरूप और कर्म आत्मस्वरूप हो जाय किंतु जिससमय कर्मोंके क्षयकेलिये तप आदिका आचरण किया जाता है उससमय कर्म उससे जुदे हो जाते हैं और आत्मा जुदा हो जाता है एवं वह अपने अखंड ज्ञान आदिसे जगमगा निकलता है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जीव और कर्मका अनादिकालसे एकमेक होनेपर भी वे सर्वथा जुदे हैं-न तो जीव कर्मस्वरूप परिणत हो सकता है और न कर्म जीवस्वरूप परिणत हो सकते हैं।

आत्मना कुरुते कर्म यद्यात्मा निश्चितं तदा।
कथं तस्य फलं भुंक्ते स दत्ते कर्म वा कथं ॥ ४८ ॥

अर्थ—यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा स्वयं कर्मोंका कर्ता है तो वह कर्मोंके फलको क्यों भोगता है? वा कर्म भी उसै क्यों फल देते हैं। भावार्थ—यह एक साधारण नियम है कि जीव उसी कामके करनेमें प्रवृत्त होता है जिसको कि वह यह समझ लेता है कि इससे मुझै कल्याण मिलैगा किंतु अकल्याणकारी कार्यमें कभी प्रवृत्त नहिं होता। कर्म दो प्रकारके हैं एक शुभ-कल्याणकारी। दूसरा अशुभ—अकल्याणकारी। यदि जीव स्वय शुभ अशुभ कर्मका संचय करता है तो वह उसके सुख दुःखदायी फलको क्यों भोगता है 'जान बूझकर खड्डेमें कौन गिरता है?' इस कहावतके अनुसार उसै अपने किये कर्मका कैसा भी फल न भोगना चाहिये। खैर, जीव फल भोगै भी तो कर्मको क्यों फल भुगाना चाहिये क्योंकि वह आत्मासे ही उत्पन्न है और उसीको अपना फल भुगावे यह अनुचित है। यहां यह

न समझना चाहिये कि यदि कर्म अपना सुखरूप फल भुगाता है और जीव भोगता है तो अच्छा ही है क्योंकि वह सुख सुख नहीं दुःख ही है असली सुख निराकुलतामय है और वह कर्मोंके अभावमें प्राप्त होता है इसलिये मानना पड़ेगा कि आत्मा स्वयं कर्मोंका उपार्जन नहिं करता किंतु रागद्वेष आदि भावोंसे कर्मोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये राग आदि भाव और कर्मोंका आपसमें कार्य कारण भाव है, आत्मा और कर्मोंका नहीं ॥ ४८ ॥

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः शामिकाः क्षयशमोद्भवाश्च ये ।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्ते भवंति निखिला विचेतनाः ॥ ४९ ॥

अर्थ—कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले औदयिक भाव, उपशमसे होनेवाले औशमिक और क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक भाव जो कि भिन्न २ रूपसे शास्त्रोंमें वर्णित हैं सब विचेतन हैं—चेतनाशक्तिसे शून्य हैं । भावार्थ—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये जीवोंके पांच भाव हैं । जो भाव किसी कर्मके उपशमसे हों वे औपशमिक हैं, क्षयसे उत्पन्न हों वे क्षायिक, क्षयोपशमसे उत्पन्न हों वे क्षायोपशमिक, कर्मके उदयसे हों वे औदयिक और जिन भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंका उपशम क्षय क्षयोपशम और उदय कारण न पडे जो जीवके स्वभावसे ही हों वे पारिणामिकभाव हैं । तथा औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो भेद औपशमिक-भावके हैं । क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग क्षायिक उपभोग, और क्षायिकवीर्य ये नो भेद क्षायिक भावके हैं । मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान, कुमति कुश्रुति और कुअवधि ये तीन प्रकारके अज्ञान, चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन प्रकारके दर्शन, क्षायोपशमिक दान; क्षायोपशमिकलाभ; क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग; और क्षायोपशमिक वीर्य ये पांच तरहकी लब्धियां, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सरागचारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) ये अठारह भेद क्षायोपशमिक भावके हैं । देव मनुष्य नरक और तिर्यंच ये चार प्रकारकी गतियां, क्रोध मान माया और लोभ ये चारप्रकारके कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद ये तीन प्रकारके लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, और पीत पद्म शुक्ल कृष्ण नील कपोत छै लेश्या ये इक्कीस भेद औदयिक भावके हैं और जीवत्व भव्यत्व और अभ-

व्यत्व ये तीन भेद पारिणामिक भावके हैं इसप्रकार जीवके सब मिलाकर त्रेपन भाव हैं इनमें नौ प्रकारके क्षायिकभाव और तीन प्रकारके पारिणामिक भाव चेतन हैं और शेष सब भाव अचेतन हैं ॥ ४९ ॥

अजीवतत्त्वं न विदंति सम्यक् यो जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तं ।
चरित्रवंतोऽपि न ते लभंते विविक्तमात्मानमपास्तदोषं ॥ ५० ॥

अर्थ—जो जीव जीवतत्त्वसे सर्वथा भिन्न अजीवतत्त्वको नहि जानते-अजीवतत्त्व क्या है? इसबातकी जिन्हें मालूम नहीं वे चारित्रके धारक होनेपर भी अचेतन कर्मोंसे सर्वथा भिन्न और निर्दोष परमात्मापनको प्राप्त नहिं हो सकते। भावार्थ—जिसप्रकार कीट कालिमादिसे युक्त सुवर्णको कीट कालिमा और सुवर्णके स्वरूपका अनभिज्ञ पुरुष कितना ही तपावे जलावे और पीटे कभी भी उसे (सुवर्णको) शुद्ध नहीं बना सक्ता-दोनोंका भिन्न भिन्न लक्षण ज्ञात न होनेसे कीट कालिमा और सुवर्णको पृथक् पृथक् नहीं कर सक्ता उसीप्रकार जीवके शुद्धस्वरूप और अजीवके लक्षणको नहीं जाननेवाला पुरुष कितना ही और कैसा भी तप क्यों न तपे कभी भी अजीव कर्मोंसे संयुक्त आत्माको उनसे रहित निर्दोष नहीं बना सक्ता इसलिये शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभिलापियोंको चारित्रवान् होकर भी अजीवतत्त्वका वास्तविक स्वरूप अवश्य जानना चाहिये ॥ ५० ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरगिणी) ग्रथमे अजीवाधिकार समाप्त हुआ ॥ २ ॥

आस्रवाधिकार ॥ ३ ॥

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योगवृत्तयः ।
सामान्येन प्रजायंते दुरितास्रवहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—जो योग वृत्तियां-मन वचन कायके व्यापार शुभ और अशुभ उपयोगसे रंजित हैं वे ही सामान्यरूपसे कर्मास्रव-कर्मोंके लानेमें कारण हैं। भावार्थ—योगका अर्थ यहां मन वचन काय लिया गया है और वृत्तिका अर्थ व्यापार है। जिससमय मन शुभकार्य—देववंदना आदिमें अनुरक्त होता है उससमय शुभ कर्मोंका आस्रव होता है और जिससमय वह अशुभ कार्य—चोरी झूठ और कुशील आदिकी ओर प्रवृत्त होता है उससमय अशुभ कर्मोंका आस्रव

होता है । जिससमय वचनसे सच्चे देवकी स्तुति और गुणियोंका गुणगान आदि किया जाता है उससमय शुभ कर्मका आस्रव होता है और जिससमय परनिंदा और गाली गलोंज आदि किये जाते हैं उससमय अशुभकर्मोंका आस्रव होता है । जिससमय शरीरसे सच्चे देवकी प्रतिमाका पूजन और धर्मात्मा मनुष्योंकी सेवा शुश्रूषा आदि किये जाते हैं उस-समय शुभ कर्मोंका आस्रव और जिससमय कुशील सेवन, जीवोंकी हिंसा आदि किये जाते हैं उससमय अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि सामान्यरूपसे कर्मोंको आत्माकी ओर लानेवाले शुभ उपयोग और अशुभ उपयोगसे युक्त मन वचन कायके व्यापार हैं ॥ १ ॥

मिथ्यादृक्त्वमचारित्रं कषायो योग इत्यमी !
चत्वारः प्रत्ययाः संति विशेषेणाघसंग्रहे ॥ २ ॥

अर्थ—विशेषरूपसे मिथ्यादर्शन अविरति कषाय और योग ये चार पापास्रवके कारण हैं इन्हीं कारणोंसे पापोंका आस्रव होता है । भावार्थ—शास्त्रकारोंने मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान अविरति प्रमाद कषाय और योग ये छे कर्मास्रवके कारण बतलाये हैं इसलिये यहां मिथ्याज्ञान और प्रमादको भी विशेषरूपसे कारण समझलेना चाहिये। अतत्त्वोंका श्रद्धान करना मिथ्यात्व वा मिथ्यादर्शन है और वह गृहीतमिथ्यात्व अगृहीतमिथ्यात्वके भेदसे दो प्रकारका है । पाखंडी गुरु-ओंके उपदेश वा कुशास्त्रोंके श्रवणसे अतत्त्व श्रद्धान होना गृहीतमिथ्यात्व है और परोपदेश आदिके विना ही पूर्वोपार्जित मिथ्यात्वकर्मके उदयसे अतत्त्वश्रद्धान होना अगृहीतमिथ्यात्व है एवं इसको निसर्गज मिथ्यात्व भी कहते हैं । गृहीत-मिथ्यात्वके एकांतमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व, और अज्ञानमिथ्यात्व ये पांच भेद हैं। पदार्थमें अनेक धर्म होते हैं उनसबको न मानकर किसी एक ही धर्मको मानना और जो केवल उसीका श्रद्धान करना है उसका नाम एकांतमिथ्यात्व है।केवलीको कवलाहारी, सग्रंथको निर्ग्रंथ और स्त्री को मोक्ष, इत्यादि विपरीत श्रद्धा-नका नाम विपरीतमिथ्यात्व है । धर्म अहिंसारूप है या नहीं ऐसे संदेहरूप श्रद्धानको संशयमिथ्यात्व कहते हैं । देव कुदेव सबको एकसा मानकर सबकी भक्ति वंदना करना विनयमिथ्यात्व और हिताहितका परीक्षापूर्वक श्रद्धान न करना अज्ञानमिथ्यात्व है । छै कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग नहिं करना तथा पांच इंद्रिय और मनको वश न रखना बारह प्रकारकी अविरति है। क्रोध मान माया लोभ आदि पचीस प्रकारके कषाय हैं और सत्य मनोयोग असत्य

मनोयोग आदि पंद्रह प्रकारके योग हैं इसीप्रकार संशय विपर्यय अनध्यवसाय तीनप्रकारके मिथ्याज्ञान और स्त्रीकथा भोजनकथा राजकथा देशकथा ये चारप्रकारकीं कुकथा, क्रोध मान माया लोभ चारप्रकारके कषाय, स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां, और निद्रा एवं राग ये पंद्रह प्रकारके प्रमाद हैं इसरीतिसे ये मिथ्यात्व आदि, कर्मोंके आस्रवके कारण हैं इनमें प्रवृत्त होनेसे नियमसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥ २ ॥

सचित्ताचित्तयोर्यावद् द्रव्ययोः परयोरयं । आत्मीयत्वमतिं धत्ते तावन्मोहो विवर्धते ॥ ३ ॥

तेषु प्रवर्तमानस्य कर्मणामास्रवः परः । कर्मास्रवनिमग्नस्य नोत्तारो जायते ततः ॥ ४ ॥

अर्थ–जबतक सचित अचित्त दोनोंप्रकारके परद्रव्योंमें 'ये सब मेरे हैं' ऐसी मति बनी रहती है तबतक मोह बढ़ता चला जाता है और जबतक उन सचित्त अचित्त द्रव्योंमें मोहसे प्रवृत्ति होती रहती है तबतक कर्मोंका आस्रव होता रहता है एवं जिस जीवके कर्मोंका आस्रव होता है उसका कभी उद्धार नहिं हो सकता–वह कभी भी परमात्मा नहिं बन सकता । भावार्थ–जो द्रव्य चेतनयुक्त हों वे सचित्त कहे जाते हैं और वे पुत्र स्त्री दासी दास आदि हैं तथा जिनमें चेतना शक्ति न हो वे अचित्त हैं और उन्हें सुवर्ण धन धान्य आदि कहते हैं । जबतक इन दोनोंप्रकारके द्रव्योंमें जीवके ये भाव बने रहते हैं कि ये मेरे हैं पर नहीं तबतक सदा इसके मोहकी बढ़वारी होती रहती है और जिससमय यह उन द्रव्योंके अपनानेमें वा रक्षण आदिमें प्रवृत्ति करता है उसीसमयसे इसके कर्मोंका आस्रव होने लगता है और कर्मोंके आस्रवसे इसका उद्धार नहि होता–यह चाहैं कि मैं मोक्ष प्राप्त करलूं कभी कर नहिं सकता अर्थात् यह आत्मा मानिंद तालावके है क्योंकि जिसप्रकार तालावमें नालियोंके द्वारा जबतक पानी आया करता है तबतक वह कभी पानी से खाली नहिं होता किंतु जिससमय उसकी जल आनेकी नालियां बंद करदी जाती हैं उससमय नवीन पानी आना तो बंद हो जाता है और धीरे धीरे उसके भीतरका भी पानी सूख जाता है इसलिये अंतमें वह तालाब भी सूखा हो जाता है उसीप्रकार जबतक इस आत्मामें कर्म आते रहते हैं तबतक यह कर्मोंके वजनसे दबता चला जाता है और जब इसके आस्रवके कारण नष्ट हो जाते हैं तब यह अपने पूर्वसंचित कर्मोंको नष्टकर निर्वाण स्थान प्राप्त करलेता है इसलिये जीवोंको चाहिये कि वे मोहको जीतकर सचित्त अचित्त द्रव्योंको न अपनावें जिससे उनके कर्मोंका आना बंद होजाय।

मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहं ।
यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ॥ ५ ॥

अर्थ-कर्मजनित द्रव्य मेरे हैं और मैं कर्मजनित द्रव्योंका हूं जवतक जीवकी यह भावना वनी रहती है तबतक उसकी मिथ्यात्वसे निवृत्ति नहिं होती। भावार्थ-विपरीत श्रद्धान करना-तत्त्वको अतत्त्व मानना मिथ्यात्व है जब तक यह भावना वनी रहती है कि कर्मजनित पदार्थ शरीर धन धान्य आदि मेरे हैं और मैं उनका हूं तब तक कभी भी मिथ्यात्वसे निवृत्ति नहिं हो सकती क्योंकि शरीर आदि जड हैं और आत्मा चेतन है इसलिये न कभी जड़ शरीर आदि चेतनस्वरूप हो सकते हैं और न चेतन, जड़ शरीर आदिस्वरूप हो सकता है ॥ ५ ॥

आसमस्मि भविष्यामि स्वामी देहादिवस्तुनः ।
मिथ्यादृष्टेरियं बुद्धिः कर्मागमनकारिणी ॥ ६ ॥

अर्थ-शरीर स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोंका मैं पहिले भी स्वामी था अब भी हूं और आगे भी हूंगा ऐसी जो मिथ्यादृष्टिकी भावना और गाढ़ श्रद्धा है उससे नियमसे कर्मोंका आस्रव होता है। भावार्थ-पित्तके ज्वरवाले मनुष्यको मीठा भी दूध जिसप्रकार कड़वा लगता है उसीप्रकार जो जीव मिथ्यादृष्टि है उसे भी वास्तविक तत्त्वोंका श्रद्धान नहि होता सर्वद्रष्टा सर्वज्ञने जो जीव अजीवका स्वरूप वतलाया है उसे वह मिथ्या वा विपरीत समझता है इसलिये आत्मा और शरीर आदिका भेद न समझकर जो उसकी यह भावना रहती है कि मैं शरीर आदि द्रव्योंका पहिले भी स्वामी था अब भी हूं और आगे भी हूंगा उससे निरंतर उसके कर्मोंका आस्रव होता है ॥ ६ ॥

चेतनेऽचेतने द्रव्ये यावदन्यत्र वर्तते ।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्कर्मागच्छन्न वार्यते ॥ ७ ॥

अर्थ-जबतक इस जीवकी बुद्धि चेतन अचेतन द्रव्योंमें फसी रहती है तबतक इसके कर्मोंका आगमन नहिं रुकता सदा इसके कर्म आते रहते हैं। भावार्थ-जीवका निजस्वरूप केवल ज्ञानादि है-ज्ञानादिसे भिन्न चेतन अचेतन कोई भी पदार्थ इसका नहीं परंतु यह अपनी मूढ़ बुद्धिसे जबरन चेतन अचेतन पदार्थोंकी ओर गिरता है-प्रतिसमय उन्हें अपने

मानता रहता है इसलिये इसके कर्मास्रवकी निवृत्ति नहिं होती-सदा इसके शुभ अशुभ दोनोंप्रकारके कर्मोंका आस्रव होता रहता है क्योंकि निजस्वरूपको छोड़कर परस्वरूपकी ओर झुकना ही कर्मास्रवका द्वार खोलदेना है ॥ ७ ॥

शुभाशुभस्य भावस्य कर्तात्मीयस्य वंधनः । कर्तात्मा पुनरन्यस्य भावस्य व्यवहारतः ॥ ८ ॥
श्रित्वा जीवपरीणामं कर्मास्रवति दारुणं । श्रित्वोदेति परीणामो दारुणं कर्म दारुणं ॥ ९ ॥
कार्यकारणभावोयं परिणामस्य कर्मणा । कर्मचेतनयोरेष विद्यते न कदाचन ॥ १० ॥

अर्थ–निश्चयनयसे कर्म जीवके शुभ अशुभ परिणामोंका कर्ता है और जीव तो उनका व्यवहारसे कर्ता है क्योंकि जीवके शुभ अशुभ परिणामोंके आश्रयसे कर्मोंका आस्रव होता है और कर्मोंके अवलंबनसे शुभ अशुभ परिणाम उदित होते हैं इसरीतिसे कर्म और जीवके परिणामोंका आपसमें कार्य कारण भाव है जीव और कर्मोंका कभी आपसमें कार्य कारण भाव नहिं हो सकता। भावार्थ–यदि शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो यह जीव निष्क्रिय और टांकीसे उकीले हुयेके समान केवलज्ञायक स्वभावका धारक है परंतु व्यवहारसे यह कहदिया जाता है कि यह कर्म आदि परद्रव्योंका भी कर्ता है किंतु शुभ अशुभ भाव-राग द्वेष आदिका तो कर्ता कर्म ही है अतः जिसप्रकार वीजसे वृक्ष और वृक्षसे वीज उत्पन्न होता है इसलिये आपसमें दोनों ही दोनोंके कारण और कार्य हैं उसीप्रकार जीवके परिणामोंसे शुभ अशुभ कर्मोंकी उत्पत्ति होती है और कर्मोंसे शुभ अशुभ परिणाम उदित होते हैं इसलिये दोनों ही आपसमें एक दूसरेके कार्य और कारण हैं इसरीतिसे जीवके भाव और कर्मोंका ही आपसमें कार्यकारणभाव है जीव और कर्मोंका नहीं ॥ ८–१० ॥

आत्मानं कुरुते कर्म यदि कर्म तदा कथं ।
चेतनाय फलं दत्ते भुंक्ते वा चेतनः कथं ॥ ११ ॥

अर्थ-यदि कर्म स्वयं अपनेको करता है तो वह आत्माको क्यों फल देता है? वा आत्माही क्यों उसके फलको भोगता है? भावार्थ–संसारमें यह रीति प्रचलित है कि जो जिसकामको करता है वही उसके फलको भोगता है यदि मनुष्य विद्या पढ़ता है तो वही उसके फलको भोगता है वही विद्वान् और आदरणीय कहा जाता है यदि वह चोरी

करता है तो भी वही उसके फलको भोगता है—वही चोर और निकृष्ट समझा जाता है यह कभी नहिं हो सकता कि कार्य दूसरा करै और उसके फलको दूसरा भोगे। यदि कर्म स्वयं अपनेको करता है तो वह अपना भयंकर फल आत्माको क्यों प्रदान करता है? अथवा आत्मा ही मूढ़ क्यों उसके फलको भोगता है? इसलिये मानना पड़ेगा कि कर्मोंके करनेवाले जीवके शुभ अशुभ भाव हैं और शुभ अशुभ भावोंका कर्ता जीव है इसलिये जीवको कर्मका फल भोगना पड़ता है किंतु जीव कर्मोंको करता है अथवा कर्म कर्मको करते हैं इसलिये जीव उनके शुभ अशुभ फलको भोगता है यह बात नहीं ॥ ११ ॥

परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते ।
न कोऽपि सुखदुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथं ॥ १२ ॥

अर्थ—क्योंकि यदि कर्म दूसरा करैगा और उसका फल दूसरा भोगेगा तो कोई भिन्न ही पुरुष क्यों न दुःख सुखसे मुक्त हो सकैगा—सुख दुःखसे छुटकारा पानेकेलिये न भी प्रयास करनेवाला मनुष्य उनसे मुक्त हो जायगा। भावार्थ—ऊपर बतलादिया गया है कि संसारी और मुक्तके भेदसे जीवोंके दो भेद हैं और उनमें समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले अनतज्ञानादि आत्मिकगुणोंसे भूषित लोकके ऊर्ध्व भागपर पहुंचे हुये तो मुक्त हैं और संसारमें जहां तहां भटकनेवाले संसारी हैं। यदि यह एक साधारण नियम हो जायगा कि कर्म दूसरा करै और फल दूसरा भोगे तो जो जीव सुख दुःखसे दूर होनेकेलिये प्रयत्न नहिं करते वे भी सुख दुःखसे मुक्त हो जायगे तथा इसरीतिसे जो जीव मुक्त हैं वे भी सुख दुःखसे रहित न हो सकेंगे अथवा जो संसारी जीव मोक्षके लिये प्रयास करते हैं उनका भी प्रयास सर्वथा निष्फल हो जायगा इसलिये यही स्वीकार करना पड़ेगा कि जो करता है वही भोगता है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि यदि जीवके भाव, कर्मोंको करते हैं तो उन्हींको कर्मके फल भोगने चाहिये? क्योंकि राग आदि जीवकी विभाव पर्याय हैं और वे उससे सर्वथा भिन्न नहीं इसलिये यद्यपि कर्मोंके कर्ता राग आदि हैं तथापि फल उनका जीव ही भोगता है ॥ १२ ॥

जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसं ।

जायते भास्वरस्येव शुद्धस्य घनमंडलं ॥ १३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार ज्वलंत प्रभाके धारक भी सूर्यको मेघ मंडल ढकलेता है उसीप्रकार अतिशय विमल भी आत्माके स्वरूपको मलिन कर्म ढक देते हैं। भावार्थ—यदि देखाजाय तो सूर्यके समान दुनियामें कोई भी पदार्थ अधिक जाज्वल्यमान नहीं—यह समस्त तेजस्वियोंके तेजको फीका करदेता है परंतु जिससमय इसके ऊपर मेघका पर्दा आकर पड़ जाता है उससमय इसका तेज ढक जाता है-पूर्ण स्वरूप प्रकट नहिं होता किंतु जब इसके ऊपरसे मेघका पर्दा हट जाता है उससमय इसका पूर्णस्वरूप स्फुट हो जाता है और पदार्थोंको प्रकाशमान करने लगता है उसीप्रकार यह आत्मा भी ज्वलंत ज्ञानादि गुणोंका अखड पिंड हैं परंतु कर्मोंसे आच्छन्न होनेके कारण इसका असली स्वरूप प्रकट नहिं होता। कर्मोंके जालमें फस जानेके कारण यह सदा चतुर्गति रूप संसारमें घूमता रहता है और कभी क्रोधी कभी मानी आदि बना करता है। कर्मोंके दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। कर्मस्वरूप परिणत पुद्गलके पिंडको द्रव्य कर्म कहते हैं और जो द्रव्य कर्मका फलस्वरूप हो वह भावकर्म है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र, और अंतराय ये आठ मूल द्रव्य कर्म हैं और राग द्वेष क्रोध आदि भावकर्म हैं। जिसप्रकार मेघ मंडल सूर्यको ढक देता है उसीप्रकार जो आत्माके ज्ञान गुणको ढकदे वह ज्ञानावरण कर्म है। जिसप्रकार ड्योढ़ीवान राजाके दर्शनसे मनुष्यको वंचित रखता है उसीप्रकार जो समस्त पदार्थोंके दर्शनसे आत्माको वंचित रक्खे वह दर्शनावरण कर्म है। जिसप्रकार शहद लिपेटी छुरीके चाटनेसे सुख दुःख अर्थात् छुरीकी धारद्वारा जीभके कटजानेसे दुःख और शहदके मिठाससे सुख मिलता है उसीप्रकार जो जीवको सुख किंवा दुःख भुगाता है वह वेदनीय कर्म है। जिस प्रकार शराब मनुष्यको बुद्धिशून्य बना देती है उसीप्रकार जो मनुष्यको मूढ़ बनादे अपने परायेका भले प्रकार ज्ञान न होने दे वह मोहनीय कर्म है। जिसप्रकार बेड़ी मनुष्यको एक स्थानसे दूसरे स्थान तक नहिं जाने देती-वह मनुष्य उसी स्थानपर पड़ा रहता है उसीप्रकार जिस जीवने जिस गतिकी जितनी आयु बाँधी है उतनी आयुपर्यंत उसे उसी गति में जो डाट रहै, उसगतिसे दूसरी गतिमें न जानेदे वह आयुकर्म है। जिसप्रकार चित्रकार नवीन २ चित्रोंकी रचना करता है उसीप्रकार जो भांति २ के गति जाति शरीर और अंगोपाग आदिकी रचना करे वह नाम कर्म है। कुम्हार जिसप्रकार छोटे बड़े वर्तन बनाता है उसीप्रकार जिसके द्वारा कभी नीच और कभी ऊंच कुलमें जन्म लेना पड़े वह

गोत्र कर्म और दान देनेमें जैसा भंडारी विघ्न करता है उसीप्रकार दान आदि में जो विघ्न डाले वह अंतराय कर्म है। तथा जो प्रेम उत्पन्न करै वह राग, जो घृणा आदि करै वह द्वेष और जिनके उदयसे गुस्सा आदि हों वे क्रोध आदि ये सब भावकर्म हैं इसप्रकार इन दोनों प्रकारके कर्मोंसे यह संसारी आत्मा सदा आच्छन्न रहता है और इसका असली स्वरूप व्यक्त नहिं होता ॥ १३ ॥ कषाय भी कर्मास्रवमें कारण हैं यह वतलाते हैं—

कषायश्रोतसागत्य जीवे कर्मावतिष्ठते।
आगमेनेव पानीयं जाड्यकारं सरोवरे ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सरोवरमें नालियोंके द्वारा शीतको करनेवाला पानी आता है उसीप्रकार इस जीवमें भी कषायरूपी स्रोत द्वारा जड़ बनानेवाले सांपरायिक (संसारके कारण) कर्मोंका आस्रव होता रहता है। भावार्थ—जिसप्रकार जो सरोवर सोतीला (स्रोतयुक्त) होता है उसमें सदा पानी वना रहता है और हमेशह उन स्रोतोंसे पानी आया करता है उसीप्रकार यह संसारी जीव सदा कर्मोंसे वद्ध है और जैसा यह क्रोध मान माया लोभ आदि स्वरूप परिणत होता रहता है तैसे २ सदा इसके सांपरायिक कर्मोंका आगमन बना रहता है—इसके कषाययुक्त होनेपर कर्म न आवें यह बात नहिं हो सकती। इसलिये तालावमें नवीन पानीके लानेमें जैसे स्रोत कारण हैं उसीप्रकार इस आत्मारूपी तालावमें संसारके कारण कर्मरूपी पानीके लानेमें कषायरूपी स्रोत कारण हैं ॥ १४ ॥ क्योंकि—

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छाति कल्मषं।
तदा संपद्यते मुक्तिर्न कस्यापि कदाचन ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि कषायरहित जीवके भी सांपरायिक कर्मोंका आगमन होता रहेगा तो कभी भी कोई फिर मुक्त न हो सकेगा। भावार्थ—जहांपर क्रोध आदि कषायोंकी विद्यमानता नहिं है समस्त कर्मोंका नाश होगया है ऐसी निराकुलतामय सुखस्वरूप अवस्थाका नाम मोक्ष है और जिन्होंने इस अवस्थाको प्राप्तकरलिया है वे मुक्त कहलाते हैं। यदि यह मान लिया जायगा कि जहांपर समस्त कषायोंका नाश होगया है सांपरायिक कर्मोंका आना वहां भी वंद नहिं होता तो मोक्ष किसीको भी प्राप्त न हो सकैगी तथा जो महात्मा कषायरहित जीवन्मुक्त होगये हैं उन्हें जीवन्मुक्त न कहकर

संसारी कहना पड़ेगा क्योंकि संसारियोंमें कषायोंके द्वारा जैसे कर्म आते रहते हैं और उनका फलस्वरूप सुख दुःख उन्हें भोगना पड़ता है उसीप्रकार कषायरहित होनेपर जीवन्मुक्त जीवोंको भी कर्मोंके आस्रवसे सुख दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिये यह नियम स्वीकार करना पड़ेगा कि जहां कषाय मोजूद हैं वहीं सांपरायिक कर्मोंका आस्रव है और जहांपर कषायकी विद्यमानता नहीं वहां कर्मोंका आस्रव भी नहीं। जो जीव जीवन्मुक्त हैं उनके कषाय नहीं इसलिये उनके सांपरायिक कर्मोंका आस्रव नहिं होता और उनसे भिन्न जिन जीवोंके कषायोंका सद्भाव है उनके नियमसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥ १५ ॥ तथा—

नान्यद्रव्यपरीणाममन्यद्रव्यं प्रपद्यते ।
स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेयं परस्य घटते कथं ॥ १६ ॥

अर्थ–जो परिणाम एक द्रव्यका है वह दूसरे द्रव्यका परिणाम नहिं हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक द्रव्यका परिणाम दूसरी द्रव्यका भी होता है तो संकर दोष आजानेसे यह निज द्रव्य है और यह अन्य द्रव्य है ऐसी व्यवस्था ही नहिं बन सकती। इसलिये जड़ कर्मोंकी कषाय रागादि पर्यायें, चेतन आत्माकी नहीं हो सक्तीं और जब उसके वे पर्याय ही नहीं तब कषायोंसे आनेवाले कर्मोंका आना भी नहीं हो सक्ता। भावार्थ–मूलमें पदार्थोंके दो भेद हैं एक चेतन, दूसरे अचेतन। चेतनके परिणाम ज्ञान दर्शन आदि और अचेतनकर्मोंके परिणाम रागद्वेष आदि हैं। यहांपर यह कभी नहिं हो सकता कि चेतनके परिणाम ज्ञान दर्शन आदि जड़कर्मोंके परिणाम हो जांय और जड़कर्मोंके रागद्वेष आदि परिणाम चेतनके होजांय यदि ऐसा हो जायगा तो संकर दोषके उपस्थित हो जानेपर चेतन अचेतन दोनों एक हो जांयगे, एवं सम्यग्ज्ञान आदि निज हैं और रागद्वेष आदि पर हैं यह भी व्यवस्था न बन सकेगी इसलिये मुक्त अवस्थामें कभी चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा रागादि जड़ कर्मस्वरूप नहिं परिणत हो सकता यह निस्संदेह समझ लेना चाहिये ॥ १६ ॥ तथा—

परेभ्यः सुखदुःखानि द्रव्येभ्यो यावदिच्छति ।
तावदास्रवविच्छेदो न मनागपि जायते ॥ १७ ॥

अर्थ–जबतक इस जीवकी यह भावना रहती है कि मुझे परपदार्थ स्त्री पुत्र धन आदिसे दुःख सुख होता है तब

तक इसके आस्रवका निरोध नहि होता-सदा इसके शुभ अशुभ कर्मोंका आस्रव होता ही रहता है। भावार्थ—जबतक जीव यह समझता रहता है कि मुझे जो कुछ सुख और दुःख मालूम होता है वह परपदार्थोंके कारण है तबतक इसके शुभ अशुभ कर्मोंका आना वंद नहिं होता क्योंकि यह धन और स्त्री पुत्र आदिके मिलनेसे प्रसन्न होता है और उनके वियोगमें दुःखी होता है तथा प्रसन्नताके समय इसके परिणाम रागादि स्वरूप होते हैं और दुःखके समय इसके परिणामोंमें द्वेष आदिकी उत्पत्ति होती है एवं राग द्वेष आदि आस्रवके कारण हैं यह बात पहिले ही कही जा चुकी है १७ तथा—

अचेतनत्वमज्ञत्वात्स्वदेहपरदेहयोः।
स्वकीयपरकीयात्मबुद्धितस्तत्र वर्तते ॥ १८ ॥

अर्थ—यद्यपि स्वशरीर और परशरीर जड़ होनेसे अचेतन हैं तथापि यह मूढ जीव उनमें स्व परकी बुद्धि करता है। भावार्थ—जहांपर ज्ञानकी मोजूदगी है वह तो चेतन और अन्य समस्त जड़ हैं अपना शरीर और दूसरेका शरीर भी जड होनेसे अचेतन हैं परंतु यह अज्ञानी जीव उनको अपनी परायी आत्मा समझता है ॥ १८ ॥ तथा—

यदात्मीयमनात्मीयं विनश्वरमनश्वरं। सुखदं दुःखदं वेत्ति न चेतनमचेतनं ॥ १९ ॥
पुत्रदारादिके द्रव्ये तदात्मीयत्वशेमुषीं। कर्मास्रवमजानानो विधत्ते मूढमानसः ॥ २० ॥

अर्थ—जबतक यह आत्मा अपना पराया विनाशीक अविनाशीक सुखदायी दुःखदायी और चेतन, अचेतनको भी नहिं जानता तबतक कर्मोंके आस्रवको न जानकर यह मूढात्मा पुत्र स्त्री मित्र आदि परद्रव्योंको अपना मानता है। भावार्थ—कर्मोंके आस्रवमें मन वचन और कायका शुभ अशुभ व्यापार कारण है और वह संसारमें हरएक प्राणीके अपना पराया विनाशीक अविनाशीक सुख देनेवाला दुःख देनेवाला चेतन अचेतनका पूर्णरूपसे ज्ञान न होनेके कारण निरंतर विद्यमान रहता है इसलिये इसके सर्वदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है ॥ १९–२० ॥

कषाया नोपयोगेभ्यो नोपयोगाः कषायतः।
न मूर्तामूर्तयोरस्ति संभवो हि परस्परं ॥ २१ ॥

अर्थ—न तो उपयोगोंसे कषायोंकी उत्पत्ति होती है और न कषायोंसे उपगोगोंकी उत्पत्ति होती है क्योंकि मूर्तिक

और अमूर्तिक पदार्थोंका आपसमें जन्यजनकभाव संबंध नही-अर्थात् मूर्तिकसे अमूर्तिककी उत्पत्ति और अमूर्तिकसे मूर्तिककी उत्पत्ति नहिं हो सकती । भावार्थ—जो गुण चेतनाके साथ रहैं-जहां चेतनाहो वहां वे गुण अवश्य मिलें उनका नाम उपयोग है और यह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है । ज्ञानोपयोगके मति ज्ञान आदि भेद और दर्शनोपयोगके चक्षुर्दर्शन आदि भेद ऊपर वता दिये जा चुके हैं। यह दोनों प्रकारका उपयोग चेतना शक्तिका अनुयायी है । जहां २ चेतना रहती है वहां २ नियमसे ज्ञान दर्शन रहते हैं और वे अमूर्तिक आत्माके गुण हैं तथा कषायके क्रोध मान माया लोभ आदि भेद हैं और वे मूर्तिक पुद्गल परिणाम हैं एवं यह नियम है कि जो मूर्तिक होता है वह अमूर्तिक नहिं हो सकता और जो अमूर्तिक होता है वह मूर्तिक नहिं हो सकता इसलिये उपयोगोंसे कषायोंकी उत्पत्ति और कषायोंसे उपयोगोंकी उत्पत्ति नहिं हो सक्ती क्योंकि कषाय मूर्तिक हैं और उपयोग अमूर्तिक हैं ॥

कषायपरिणामोऽस्ति जीवस्य परिणामिनः । कषायिणोऽकषायस्य सिद्धस्येव न सर्वथा ॥ २२ ॥
न संसारो न मोक्षोऽस्ति यतोऽस्यापरिणामिनः । निरस्तकर्मसंगश्चापरिणामी ततो मतः ॥२३॥

अर्थ—जो जीव कषायोंसे युक्त हैं उनके कषायपरिणाम रहते हैं किंतु जिन जीवोंके कषाय नहिं है—जो जीवन्मुक्त हैं उनके कषाय परिणाम नहिं होते जैसे कि सिद्धोंके । क्योंकि अपरिणामी जीवन्मुक्त जीवोंके न संसार है न मोक्ष तथा इनका कर्मरूपी परिग्रह नष्ट होगया है इसलिये इनको अपरिणामी कहते हैं । भावार्थ—यहां अकषाय पदसे जीवन्मुक्त जीवोंका ग्रहण किया गया है क्योंकि उनके समस्त कषायोंका नाश हो चुका है तथा जिसप्रकार सिद्धोंके कषाय परिणाम नहिं होते इसलिये वे अपरिणामी हैं उसीप्रकार कषायरहित जीवन्मुक्तोंके भी कषाय परिणाम नहिं होते इसलिये वे भी अपरिणामी हैं। यदि यहांपर यह शंका हो कि सिद्ध तो अपरिणामी हैं परंतु जीवन्मुक्त अपरिणामी कैसे ? तो ग्रंथकारने उसका यह समाधान दिया है कि जीवन्मुक्त घातिया कर्मोंसे रहित हो गये हैं इसलिये कषाय उत्पन्न न होनेसे अपरिणामी हैं एवं निष्कषाय होनेसे संसारके कारण सांपरायिक कर्मोंके आस्रवसे रहित हैं इसलिये न तो वे संसारी हैं और न अघातिया कर्मोंके सद्भावसे मुक्त ही हैं ॥ २२—२३ ॥ तथा—

नान्योऽन्यगुणकर्तृत्वं विद्यते जीवकर्मणोः । अन्योन्यापेक्षयोत्पत्तिः परिणामस्य केवलं ॥ २४ ॥

स्वकीयगुणकर्तृत्वं तत्त्वतो जीवकर्मणोः। क्रियते हि गुणस्ताभ्यां व्यवहारेण गद्यते ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव और कर्ममें परस्पर गुणकर्तृता नहीं अर्थात् न तो जीवमें यह सामर्थ्य है कि वह कर्मके गुणोंको उत्पन्न करसकै और न कर्ममें यह सामर्थ्य है कि वह जीवके गुणोंको कर सकै किंतु उन दोनोंमें एकके दूसरेके निमित्तसे केवल परिणामोंकी उत्पत्ति होती है तथा निश्चयनयसे जीव और कर्ममें अपने अपने गुणोंकी कर्तृता है अर्थात् जीव अपने गुणोंका कर्ता और कर्म अपने गुणोंका कर्ता है किंतु यह जो बात कह दी जाती है कि जीवके गुणोंका कर्म कर्ता है और कर्मके गुणोंको जीव करता है यह व्यवहारसे कहना है। भावार्थ—ज्ञान दर्शन आदि गुण जीवके हैं और ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि गुण (प्रकृति) कर्मके हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि वा चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन आदि जीवके परिणाम (पर्याय) कहेजाते हैं और कर्मके परिणाम मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण आदि हैं किंवा क्रोध मान आदि भी कर्मके ही परिणाम हैं। यहांपर न तो कर्म जीवके ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको उत्पन्न करता है और न जीव कर्मके ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि गुणों (प्रकृति) को उत्पन्न करता है किंतु कर्मके निमित्तसे जीवमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि वा चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं और जीवके निमित्तसे कर्मके मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरण आदि परिणाम होते हैं। इसलिये निश्चयसे तो जीव अपने अखंड गुणोंका और कर्म अपने गुणोंका कर्ता है परंतु यह जो बात प्रचलित है कि कर्म जीवके गुणोंका कर्ता और जीव कर्मके गुणोंका, कर्ता है यह व्यवहार मात्र है निश्चय नहीं ॥ २४–२५ ॥

अब रागद्वेष आदिके समान औदयिक भाव भी पुद्गलीक हैं यह बतलाते हैं—

उत्पद्यंते यथा भावाः पुद्गलापेक्षयात्मनः।
तथैवौदयिका भावा विद्यंते तदपेक्षया ॥ २६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार आत्मामें राग द्वेष आदि भावोंकी उत्पत्ति पुद्गलकी सहायतासे होती है उसीप्रकार गति कषाय आदि औदयिक भावोंकी भी उत्पत्ति, उसमें पुद्गलकी ही सहायतासे होती है। भावार्थ—जो भाव कर्मोंके उदयसे हों वे औदयिक भाव हैं एवं वे गति ४ (मनुष्यगति १ तिर्यंचगति २ देवगति ३ और नरकगति ४) कषाय ४

(क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४) लिंग ३ (पुंल्लिंग १ स्त्रीलिंग २ नपुंसकलिंग ३) अज्ञान १ असंयंत १ असिद्धत्व १ और लेश्या ६ (पीत १ पद्म २ शुक्ल ३ कृष्ण ४ नील ५ कापोत ६) इसरीतिसे इक्कीस प्रकारके हैं तो जिसप्रकार पुद्गलकी अपेक्षा आत्मामें रागद्वेष मोह आदि भावोंकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार इन औदयिक भावोंकी भी पुद्गलकी ही अपेक्षा आत्मामें उत्पत्ति होती है ऐसा जानना चाहिये ॥ २६ ॥

अपनेको पर और परको अपना माननेसे पापास्रव होता है यह कहते हैं—

कुर्वाणः परमात्मानं सदात्मानं पुनः परं ।
मिथ्यात्वमोहितस्वांतो रजोग्राही निरंतरं ॥ २७ ॥

अर्थ–जिस मूढ़ जीवके अंतरंगपर ऐसा मिथ्यात्वका प्रबल असर पड़ा हुआ है–जो इतना बेहोश हो रहा है कि जो परपदार्थ हैं उन्हें अपना मानता है और जो निज हैं उन्हें पर समझता है उसके निरंतर पापोंका संचय होता रहता है। भावार्थ--जिसप्रकार शराब पीनेवाला पुरुष जिससमय शराबके गाढ़ नशेमें तलबतल हो जाता है उससमय उसको जराभी किसी बातका ख्याल नहिं रहता यहां तक कि वह माको स्त्री और स्त्रीको भी मा तक पुकारने लग जाता है उसीप्रकार जिस जीवपर भी मिथ्यात्वका इतना प्रबल असर पड़ा हुआ है कि वह सर्वथा मूढ़ बनगया है जो स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थ पर हैं उन्हें ही अपना समझता है एवं अहोरात्र उनकी प्राप्तिका उपाय करता रहता है और आत्मिक केवलज्ञान आदि संपत्तिको अपनी नहिं मानता और न उनकी प्राप्तिका कभी उपाय ही करता है उसके रातिदिन कर्मोंका संचय हुआ करता है ॥ २७ ॥ तथा—

रागमत्सरविद्वेषलोभमोहमदादिषु । हृषीककर्मनोकर्मरूपस्पर्शरसादिषु ॥ २८ ॥
एतेऽहमहमेतेषामिति तादात्म्यमात्मनः । विमूढः कल्पयन्नात्मा स्वपरत्वं न बुध्यते ॥२९॥

अर्थ–जो मूढ आत्मा राग ईर्षा द्वेष लोभ मोह मद इंद्रियां कर्म नोकर्म रूप स्पर्शन और रस आदि पदार्थोंमें 'इन स्वरूप मैं हूं और ये मुझ स्वरूप हैं' इस प्रकारके तादात्म्य संबंधकी कल्पना करता रहता है उसके स्वपरका कभी भेद विज्ञान नहिं होता । भावार्थ–यह पूर्णरूपसे निश्चित है कि राग ईर्षा द्वेष लोभ आदि परपदार्थ हैं आत्मिक नहीं, तथापि

जो जीवात्मा इतना प्रबल मोही बन रहा है कि उन्हें पर नहिं मानता और राग आदि स्वरूप मैं हूं और मुझस्वरूप राग आदिक हैं ऐसी उनमें तादात्म्य संबंधकी कल्पना करता रहता है उसके 'मैं क्या हूं ? और परपदार्थ क्या हैं ?' इस बातका जरा भी भान नहिं होता क्योंकि अपनेको अपना मानना और परको पर मानना इसमें भेदविज्ञान कारण है और भेदविज्ञान उसीसमय हो सकता है जब राग आदिको जुदा माने और केवल ज्ञान आदिको अपना माने॥२८-२९॥

अब मिथ्याचारित्र कर्मास्रवमें कारण है यह बतलाते हैं—

हिंसने वितथे स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंगतेः ॥ ३० ॥

अर्थ—हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रहकी ओर जो चित्तकी वृत्ति फिर जाना है उसे अचारित्र-मिथ्याचारित्र कहते हैं और यह मिथ्याचारित्र कर्मोंके आस्रवमें कारण है-अर्थात् मिथ्याचारित्रकी ओर परिणति लगानेसे आत्मामें कर्मोंका आगम होता है। भावार्थ—चारित्रके दो भेद हैं एक-देशचारित्र, दूसरा सकलचारित्र । जो एकदेशरूपसे हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रहका त्याग करना है वह देशचारित्र कहा जाता है और इस चरित्रके धारक गृहस्थ होते हैं तथा जो सर्वथा हिंसा झूंठ चोरी मैथुन और परिग्रहका त्याग किया जाता है वह सकलचारित्र है एवं वह मुनियोंके होता है। यह चारित्र कर्मोंका नाश करनेवाला है इसके आराधनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है परंतु इसके विपरीत जो हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रहका सेवन करना है वह अचारित्र वा मिथ्याचारित्र है और इस मिथ्याचारित्रके सेवन करनेसे कर्मोंका आस्रव होता है ॥ ३० ॥

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभं । आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्वचारित्रपराङ्मुखः ॥ ३१ ॥
यतः संपद्यते पुण्यं पापं वा परिणामतः । वर्तमानो यतस्तत्र भ्रष्टोऽस्ति स्वचारित्रतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिससमय यह आत्मा अपने निजी गुण चारित्रसे (सम्यक्चारित्रसे) विमुख हो परपदार्थोंमें राग और द्वेषकर शुभ अशुभ भावोंको उपार्जन करता है उससमय यह आत्मा अचारित्र-मिथ्याचारित्ररूप समझा जाता है क्योंकि जिन परिणामोंके निमित्तसे पुण्य और पापकी उत्पत्ति होती है उन परिणामोंके अंदर जब यह विद्यमान रहता है उससमय

इसका स्वचारित्र-सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट-विमुख होना युक्त ही है। भावार्थ--यद्यपि मिथ्यादर्शन राग द्वेष मिथ्याचारित्र आदि जड़ कर्मके विकार हैं तथापि उन्हें चैतन्य आत्माका विकार माना है इसी आशयको लेकर ग्रंथकारने यहां कहा है कि जिससमय यह आत्मा सम्यक्चारित्रका आचरण नहिं करता उससे विमुख वा भ्रष्ट रहता है उससमय यह परपदार्थोंको अपनाता है और उनमें राग द्वेषकर शुभ अशुभ भावोंको करता है इसलिये यह मिथ्याचारित्रस्वरूप समझा जाता है क्योंकि राग और द्वेषकी निवृत्तिरूप परिणामोंका त्याग सम्यक्चारित्र है इसलिये पुण्य और पापकी उत्पत्तिके निमित्त रागद्वेषके अंदर यह विद्यमान रहेगा तो निजीगुण चारित्रसे अवश्य विमुख-भ्रष्ट समझा जायगा ॥३१-३२॥

कर्मोंसे क्या फल मिलता है ? यह कहते हैं—

श्वभ्रतिर्यङ्नरस्वर्गगतिं जाताः शरीरिणः ।
शारीरं मानसं दुःखं सहंते कर्मसंभवं ॥ ३३ ॥

अर्थ–ये जीव नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देव गतियोंके अंदर उत्पन्न होते हैं और वहां कर्मोंसे उत्पन्न शारीरिक (शरीरमें होनेवाले) मानसिक (मनमें होनेवाले) दुःखोंको सहते हैं। भावार्थ–दुःख दो प्रकारके हैं एक शारीरिक दूसरे मानसिक। छेदन भेदन ताड़न आदिसे जो शरीरमें वेदना होती है वह शारीरिक दुःख है और जिस दुःखसे मन संतप्तायमान रहता है वह मानसिक दुःख है तथा इन दोनों प्रकारके दुःखोंमें कर्म कारण है--जहां जहां कर्मोंकी विद्यमानता रहती है वहां २ नियमसे दुःख भोगने पड़ते हैं, नरक तिर्यंच मनुष्य और देव चारो गतियोंमें कर्म मोजूद हैं इसलिये इन गतियोंमें अवश्य उपर्युक्त दुःख भोगने पड़ते हैं। उनमें मनुष्य, वा तिर्यंचगतिमें जो दुःख भोगने पड़ते हैं वे हमारे अनुभवगम्य हैं क्योंकि जिससमय हमारे शरीरमें घाव आदिकी वेदना होती है उससमय शारीरिक दुःख भोगना पड़ता है और जिससमय अपमान आदि वा इष्टका वियोग और अनिष्टसंयोग होता है उससमय मानसिक दुःख होता है-हम लोग मन ही मन दुःखित वा शोकित होते रहते हैं। तथा तिर्यंच बैल भैंस गाय आदिमें भी जब उनके शरीरमें घाव आदि होजाते हैं तो उनमें शारीरिक दुःख मालूम पड़ता है और जिससमय गाय आदिका बच्चा मर जाता है उससमय वह सूखती जाती हैं इसलिये उसके मानसिक दुःख मालूम पड़ता है इसीप्रकार जिससमय जीव नरकमें

उत्पन्न होते हैं उससमय उन्हैं छेदन भेदन आदिसे उपर्युक्त दोनों प्रकारका दुःख भोगना पड़ता है-नारकी एक दूसरे-का आपसमें सदा छेदन भेदन ताड़न आदि करते हैं और देव गतिमें भी एक नीचे दर्जेका देव दूसरेकी उन्नत संपत्तिको देखकर मनही मन जलता रहता है एवं महादुःख पाता है ॥ ३३ ॥

यदि कोई शंका करै कि देवगतिमें तो सुख है वहां दुःख कहां ? उसका समाधान करते हैं--

यत्सुखं सुरराजानां जायते विषयोद्भवं। ददानं दाहिकां तृष्णां दुःखं तदवबुध्यतां ॥ ३४ ॥
अनित्यं पीडकं तृष्णावर्धकं कर्मकारणं। समक्षजं पराधीनमशर्मैव विदुर्जिनाः ॥ ३५ ॥

अर्थ-जिस सुखका सुरराज-इंद्र अनुभव करते हैं वह सुख विषयजन्य है शरीर और मनको संताप देनेवाली तृष्णाका देनेवाला है इसलिये वह दुःख ही है-उसै दुःख ही समझना चाहिये क्योंकि-जो सुख विनाशीक संताप देने वाला तृष्णाका बढ़ानेवाला कर्मसे जायमान इंद्रियजन्य और पराधीन है उसै भगवान सर्वज्ञने दुःख ही बतलाया है। भावार्थ-जो सुख अविनाशी हो आल्हाद स्वरूप हो, तृष्णाका दूर करनेवाला हो, कर्म और इंद्रियोंसे जन्य न हो और स्वाधीन हो वह तो सुख है किंतु जो ऐसा न हो वह सुख नहीं दुःख ही है। मनुष्य समझते हैं कि सुरराज इंद्र जिससुखका अनुभव करता है वह वास्तविक सुख है क्योंकि वह देवोंका स्वामी है अनेक प्रकारकी संपत्ति और देवांगनायें उसके यहां मोजूद हैं परंतु ग्रंथकार कहते हैं कि उसका सुख भी दुःख ही है क्योंकि वह इंद्रियजन्य और तृष्णाका प्रदान करनेवाला है अनित्य दुःखदायक कर्मजन्य और पराधीन है किंतु असली सुख निराकुलतामय है और वह सिद्धोंको प्राप्त है इसलिये कर्मोंकी सहायतासे सर्वदा दुःख ही मिलता है ॥ ३४-३५ ॥

सांसारिकं सुखं सर्वं दुःखतो न विशिष्यते। यो नैव बुध्यते मूढः स चारित्री न भण्यते ॥३६॥
यः पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते। स चारित्रपरिभ्रष्टः संसारपरिवर्धकः ॥ ३७ ॥

अर्थ--जो सांसारिक सुख है वह दुःख ही है, सांसारिक सुख और दुःखमें कोई विशेष नहीं किंतु जो मूढ़ इस बातको नहिं समझता अर्थात् सांसारिक सुखको सुख मानता है और दुःखको उससे भिन्न जानता है वह चारित्रस्वरूप नहिं कहा जाता तथा जो मूढ़ पुण्य पापके विशेषको भी नहिं जानता है वह भी चारित्रसे भ्रष्ट-विमुख समझा जाता है और वह संसारका परिवर्धक है-अनादिकालतक उसै संसारमें रुलना पड़ता है ॥ ३६-३७ ॥ तथा—

पापारंभं परित्यज्य शस्तं वृत्तं चरन्नपि ।
वर्तमानः कषायेन कल्मषेभ्यो न मुच्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ--जो मनुष्य कषायोंसे युक्त अर्थात् जिसकी आत्मा कषायोंसे कलुषित है चाहैं वह भले ही किंसी प्रकारका पापका आरंभ न करै, निर्दोष चारित्रका भी आचरण करै परंतु पापोंसे मुक्त नहिं हो सकता-अवश्य उसके पापोंका आस्रव होता रहेगा। भावार्थ--यह वात ऊपर कह दी जा चुकी है कि कर्मोंके आस्रवमें प्रधान कारण कषाय हैं जबतक आत्मामें कषायकी मोजूदगी रहैगी तबतक कर्मोंका आसूव बंद नहिं हो सकता तथा कषायोंकी विद्यमानतामें पापारंभका त्याग और प्रशस्त चारित्रका आचरण करना भी किसी कामका नहीं। यही वात ग्रंथकारने यहां बतलाई है कि जबतक आत्मा कषायोंसे कलुषित बना रहता है तबतक चाहैं कैसा भी पापारंभ मत करो, प्रशस्त चारित्रका भी आचरण करो परंतु पापोंसे मुक्ति नहि हो सकती इसलिये सबसे पहिले कपायोंका ही त्यागना आवश्यक है ॥ ३८ ॥ तथा—

जायंते मोहलोभाद्या दोषा यद्यपि वस्तुतः ।
तथापि दोषतो बंधो दुरितस्य न वस्तुतः ॥ ३९ ॥

अर्थ—यद्यपि मोह लोभ आदि दोषोंकी उत्पत्ति निश्चयनयसे होती है तथापि दोषोंसे जो आत्माके साथ कर्मोंका बध होता है वह निश्चयनयसे नहीं। भावार्थ—यह बात ऊपर कहदी गई है कि—जैनसिद्धांतमें निश्चय और व्यवहार दो नय मानीं गई हैं। उनमें निश्चयनय असली स्वरूपको विषय करता है और व्यवहार नय व्यवहार संबंघी वातोंको विषय करता है। लोभ मोह आदिकी जो उत्पत्ति होती है वह निश्चयनयका विषय है क्योंकि यदि इसै व्यवहारनयका विषय माना जायगा तो लोभ आदि हैं यह वात निश्चितरूपसे न बन सकैगी। और लोभ मोहादि दोषोंके कारण जो आत्माके साथ कर्मोंका बंध होता है वह व्यवहार है क्योंकि शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा निष्कलंक निर्दोष है—निश्चयनयसे आत्मामें आस्रव बंध आदि नहिं होते ॥ ३९ ॥

मिथ्याज्ञाननिविष्टयोगजनिताः संकल्पना भूरिशः संसारभ्रमकारिकर्मसमितेरावर्जने या क्षमाः ।

ज्ञायंते स्वपरांतरं गतवता निश्शेषतो येन तास्तेनात्मा विगताष्टकर्मविकृतिःसंप्राप्यते तत्त्वतः ।४०।

अर्थ—जिन कल्पनाओंसे संसारमें घुमानेवाले कर्मका आस्रव होता है ऐसी बहुतसी कल्पनायें हैं और उनकी उत्पत्ति मिथ्याज्ञानसे युक्त योगोंके द्वारा होती है परंतु स्व और परके भेदको पूर्णरूपसे जाननेवाला जो आत्मा उन कल्पनाओंको पूर्णरूपसे जानलेता है वही समस्त कर्मोंको जड़से उखाडनेवाला होता है अर्थात् वह समस्त कर्मोंका मूलसे उच्छेदकर आचिंत्य अविनाशी मोक्षसुखको प्राप्त कर लेता है। भावार्थ—यह वात स्पष्टरूपसे अनुभवमें आती है कि प्रति समय संसारी जीवोंके नानाप्रकारके संकल्प विकल्प हुआ करते हैं परंतु जो संकल्प विकल्प मिथ्याज्ञानसे युक्त ध्यानके द्वारा होते हैं अर्थात् विपरीत संकल्प विकल्प होते हैं उनसे नानाप्रकारके कर्मोंका आस्रव होता है और उनसे कर्मोंका जो 'चतुर्गति रूप संसारमें घूमना' फल है वह इस जीवको भोगना पड़ता है परंतु जो विद्वान आत्मा, अपने परायेका पूर्णरूपसे भेद जानता है और यह भी समझता है कि विपरीत संकल्प विकल्प कर्मोंके आस्रवमें कारण हैं उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है और वह परम पावन मोक्षसुखका अनुभव करता है ॥ ४० ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें आस्रवाधिकार समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ बंधाधिकार ॥ ४ ॥

पुद्गलानां यदादानं योग्यानां सकषायतः ।
योगतः स मतो बंधो जीवस्वातंत्र्यकारणं ॥ १ ॥

अर्थ—कषाय और योगोंसे जो कर्मोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण करना है उसै बंध कहते हैं और वह बंध जीवको अपने आधीन करलेता है। भावार्थ—उपर बतला दिया गया है कि कर्म, पुद्गल हैं और धूलि आदिमें जैसे रूप रस गंध आदि हैं वैसेही कर्मोंके अंदर हैं तथा जिससमय इन कर्मके योग्य पुद्गलोंके साथ कषाय और योगका संबंध होता है उससमय ये पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं तो जिससमय जीव योग और कषायोंके निमित्तसे कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है उसै बंध कहते हैं और इस बंधसे जीव, कर्मोंके आधीन हो जाता है ॥ १ ॥

प्रकृतिः सुस्थितिर्ज्ञेयः प्रदेशोऽनुभवः परः ।
चतुर्धा कर्मणो बंधो दुःखोदयनिबंधनं ॥ २ ॥

अर्थ–वह बंध प्रकृतिबंध स्थितिबंध प्रदेशबंध और अनुभागबंधके भेदसे चारप्रकारका है और नाना प्रकारके दुःखोंके उत्पन्न करनेमें कारण है–कर्मबंधसे अनेक प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

निसर्गः प्रकृतिस्तत्र स्थितिः कालावधारणं ।
सुसंक्लिप्तिः प्रदेशोऽस्ति विपाकोऽनुभवः पुनः ॥ ३ ॥

अर्थ–निसर्ग-कर्ममें आत्माके गुण घातनेकी शक्तिके पड़नेको प्रकृतिबंध कहते हैं। कालावधारण-अर्थात् आत्माके साथ कर्मोंके रहनेकी मियाद स्थितिबंध है। सुसंक्लिप्ति-कर्म और आत्माके प्रदेशोंका आपसमें मिलजाना प्रदेशबंध और विपाक अर्थात् फल देनेकी शक्तिकी हीनाधिकताका नाम अनुभाग बंध है। भावार्थ–प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है जैसे ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव ज्ञानका ढक देना दर्शनावरणका दर्शनका ढक देना। तो जिससमय ज्ञानावरण कर्ममें आत्माके ज्ञान गुण घातनेकी शक्ति वा दर्शनावरण आदिमें आत्माके दर्शन आदि गुणोंकी घातनेकी शक्ति पड़जाय उससमय प्रकृतिबंध होता है । स्थितिका अर्थ मियाद है जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागर, मोहनीयकी सत्तर कोडाकोड़ी सागर, नामकर्म और गोत्र कर्मकी वीस कोडाकोड़ी सागर और आयुकर्मकी तेतीस सागर है अर्थात् अधिकसे अधिक ये कर्म आत्मासे संबद्ध होनेपर उतने कालतक रहसकते हैं तथा वेदनीयकी जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ २ मुहूर्त और शेष समस्त कर्मोंकी अंतर्मुहूर्त है। तो जिन कर्मोंका आत्माके साथ संबंध होगया है उनका उतने कालतक आत्माके साथ रहना स्थितिबंध है। प्रदेशका अर्थ खंड है और कर्मोंके प्रदेश अनंत और आत्माके असंख्यात हैं तो जिससमय कर्म और आत्माके प्रदेश आपसमें मिल जाय वह प्रदेशबंध है और अनुभागका अर्थ फल है तो जिससमय यह जीव इच्छानुसार पदार्थोंका न जानना और देखना सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है उससमय अनुभागबंध कहा जाता है ॥ ३ ॥

रागद्वेषद्वयालीढः कर्म बध्नाति चेतनः ।

व्यापारं विदधानोऽपि तदपोढो न सर्वथा ॥ ४ ॥

अर्थ—जो चेतन राग द्वेषसे युक्त रहता है उसीके कर्मबंध होता है किंतु जिससमय वह राग द्वेषसे रहित हो जाता है उससमय मन वचन कायके व्यापार करने पर भी उसके कर्म बंध नहिं होता। भावार्थ—कर्मोंके बंधमें प्रधान कारण राग और द्वेष हैं जबतक आत्मामें राग और द्वेषकी विद्यमानता रहती है तबतक प्रकृति स्थिति आदि सब प्रकारके बंध होते रहते हैं किंतु जिससमय राग और द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है उससमय मन वचन कायके व्यापार करने पर भी बंध नहिं होता अर्थात् राग और द्वेषके अभावमें स्थिति और अनुभाग बंध तो सर्वथा नहिं होते और जो योगोंके द्वारा प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं वे अनहोनेके समान हैं क्योंकि राग द्वेषसे होनेवाले बंध जिसप्रकार आत्माको हानि पहुचाते हैं वैसे योगसे होनेवाले बंध नहीं इसलिये राग द्वेषके अभावमें बंध नहिं होते यह कहना भी अयुक्त नहीं ॥ ४ ॥

सचित्ताचित्तमिश्राणां कुर्वाणोऽपि निसूदनं। रजोभिर्लिप्यते रूक्षो न तन्मध्ये चरन्यथा ॥ ५ ॥
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनं। रागद्वेषद्वयापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार तैल आदि चिक्कण पदार्थके संबंधसे रहित—रूक्ष शरीरका धारक मनुष्य सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त पदार्थोंका छेदन भेदन करता हुआ और उनके मध्यमें रहता हुआ भी धूलिसे धूसरित नहिं होता उसीप्रकार नाना प्रकारके द्रव्योंका नाश करता हुआ भी जीव जबतक राग द्वेषसे युक्त नहिं होता तबतक उसको पापका बंध नहिं होता। भावार्थ—जिसप्रकार तेल आदि चिकने पदार्थोंके संबंधसे रहित शरीरका धारक मनुष्य पीपल नीव काष्ठ आदि सचित्त अचित्त सचित्ताचित्त पदार्थोंका छेदन भेदन ताड़न करता है परंतु उनके छेदन आदि करनेपर जो धूली उड़ती है उस धूलिसे उसका शरीर मैला नहिं होता इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि धूलिसे मैले होनेमें कारण शरीरपर लगी हुई चिकनाई है—विना चिकनाईके शरीर मैला नहिं हो सकता उसीप्रकार यह जीव भी सचित्त अचित्त

१—यही वात—जह पुण सोचेव णरो ॥ २६० ॥ इस गाथासे लेकर एवं सम्मादिठ्ठी ॥ २६४ ॥ इस गाथा पर्यंत समयसारप्राभृतमें वतलाई है भेद इतना है वहापर दार्ष्टांतमें ग्रन्थकारने योगको ग्रहण किया है और यहापर राग और द्वेषको।

आदि द्रव्योंका नाश करता हुआ भी जबतक राग द्वेषसे युक्त नहिं होता तबतक पापोंसे नहिं बंधता इसलिये यहांपर
भी ऐसा जान पड़ता है कि पापोंके बंधमें कारण राग द्वेष हैं-जबतक राग द्वेष रूपी चिकनाई आत्मामें विद्यमान रहती
है तबतक इस आत्माके साथ अवश्य पापोंका बंध हुआ करता है और उसके अभावमें नहीं ॥ ५-६ ॥

सर्वव्यापारहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः । रेणुभिर्व्याप्यते चित्रैः स्नेहाभ्यक्ततनुर्यथा ॥ ७ ॥
समस्तारंभहीनोऽपि कर्ममध्ये व्यवस्थितः । कषायाकुलितस्वांतो व्याप्यते दुरितैस्तथा ॥ ८ ॥

अर्थ-परंतु जिसप्रकार तैल आदिकी चिकनाईसे युक्त शरीरका धारक पुरुष छेदन भेदन आदि व्यापारोंको नहीं
भी करता हुआ यदि छेदन भेदन आदि कर्म जहां हो रहे हैं वहां बैठा है तो अवश्य धूलिसे भदमेला हो जाता है
उसीप्रकार क्रोध आदि कषायोंसे युक्त चित्तका धारक जीव समस्त आरंभसे रहित भी यदि कर्मोंके-मन वचन कायके
शुभाशुभ व्यापरोंके मध्यमें स्थित है तो उसके अवश्य पाप बंध होता है। भावार्थ-जिसप्रकार छेदन भेदन आदि व्यापार
करो या न करो केवल तेल आदिकी चिकनाई ही धूलिके लिपटनेमें कारण है उसीप्रकार आरंभ करो या न करो राग
द्वेष क्रोध मान आदि ही पाप बंधमें कारण हैं-विना राग और द्वेषके पाप बंध नहिं हो सकता ॥ ७-८ ॥

मरणं जीवनं दुःखं सौख्यं रक्षा निपीडनं । जातु कर्तुममूर्तस्य चेतनस्य न शक्यते ॥ ९ ॥
विदधानः परीणामं मारणादिगतं परं । बध्नाति विविधं कर्म मिथ्यादृष्टिर्निरंतरं ॥ १० ॥

अर्थ-यद्यपि यह चेतन-आत्मा अमूर्तिक है-रूपादि मूर्तियोंसे रहित है इसलिये न कोई पुरुष इसे मार सकता है न
जिला सकता है न सुख दुःख रक्षा और त्रास ही दे सकता है परंतु तो भी मिथ्यादृष्टि जीव भ्रांत हो 'मैं जीवको
मारता हूं जिलाता हूं' इत्यादि परिणामोंको करता हुआ निरंतर अनेक प्रकारके कर्मोंका बंध बांधा करता है ९-१० तथा

कर्मणा निर्मितं सर्वं मारणादिकमात्मनः ।
कर्मावितरतान्येन कर्तुं हर्तुं न शक्यते ॥ ११ ॥

अर्थ-मारना जिलाना आदि जितनी बाते हैं वे सब कर्मसे निर्मित हैं-उनकी उत्पत्तिमें कारण कर्म है तथा कर्मका

१-यह बात जहणाम कोवि पुरुसो २५५ इस गाथासे लेकर एवं मिच्छादिठ्ठी २५९। गाथा तक समयसार प्राभृतमें विस्तारसे वर्णन की गई है।

देने वाला कोई है नहीं इसलिये न कोई जीवको जिला सकता है और न कोई उसकी हानि कर सकता है। भावार्थ–निश्चयनयसे यद्यपि यह आत्मा-चेतन, रूप आदि मूर्तिसे रहित अमूर्तिक है इसलिये जिसप्रकार आकाशमें तलवार फेंकनेसे वह कटता नहीं उसीप्रकार न कभी यह आत्मा मरता है, न जीता है, न इसै दुःख भोगना पड़ता है न इसकी रक्षा होती है और न पीड़ा ही इसै सहन करनी पड़ती है। तो भी लोकमें जो अमुक जीव मरता है अमुक जीता है अमुक सुख दु.ख भोगता है इत्यादि व्यवहार है वह संसारी आत्माके शरीरके संबंधसे कर्मसे उत्पन्न है–कर्मके द्वारा व्यवहारनयसे जीव मरता आदि है एव कर्मको कोई देता नहीं इसलिये एक व्यक्ति दूसरेका मारना आदि नहि करसकता परंतु यह आत्मा इतना मूढ़ वन रहा है कि यह यही समझता है कि मैं ही दूसरेको मारता जिलाता आदि हूं इसलिये मारते समय इसके परिणामोंमें राग द्वेप आदिकी उत्पत्ति होती है और उनसे प्रतिसमय इस मूढ़ जीवके कर्मोंका वंध हुआ करता है ॥ ११ ॥

या जीवयामि जीव्येहं मार्येहं मारयाम्यहं ।
निपीड्येहं निपीडये सा बुद्धिर्मोहकल्पिता ॥ १२ ॥

अर्थ–मैं दूसरेको जिलाता हूं वा मैं दूसरेसे जिलाया जाता हूं। मैं दूसरेको मारता हूं वा दूसरेसे मारा जाता हूं अथवा मैं दूसरेको पीडा देता हूं अथवा मैं दूसरेसे पीडित होता हूं आदि जितनी बुद्धियां हैं वे सब मोहसे हैं-उन सब बुद्धियोंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण मोह है। भावार्थ–यह वात ऊपर वतला दी जा चुकी है कि चिदानंद स्वरूप अमूर्तिक आत्मामें मरना मारना आदि कार्य नहिं होते परंतु यह मूढ़ जीव मोहके ऐसे गाढ़ नशेमें मत्त है कि उससे जब यह अपने उपकारीका उपकार करता है उससमय समझता है मैं उसै जिला रहा हूं। दुःखित होनेपर जब दूसरोंसे उपकृत होता है उससमय समझता है मै दूसरेसे जिलाया जा रहा हूं। जब किसीके शरीरको शस्त्र लेकर मारे क्रोधके खंड २ करना चाहता है उससमय समझता है मैं दूसरेको मार रहा हूं और जब दूसरा इसके शरीरको खंड २ करना चाहता है उससमय समझता है मै दूसरेसे मारा जा रहा हूं। तथा जब दूसरोंको कुछ दुःख पहुंचाता है तब समझता है मैं दूसरेको दुःखी बना रहा हूं और जब दूसरोंसे दुःखित किया जाता है उससमय समझता है मैं दुःखी किया जा रहा हूं किंतु जिससमय इसका मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है और यह इस वातको समझने लग जाता है कि मैं चिदा-

नंद चैतन्य स्वरूप हूं मेरी या दूसरेकी आत्मामें जो कुछ भी विकार होता है वह सब ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अपेक्षासे है उससमय इसकी आत्मामें उपर्युक्त कैसा भी विकल्प नहिं होता ॥ १२ ॥ तथा—

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः । उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ॥ १३॥
सहकारितया द्रव्यमन्येनान्यद्विधीयते । क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः संकल्पः कर्मबंधजः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस संसारमें कोई जीव किसी अन्य जीवका उपकार अपकार-भला बुरा नहिं कर सकता इसलिये मैं दूसरेका उपकार वा अपकार करता हूं यह बुद्धि मिथ्या है परंतु हां जिससमय दूसरेको सुख दुःख आदि होता है उससमय दूसरा जीव उसके सुख दु खमें सहकारी कारण अवश्य होजाता है तथा जो कुछ विपरीत सुख दुःख जीने मरने आदिके संकल्प होते हैं वे कर्मबंधसे होते हैं । भावार्थ—जिसप्रकार घड़ा, और वस्त्र आदिमें कुंभकार चाक वा चीवर वेमा आदि तो सहकारी कारण हैं । और प्रधान कारण मिट्टी और तंतु आदि ही हैं उसीप्रकार जीवके जो सुख दुःख जीना मरना आदि कार्य होते हैं उनकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण तो कर्म ही है परंतु एक जीवका दूसरा जीव सहकारी कारण है इसलिये जो पुरुष यह विचारता है कि मैं दूसरेका उपकार या अपकार करता हूं यह उसका विचार सर्वथा मिथ्या है-वह किसीका उपकार अपकार नहिं करसकता । उपकार अपकारका करनेवाला तो कर्म ही है ॥ १३-१४ ॥

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं मिथ्यात्वेन मलीमसं ।
कर्पटं कर्दमेनैव क्रियते निजसंगतः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार कीचड़ अपने संसर्गसे स्वच्छ भी सुवर्णको मलिन कर देती है उसीप्रकार चरित्र दर्शन और ज्ञान भी मिथ्यात्वसे मलिन हो जाते हैं । भावार्थ—यदि देखा जाय तो सुवर्ण स्वभावसे स्वच्छ है परंतु जिससमय उसपर कीचड़ आकर लिपट जाती है उससमय उसकी स्वच्छता ढक जाती है और वह मलिन हो जाता है उसीप्रकार चारित्र दर्शन और ज्ञान ये आत्माके स्वाभाविक गुण निष्कलंक हैं किंतु जिससमय इनके साथ मिथ्यात्वका संबंध हो जाता है उससमय ये मलिन हो जाते हैं और इनका नाम मिथ्याचारित्र मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पड़ जाता है ॥

चारित्रादित्रयं दोषं स्वीकरोति मलीमसं ।

न पुनर्निर्मलीभूतं सुवर्णमिव तत्त्वतः ॥ १६ ॥

अर्थ–यह मूढ़ात्मा मिथ्याचारित्र मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूप मलिन दोषोंको तो स्वीकार करता है परंतु सुवर्णके समान निर्मल सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप निर्मल गुणोंको वास्तविक रीतिसे स्वीकार नहिं करता। भावार्थ–जिसप्रकार सोलहवारका तपा हुआ सोना निर्मल होता है उसीप्रकार सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्माके गुण निर्मल हैं परंतु यह जीव इतना मोही होगया है कि सम्यक्चारित्र आदिकी ओर तो कुछ भी ध्यान नहिं देता और मिथ्याचारित्र आदि दोषोंको स्वीकार करता है ॥ १६ ॥

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं भुंजानोऽपि न बध्यते।
शंखः किं जायते कृष्णः कर्दमादौ चरन्नपि ॥ १७ ॥

अर्थ–जिसप्रकार कीचड़ आदि मलिन पदार्थोंमें पड़ा हुआ भी शंख काला नहिं होता उसीप्रकार अप्रासुक द्रव्योंको खाता हुआ भी यह जीव यदि नीराग-राग द्वेष आदिसे रहित है तो उसके कर्मबंध नहिं होता। भावार्थ–शंखका रंग स्वभावसे ही सफेद है चाहै उसै कैसी भी मलिन कीचड़में क्यों न डालदो उसका कीचडसे संबंध नहिं होता वह सफेदका सफेद ही रहता है उसीप्रकार जो आत्मा राग द्वेष आदिसे रहित निष्कलंक है वह अप्रासुक द्रव्योंका उपयोग करनेपर भी किसीप्रकारके कर्मबंधसे बद्ध नहिं होता ॥ १७ ॥

सरागो बध्यते पापैरभुंजानोऽपि निश्चितं।
अभुंजाना न किं मत्स्या श्वभ्रे यांति कषायतः ॥ १८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार दूसरी मछलियोंके न भी खानेवाले मत्स्य केवल कषायके द्वारा नरकमें जाते हैं उसीप्रकार अप्रासुक द्रव्योंके न भी खानेवाले मनुष्य यदि उनके खानेके लालसी-रागी हैं तो अवश्य कर्मोंसे बांधे जाते हैं। भावार्थ–स्वयंभूरमण समुद्रका महामत्स्य जिससमय सोता है उससमय उसका मुंह खुल जाता है और उसमें बहुतसे छोटे २ मत्स्य क्रीड़ा करते फिरते हैं। उनको देखकर शालिसिक्थ आदि-मत्स्य जो कि उसकेकान आदि स्थानोंपर रहते हैं वे मनही मन यह विचारा करते हैं कि यह मत्स्य कैसा मूर्ख है। यह क्यों नहिं मुंह बंद करता जिससे सब मत्स्य इसके पेटमें चले जांय, यदि हमें

ऐसा अवसर मिलता तो हम सबको गटकजाते । बस ! इसी कपायसे उन्हें नरक जाना पड़ता है इसी आशयको लेकर ग्रंथकारने यहां यह बात बतलाई है कि छोटे मत्स्योंको न भी खानेवाले केवल उनकी लालसासे प्रेरित शालिसिक्थ आदि मत्स्य जिसप्रकार कपायसे नरक जाते हैं उसीप्रकार अप्रासुक द्रव्योंके न भी खानेवाले किंतु उनमें लालसा रखनेवाले मनुष्यके रागके उदयसे अवश्य कर्मबंध होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे रागको सर्वथा छोड़ दें ॥१८॥

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते ।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥ १९ ॥

अर्थ–जिसप्रकार सुवर्ण कीचड़में पड़ा हुआ भी कीचड़से लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानी विषय भोग करता हुआ भी विषयोंमें लिप्त नहीं होता । भावार्थ–सुवर्णका कीचड़ आदि स्वरूप नहीं उसका स्वभाव चाकचिक्य आदि है इसलिये जिसप्रकार कीचड़से वह लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानीभी विषयोंसे लिप्त नहिं होता क्योंकि वह समझता है कि विषय मेरे स्वरूप नहीं, ये कर्म जनित उपाधियां हैं परंतु मैं असमर्थताके कारण उनका सेवन करता हूं ॥ १९ ॥

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः ।
तदर्थं बध्यते योगी नीरागो न कदाचन ॥ २० ॥

अर्थ–जो योगी अपनेलिये दूसरेसे आहार आदि कराता है वा करते हुयेकी 'वाह! बहुत अच्छा करते हो' ऐसी अनुमोदना करता है अथवा स्वयं बनाता है उसके कर्मोंका बंध होता है परंतु जो योगी रागरहित है आहार आदिको न कराता न करता और न उसकी अनुमोदना करता है उसके कर्मोंका बंध नहिं होता । भावार्थ–जो मनुष्य समस्त परिग्रहोंका त्यागकर दिगंबर मुनि हो जाते हैं उन्हें संयमके साधन शरीरकी स्थिरताकेलिये आहार आदि करना पड़ता है परंतु वे उसमें निस्पृह रहते हैं इसलिये उन्हें आहारादि कार्योंमें होनेवाली हिंसाका पाप नहिं लगता है । यदि उनका भोजन आदिमें राग होगा तो अवश्य उनके पाप बंध होगा यही बात इस श्लोकसे ग्रंथकारने यहां बतलाई है कि जो योगी रागके वशीभूत हो दूसरोंसे आहार आदि कराते हैं करतेहुयेकी अनुमोदना करते हैं वा स्वय बनाते हैं उनके अवश्य पापका बंध होता है किंतु जिनका आहारादिमें राग नहीं इसलिये न दूसरोंसे कराते हैं न अनुमोदना करते हैं और न स्वय बनाते हैं उनके पापबंध नहिं होता ॥ २० ॥

परद्रव्यैर्गतैर्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते ।
तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतः कदा ॥ २१ ॥

अर्थ–जो पुरुष नीराग-रागसे रहित है यदि वह भी परपदार्थके दोषोंसे बंधको प्राप्त होगा तब कहां, किससमय, कैसे, और किस मनुष्यकी शुद्धि होगी ? भावार्थ–यह नियम है कि जो मनुष्य दोषोंको करता है उसीके उन दोषोंके निमित्तसे कर्मबंध होता है किंतु यह वात नहिं हो सकती कि दोष करै दूसरा और बंधै दूसरा । यदि यह भी विपरीत नियम स्वीकार कर लिया जायगा कि दूसरेके दोष करनेपर दूसरा भी बध जाता है तब कहीं किसी कालमें कोई शुद्ध ही न कहा जा सकेगा तथा इसरीतिसे जो सिद्ध शिलामें विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं वे भी दोषी मानने पड़ेंगे क्योंकि उक्त नियमके स्वीकार करनेपर हमारे दोषोंसे वे भी अवश्य दोषी होंगे इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि रागोंके सद्भावमें होनेवाले कर्मबंधसे रागोंके अभावमें आत्मा बद्ध नहीं होसक्ती ॥ २१ ॥

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते ।
परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदकः ॥ २२ ॥

अर्थ–तथा नीराग–रागसे रहित योगी विषयोंको जानता हुआ भी कर्मबंधको प्राप्त नहिं होता यदि विषयोंके ज्ञाताके भी कर्मबंध हो जायगा तो केवलीके भी विषयज्ञानसे कर्मबंध होना चाहिये क्योंकि वे विश्ववेदी-समस्त पदार्थोंके जानकार हैं । भावार्थ–विषयोंका ज्ञान कर्मबंधमें कारण नहीं है क्योंकि विरागी पुरुष विषयोंका ज्ञानी होकर भी उनका सेवन नहिं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहिं होता । यदि यह मानलिया जायगा कि विषयोंके ज्ञानसे भी कर्मबंध होता है तो केवली भगवानके भी विषयजन्य कर्मबंध स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि केवली सर्व पदार्थोंके ज्ञाता होते हैं इसलिये मानना पडेगा विषयोंका ज्ञान कर्मबंधमें कारण नहीं उनके भोगनेकी लालसा ही कर्मबंधमें कारण है ॥२२॥

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च । अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च ॥ २३ ॥
यथावस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते । रागद्वेषमदक्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥ २४ ॥

अर्थ–जो मनुष्य ज्ञानी है-स्वपरपदार्थोंका यथार्थ ज्ञान रखता है वह सब पदार्थोंको जानता ही है अनुभव नहिं

करता, किंतु जो पुरुष अज्ञानी है-स्वपरका जरा भी भेद नहिं जानता वह समस्त पदार्थोंका अनुभव करता है उन्हें पूर्णरूपसे जानता नहीं क्योंकि जो मनुष्य ज्ञानवान हैं उन्होंने जो वस्तु जैसी है उसे उसीरूपसे जानना ज्ञान कहा है और उनमें राग द्वेष मद और क्रोध आदि करना अनुभव बतलाया है । भावार्थ-यदि कोई ऐसी शंका करे कि जो ज्ञानी होता है वह अनुभवी भी होता है इसलिये उसके भी कर्मबंध होना चाहिये उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि जो मनुष्य ज्ञानी होता है वह केवल समस्त द्रव्योंके स्वरूपको जानता ही है, विषय आदि निकृष्ट पदार्थोंको अकल्याणकारी जान उनका सेवन नहिं करता किंतु जो अज्ञानी है उसे हेय उपादेयके ज्ञानके अभावसे पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान नहिं होता इसलिये वह सब बातका अनुभव करता है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसाही जानना सम्यग्ज्ञान है और उनमें राग द्वेष अहंकार क्रोध आदि करना वेदन है । ज्ञानी जो जैसा है उसे वैसाही जानता है राग द्वेष आदि नहिं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहिं होता और अज्ञानी उनमें राग द्वेष आदि करता है और उनके असली स्वरूपको नहिं समझता इसलिये उसके कर्मबंध अवश्य होता है ॥ २३–२४ ॥

नाज्ञाने ज्ञानपर्याया ज्ञाने नाज्ञानपर्यया: ।
न लोहे स्वर्णपर्याया न स्वर्णे लोहपर्यया: ॥ २५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार लोहेमें सोनेकी पर्यायें और सोनेमें लोहकी पर्यायें नहिं होती उसीप्रकार अज्ञानमें ज्ञानकी पर्यायें और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्यायें नहिं होतीं । भावार्थ–पर्याय पर्यायीका निश्चयनयसे अभेदसंबंध है जो एक पदार्थकी पर्याय हैं वे दूसरे पदार्थकी कभी नहिं हो सकतीं–कढ़ाई करछी आदि लोहेकी पर्याय हैं, कड़ा कुंडल आदि सुवर्णकी पर्याय हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि सम्यग्ज्ञानकी पर्याय हैं और कुमति कुश्रुति आदि अज्ञानकी पर्याय हैं तो जिसप्रकार लोहमें सुवर्णकी पर्याय नहिं रहतीं और सुवर्णमें लोहकी पर्याय नहिं रहतीं उसीप्रकार अज्ञानमें ज्ञानकी पर्याय नहिं रह सकतीं और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्याय नहिं रह सकतीं किंतु जिसप्रकार लोहकी पर्याय लोहमें ही और सुवर्णकी सुवर्णमें ही रहती हैं उसीप्रकार ज्ञानकी पर्याय ज्ञानमें ही और अज्ञानकी अज्ञानमें ही रहती हैं इसलिये अज्ञानसे होनेवाला कर्मबंध सम्यग्ज्ञानके होनेसे नहिं हो सक्ता ॥ २५ ॥

ज्ञानीति ज्ञानपर्यायी कल्मषानामबंधकः ।

अज्ञश्चाज्ञानपर्यायी तेषां भवति बंधकः ॥ २६ ॥

अर्थ—ज्ञानवान पुरुष ज्ञानकी पर्यायोंका धारक है इसलिये उसके पापोंका बंध नहिं होता और जो मनुष्य अज्ञानी वा अज्ञानस्वरूप पर्यायोंका धारक है उसके पापोंका बंध होता है। भावार्थ—यह बात पहिले भी कहदी जा चुकी है कि पापबंधमें कारण ज्ञान नहिं अज्ञान है इसलिये अज्ञानीके ही पापबंध होता है ज्ञानीके नहीं ॥ २६ ॥

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा।
ज्ञानी वेत्ति परो भुंक्ते बंधकाबंधकौ ततः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिससमय कर्म उदयमें आते हैं और सुख दुःखरूप फलको देते हैं उससमय ज्ञानी मनुष्य उनके स्वरूपको जानता है अनुभव नहि करता परंतु अज्ञानी उनका अनुभव करता है-सुखी दुखी होता है इसलिये अज्ञानीके तो कर्मबंध होता है और ज्ञानीके नहीं। भावार्थ—सुख दुःख आदि कर्मोंके फल हैं। जिससमय ज्ञानीके कर्म उदयमें आते हैं सुख दुःख आदि देते हैं उससमय ज्ञानी मनुष्य यह समझकर कि "सुख दुःख देना कर्मोंका स्वभाव है—सदा ये सुख दुःख दिया ही करते हैं तथा ये सुख दुःख शरीरको होते हैं और शरीर जड़ एवं मुझसे भिन्न है। मैं तो चिदानंद चैतन्यस्वरूप हूं। मुझे सुख दुःख नहिं हो सकता" सुखी दुखी नहि होता। परंतु अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानता है इसलिये जब उसके कर्मोंका उदय होता है और जब वे सुख दुःख देते हैं उससमय वह सुखी दुःखी होने लगता है इसलिये ज्ञानवान होनेसे रागादि परिणामोंके अभावमें ज्ञानीके कर्मबंध नहिं होता और अज्ञानीके अज्ञानसे कषायरूपपरिणाम होनेके कारण कर्मबंध होता है ॥ २७ ॥

कर्म गृह्णाति संसारी कषायपरिणामतः।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीवः कर्मविपाकतः ॥ २८ ॥

अर्थ—यह संसारी जीव क्रोध आदि कषायरूप परिणामोंसे कर्मोंका ग्रहण करता है और जिससमय कर्मोंका विपाक शुभ किं वा अशुभ होता है उससमय वह शुभसे शुभगति और अशुभसे अशुभगतिको जाता है। भावार्थ—गति मनुष्य आदिके भेदसे चार तरहकी है उसमें जो उत्तम है उसका नाम सुगति और जो हीन है उसका नाम दुर्गति है

तथा शुभ कर्मसे सुगतिकी प्राप्ति और अशुभ कर्मसे दुर्गतिकी प्राप्ति होती है। यह संसारी जीव सदा क्रोधादि कषाय और राग आदिसे कलुषित रहता है इसलिये सदा इसके कर्मोंका ग्रहण हुआ करता है और उससे इसै शुभ किंवा अशुभ गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः स्वीकरोति कलेवरं। तत्रेंद्रियाणि जायंते गृह्णाति विषयांस्ततः ॥२९॥
ततो भवंति रागाद्यास्तेभ्यो दुरितसंग्रहः। तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकधा ॥३०॥
दुःखतो विभ्यता त्याज्याः कषाया ज्ञानशालिना। ततो दुरितविच्छेदस्ततो निर्वृतिसंगमः॥

अर्थ—जिससमय यह जीव सुगति दुर्गतिमें जाता है उससमय वहां इसके शरीर उत्पन्न होता है। शरीरमें इंद्रियोंकी उत्पत्ति और उनसे विषयोंको ग्रहण करता है। विषयोंसे राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति होती है। राग आदिसे पापोंका संचय, पापोंसे संसारमें घूमना और फिर अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो मनुष्य ज्ञानवान हैं और दुःखोंसे भय करते हैं उन्हें कषायोंका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये क्योंकि कषायोंसे पापका नाश और पापोंके नाशसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—यहांपर ग्रंथकारने यह बात बतलाई है कि यदि आत्माको हानि पहुंचाते हैं तो कषाय पहुचाते हैं और यदि उसै कल्याणकी प्राप्ति होती है तो कषायोंके अभावसे ही होती है। क्योंकि आयु बांधते समय जैसे इस जीवके कषाय विद्यमान रहते हैं उनके अनुसार ही इसै नरक आदि गतियोंकी प्राप्ति होती है। सुगति वा दुर्गतिमें इसको नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। शरीरके साथ इद्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इंद्रियोंके द्वारा यह इष्ट अनिष्ट विषयोंको ग्रहण करता है। विषयोंके ग्रहणसे इसकी आत्मामें राग द्वेष आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती है उनसे पापोंका संचय और पापोंसे संसारमें घूमना पड़ता है तथा वहां नानाप्रकारके क्लेश भोगने पड़ते हैं इसलिये संसारकी दशासे भयभीत जो ज्ञानवान पुरुष कषायोंका सर्वथा त्याग करदेता है-राग द्वेष क्रोध आदिको अपने पासभी नहिं फटकने देता उसके कर्मोंका नाश हो जाता है और जिससमय वह समस्त कर्मोंका नाश करदेता है उससमय उसके परम पावन मोक्ष धामकी प्राप्ति होती है और वहां वह निराकुलतामय सुखका अनंत कालतक आस्वादन करता है ॥२९-३०-३१॥

संति रागादयो यस्य सचित्ताचित्तवस्तुषु। प्रशस्तो वाऽप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥३२॥

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः। द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुखदुःखवितारकं ॥ ३३ ॥

अर्थ–जिस मनुष्यके सचित्त वा अचित्त पदार्थोंमें राग द्वेष आदि होते हैं उसके प्रशस्त वा अप्रशस्त परिणाम होते हैं। उनमें प्रशस्त परिणामोंका नाम पुण्य है और अप्रशस्त परिणामोंको पाप कहते हैं। ये दोनों ही पुण्य और पाप पौद्गलिक हैं-पुद्गलके विकार हैं इसलिये मूर्तिक हैं और सुख दुःख देनेवाले हैं अर्थात् पुण्य और पापके निमित्तसे जीवोंको सुख दुःख भोगना पड़ता है। भावार्थ–संसारी जीवोंका यह एक प्रकारका स्वभाव सरीखा पड़ रहा है कि वे पुत्र मित्र स्त्री आदि सचित्त पदार्थोंमें वा उत्तम वस्त्र सुवर्ण धन आदि अचित्त पदार्थोंमें राग करते हैं और शत्रु सर्प आदि वा कांटा कंकड़ आदि पदार्थोंमें द्वेष करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि इनके राग और द्वेषके निमित्तसे पुण्य और पापोंका वध होता है और उनसे चिरकालतक ये सुख दुःखका भोग करते हुये इस संसारमें रुलते रहते हैं।

मूर्त्तो भवति भुंजानः सुखदुःखफलं तयोः।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ–जिससमय यह आत्मा पुण्य और पापके सुख दुःखरूप फलका भोग करता है उससमय यह अमूर्त रहनेपर भी मूर्त हो जाता है क्योंकि मूर्तिक कर्मका फल भी मूर्तिक होता है और अमूर्त, मूर्तफलको भोग नहिं सकता। भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि कर्म, पुद्गल हैं इसलिये रूप रस आदि मूर्तियोंके धारक होनेसे वे मूर्त हैं तथा जिनका उपादान कारण जैसा होता है वे कार्य भी वैसे ही होते हैं। सुख दुःखके उपादान कारण मूर्तिक कर्म हैं इसलिये सुख दुःखरूप फल भी मूर्तिक हैं। तथा जो पदार्थ मूर्तिक होता है वही मूर्तिक फलको भोग सकता है अमूर्तिक पदार्थ, मूर्तिक फलका भोग नहिं कर सकता इसलिये यह वात पूर्ण रूपसे निश्चित है कि जिससमय आत्मा मूर्तिक कर्मके फल सुख दुःखका उपभोग करता है अर्थात् जवतक संसारी रहता है तवतक कथंचित् मूर्तिक भी रहता है ॥ ३४ ॥ तथा–

मूर्त्तो भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः ॥ ३५ ॥

अर्थ–अमूर्त भी यह आत्मा जवतक पुण्य पापके आधीन रहता है तवतक मूर्त वना रहता है किंतु जिससमय

यह पुण्य और पापोंसे सर्वथा रहित हो जाता है उससमय फिर यह वैसाका वैसा ही अमूर्त हो जाता है ॥३५॥ क्योंकि-

विकारं नीयमानोऽपि कर्मभिः स विकारिभिः ।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये ॥ ३६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार विकार करनेवाले मेघोंसे विकृत बना हुआ आकाश मेघोंके नष्ट होनेपर फिर अपने स्वभावको धारण कर लेता है-ज्योंका त्यों स्वच्छ अमूर्तिक हो जाता है उसीप्रकार विकार करनेवाले कर्मोंसे विकृत भी यह आत्मा कर्मोंके नष्ट हो जानेपर फिर अपने स्वभावको धारण करलेता है-ज्योंका त्यों अमूर्तिक हो जाता है । भावार्थ–यदि देखा जाय तो आकाश स्वभावसे स्वच्छ अमूर्तिक है परंतु जिससमय उसके साथ मेघोंका संबंध हो जाता है उससमय तो वह विकृत हो जाता है और जब मेघोंका नाश हो जाता है उससमय फिर ज्योंका त्यों स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार चिदानंद चैतन्य स्वरूपका धारक यह आत्मा भी स्वभावसे अमूर्तिक है परंतु जिससमय इसके साथ कर्मोंका संबंध हो जाता है उससमय इसका असली स्वभाव ढक जाता है और यह मूर्तिक हो जाता है किंतु जिससमय कर्मोंका संबंध नष्ट हो जाता है उससमय इसका असली स्वभाव प्रकट हो जाता है और यह अमूर्तिक हो जाता है ॥ ३६ ॥ तथा–

आर्हदादौ परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजंतुषु । पावने चरणे रागः पुण्यबंधनिबंधनं ॥ ३७ ॥
निंदकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजंतुषु । निंदिते चरणे रागः पापबंधविधायकः ॥ ३८ ॥

अर्थ–अर्हंत सिद्ध आदि पांचो परमेष्ठियोंमें भक्ति, समस्त जीवोंपर करुणा और पवित्र चारित्रमें प्रीति करनेसे तो पुण्य बंध होता है तथा अर्हंत आदि पूज्य पुरुषोंकी निंदा करना समस्तजीवोंमें निर्दयभाव रखना और निंदित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि पाप बंधका कारण है । भावार्थ–अच्छे कार्योंके करनेसे पुण्यबंध और बुरे कार्योंके करनेसे पापबंध होता है । अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें भक्तिभाव रखना समस्त जीवोंमें दयाभाव और पवित्र चारित्रमें प्रेम, आदि अच्छे कार्य हैं तथा पूज्य पुरुषोंकी निंदा करना सब जीवोंमें निर्दयभाव रखना और निंदित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि बुरे कार्य हैं ॥ ३७ ३८ ॥

सुखदुःखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः । नित्यं सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः ॥ ३९ ॥

पश्यंतो जन्मकांतारे प्रवेशं पुण्यपापतः। विशेषं प्रतिपद्यंते न तयोः शुद्धबुद्धयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो पुरुष मूढबुद्धि हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुखके ज्ञानसे वंचित हैं, वे तो सुख दुःख रूप कार्यके भेदसे पुण्य और पापमें विशेष मानते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि पुण्यसे सुख मिलता है इसलिये पुण्य उत्तम है और पापोंसे दुःख होता है इसलिये पाप बुरे हैं परंतु जो मनुष्य शुद्धबुद्धिके धारक हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुखके भलेप्रकार ज्ञाता हैं वे यह समझ कर कि पुण्य पाप दोनोंसे ही संसारमें भ्रमण करना पड़ता है उन दोनोंको ही दुःखदायी मानते हैं। भावार्थ—जो सुख निराकुलतामय और अविनाशी हो वह तो वास्तविक सुख है किंतु जिस सुखमें आकुलता हो और जो परिणाममें विनाशीक हो वह सुख नहीं दुःख ही है। यद्यपि पुण्यसे संसारमें चक्रवर्ती कामदेव तीर्थंकर आदि पदोंमें उत्तमोत्तम सुख मिलते हैं परंतु वे भी विनाशीक होनेसे दुख ही माने गये हैं। खैर! मान भी लिया जाय कि पुण्यसे सुख मिलता है तो भी जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब पापका उदय होता है और उससे नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं एवं अनंतकाल तक संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये जो पुरुष विद्वान पूर्ण-रूपसे आत्मस्वरूपके जानकार हैं वे यह समझकर कि पुण्य पाप दोनोंसे ही संसारमें घूमना पड़ता है पुण्यको उत्तम और पापको बुरा नहि कहते किंतु जो मनुष्य भोले भाले हैं-जरासे सुखसे सुखी और जरासे दुःखसे दुखी हो जाते हैं वे पुण्यसे कुछ सुख मिलता देख उसे उत्तम मानते हैं और पापसे दुःख मिलता देख उसे बुरा कहते हैं और आत्माके स्वरूपको न जाननेकी कोशिश कर उनकेही प्राप्त करनेकी कोशिश करते हैं ॥ ३९–४० ॥

विषयसुखतो व्यावृत्य स्वस्वरूपमवस्थितस्त्यजति धिषणां धर्माधर्मप्रबंधनिबंधनीं।
जननगहने दुःखव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं कलिलविकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिं ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य विषयसुखसे रहित होकर अपने स्वरूपमें निश्चलरूपसे स्थित होता है और दुःखरूपी बाघसे युक्त संसाररूपी वनमें घुमानेवाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धिको सर्वथा छोड़ देता है वह समस्त कर्मोंसे रहित निष्कलंक आ-त्मस्वरूपको प्राप्त कर अविनाशी निर्वाण धाममें जा विराजता है। भावार्थ—जब तक मनुष्य विषयसुखसे मुख न मोड़ेगा तब तक वह अपने आत्मिक स्वरूपमें निश्चलरूपसे स्थित नहिं होसकता क्योंकि विषयसुखके सेवनसे चित्तमें चंचलता रहती

है और जिससमय परिणाम निश्चल रहते हैं उससमय स्वस्वरूपमें स्थिति होती है तथा जब तक मनुष्य स्वस्वरूपमें स्थित न होगा तब तक अनंतकाल पर्यंत अनेक प्रकारके दुःखोंसे जटिल संसारमें घुमानेवाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धिका त्याग न कर सकैगा। जब तक पुण्य पाप संबंधी बुद्धिका नाश न होगा तब तक सदा कर्मोंका बंध होता रहेगा और जब तक कर्मोंका नाश न होगा तब तक मोक्ष धामकी प्राप्ति न हो सकैगी जो कि जीवोंको अचिंत्य शांति प्रदान करनेवाली है इसलिये जो मनुष्य मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले अपना मुख विषयोंसे मोड़ें पश्चात् स्वस्वरूपमें स्थित हों, स्वस्वरूपमें स्थित होकर पुण्य पापकी वासनाको छोड़ें और फिर समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षसुखका अनुभव करै ॥ ४१ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें बंधाधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ संवराधिकार ॥ ५ ॥

कल्मषागमनद्वारनिरोधः संवरो मतः । भावद्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ १ ॥
रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः । दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः ॥ २ ॥

अर्थ--जिन द्वारोंसे कषायोंका आस्रव होता है उन द्वारोंका रुकजाना संवर है और वह संवरके धारक केवली महात्माने भावसंवर और द्रव्यसंवरके भेदसे दो प्रकारका बतलाया है । उनमें कषायोंका रुकना तो भावसंवर है और कषायोंके रुकजानेपर जो कर्मास्रवका रुकजाना है वह द्रव्यसंवर है । भावार्थ--पहिले तो कहदिया गया है कि शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापरों द्वारा जो कर्मोंका आना है उसका नाम आस्रव है और यहां जिन द्वारोंसे कर्म आते हैं उन द्वारोंका रुकजानारूप संवर कहा है तथा यह संवर दो प्रकारका है एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर । जो भावरूप कषायोंका रुकना है वह तो भावसंवर है और उन कषायोंके रुकजानेपर द्रव्यरूप कर्मोंका जो आना बंद होजाना है वह द्रव्यसंवर बतलाया है ॥ १-२ ॥

कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः संति कर्मतः ।

अधिका ५ ७४

ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा ॥ ३ ॥

अर्थ--क्योंकि कषायोंसे कर्मकी उत्पत्ति और कर्मसे कषायोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये जिससमय कर्म और कषाय दोनोंका नाश हो जाता है उससमय उत्कृष्ट शुद्धिकी प्राप्ति होती है। भावार्थ--यहांपर कषाय शब्दसे भावकर्मोंका और कर्मशब्दसे द्रव्यकर्मोंका ग्रहण ग्रंथकारको अभिमत है इन दोनोंका अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्मोंका आपसमें बीज वृक्षके समान अन्योन्याश्रय संबंध है क्योंकि जिसप्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी उत्पत्ति होती है यह कोई नहिं कह सकता कि बीज पहिले था वा वृक्ष। उसीप्रकार कषाय--भावकर्मोंसे द्रव्यकर्मोंकी उत्पत्ति होती है और द्रव्यकर्मोंसे भावकर्मोंकी उत्पत्ति होती है यहांपर भी यह नहिं कहा जा सकता कि कषाय पहिले थे या द्रव्यकर्म। तथा जिसप्रकार बीज वा वृक्षके सर्वथा नष्ट करदेनेपर आगे परंपरा नहिं चलती उसीप्रकार कषाय वा द्रव्य कर्मके नष्ट हो जानेपर 'कषायसे कर्म और कर्मसे कषाय' यह परंपरा भी नष्ट हो जाती है तथा जिससमय यह परंपरा नष्ट हो जाती है उससमय आत्मामें विशेष शुद्धि प्रकट हो जाती है ॥ ३ ॥ तथा--

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते। परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोधः प्रहीयते ॥ ४ ॥
प्रहीणस्वात्मबोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः। कारणं कर्मबंधस्य कषायस्त्यज्यते ततः ॥ ५ ॥

अर्थ--कषायसे कलुषित यह जीव परद्रव्योंमें प्रवृत्ति करता है-उन्हें अपनाता है परद्रव्योंमें प्रवृत्ति करनेसे इसका स्वात्मबोध-स्वस्वरूप ज्ञान नष्ट होता है। जब स्वात्मबोध नष्ट हो जाता है उससमय इसके मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है-यह परपदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान कर उन्हें अपना समझने लगता है और परपदार्थोंको अपना समझनेसे कर्मबंध होता है इसलिये कर्मबंधके प्रधान कारण कषायोंको मान उनका त्याग किया जाता है। भावार्थ--यह नियम है जब तक यह आत्मा कर्मबंधनोंसे बंधा रहेगा तबतक कभी इसे शांतिकी प्राप्ति नहिं हो सकती और कर्मबंधनोंमें कारण कषाय हैं क्योंकि जिससमय यह क्रोध आदि कषायोंसे कलुषित होता है उससमय परद्रव्य-स्त्री पुत्र आदिमें कभी राग कभी द्वेष कभी मोह आदि करता है। परद्रव्योंमें राग आदि करनेसे इसका स्वाधीनबोध नष्ट हो जाता है। स्वाधीनबोधके नष्ट होजानेपर इसके मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है जिससे इसका सब श्रद्धान विपरीत हो जाता है और उस विपरीत श्रद्धान

के द्वारा इसके निरंतर कर्मोंका आस्रव और बंध होता रहता है इसलिये कर्मोंके आस्रव वा बंधमें कषाय ही कारण हैं ऐसा जानकर विद्वान लोग कषायोंका सर्वथा त्याग करदेते हैं ॥ ४–५ ॥

कषायोंका नाश कौन कर सकता है यह बतलाते हैं—

निष्कषायो निरारंभः स्वान्यद्रव्यविवेचकः । धर्माधर्मनिराकांक्षो लोकाचारनिरुत्सुकः ॥६॥
विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलं । यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ ॥ ७ ॥

अर्थ–जो महात्मा कषाय और आरंभोंसे रहित है, स्व और परका पूर्णरूपसे भेद जानता है, पुण्य पापमें आकांक्षा रहित है, लोकके व्यवहारोंमें उदासीन है और अपनी आत्मासे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप निर्दोष अपनी आत्माका ध्यान करता है वह अवश्य ही समस्त कषायोंका नाशकर देता है। भावार्थ–जबतक कषाय और आरंभोंमें प्रवृत्ति होगी, अपना पराया भेद न जाना जायगा, पुण्य और पापमें अभिलाषा बनी रहेगी, लोक व्यवहारमें भी परिणति फँसी रहेगी और विशुद्ध सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप अपनी आत्माका अपनेसे ध्यान न किया जायगा तबतक कदापि कषायोंका क्षय नहिं हो सकता इसलिये जो महात्मा यह चाहते हैं कि हमारे कषायोंका नाश हो जाय उन्हें चाहिये कि वे कषाय और आरंभका त्याग करै, अपने और परपदार्थोंके स्वरूपको समझें, पुण्य पापरूप वासनाओंमें किसीप्रकारकी आकांक्षा न रक्खें, लोकके जितने व्यवहार हैं उनसे उदसीन रहैं और विशुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप अपनी अत्माका ध्यानकरैं ॥ ६–७ ॥ तथा—

वर्णगंधरसस्पर्शशब्दयुक्तैः शुभाशुभैः । चेतनाचेतनैर्मूर्तैरमूर्तैः पुद्गलैरयं ॥ ८ ॥
शक्यो नेतुं सुखं दुःखं संबंधाभावतः कथं । रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढमानसैः ॥ ९ ॥
निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः । रोषतोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ॥

अर्थ–यह पुद्गल वर्ण गंध रस स्पर्श और शब्दोंसे युक्त है, शुभ अशुभ-पुण्य पापस्वरूप है, चेतन अचेतन और मूर्तिक अमूर्तिक है इसलिये न इसके द्वारा जीवको सुख पहुंच सकता है और न दुःख । क्योंकि इसके साथ जीवका कोई संबंध नहीं। परंतु ये मनुष्य इतने मूढ-अज्ञानी हो रहे हैं कि वृथा रूप रस गंध आदिमें राग द्वेष करते हैं इसलिये जो

पुरुष भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं उन्हें यह समझकर कि इस चिदानंद चैतन्यस्वरूप आत्माको न कोई सुखी बना सकता है और न कोई दुःखी, किसीमें राग और द्वेष न करना चाहिये । भावार्थ–जिसमें मिलना विछुड़ना होता है उसमें नियमसे रूप आदि गुण विद्यमान रहते हैं पुद्गलमें मिलने विछुड़नेकी शक्ति मोजूद है इसलिये वह रूप रस आदि गुणोंसे युक्त है, शुभ और अशुभ है अर्थात् किसी जातिके पुद्गल परमाणु शुभ कहलाते हैं और किसी जातिके अशुभ, चेतनस्वरूप और अचेतनस्वरूप है अर्थात् जो पुद्गल परमाणु राग द्वेष क्रोध मान आदि भाव-कर्म रूप परिणत हो जाते हैं वे चेतनस्वरूप और अन्य अचेतनस्वरूप कहे जाते हैं एवं वह मूर्तिक और अमूर्तिक स्व-रूप भी है अर्थात् राग द्वेष पुद्गलकी पर्याय आत्माके विभाव परिणाम कहे जाते हैं इसलिये उन्हें अमूर्तिक भी कहदेते हैं और उनसे भिन्न मूर्तिक है । ऐसे पुद्गलके साथ जीवका कोई संबंध नहीं क्योंकि जीवका स्वरूप भिन्न है और पु-द्गलका भिन्न। तथापि ये मूढ़ मनुष्य व्यर्थही उत्तम रूप उत्तम रस उत्तम गंध आदिमें राग और निंदितरूप निंदितरस और दुर्गंध आदिमें द्वेष करते हैं इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं-स्वपरका वास्तविक भेद समझते हैं उन्हें यह जानकर कि आ-त्माको कोई सुखी दुःखी नहिं वना सकता जराभी किसी पदार्थमें राग द्वेष नहिं करना चाहिये किंतु मध्यस्थ हो अ-पनी आत्माको विशुद्ध बनानेका उपाय करना चाहिये ॥ ८–९–१० ॥

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः ।
उपकारेऽपकारे क रज्यते क विरज्यते ॥ ११ ॥

अर्थ–विद्वान मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि अन्य मनुष्यका अचेतन शरीर दीखता है चेतन आत्मा नहीं इसलिये उससे कुछ उपकार होनेपर राग करना और अपकार होनेपर द्वेष करना वृथा है ॥ ११ ॥ तथा—

शत्रवः पितरो दाराः स्वजना भ्रातरोऽगजाः ।
निगृह्णंत्यनुगृह्णंति शरीरं चेतनं न मे ॥ १२ ॥

अर्थ–वैरी पिता स्त्रियां परिवारके लोग भाई और पुत्र मेरे शरीरका ही उपकार अपकार कर सकते हैं किंतु मेरे आत्माका नहीं । भावार्थ–बहुतसे मूढ़ मनुष्योंका यह विचार रहता है कि वैरी पिता स्त्रियां आदि हमारे उपकारी और

अपकारी हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे यदि उपकार वा अपकार करते हैं तो अचेतन शरीरका ही करते हैं आत्माका नहीं क्योंकि वह चिदानंद चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है और मूर्तिकसे अमूर्तिकका उपकार नहीं हो सक्ता १२

मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनं ।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम ॥ १३ ॥

अर्थ-मैं चेतनस्वरूप हूं और शरीर अचेतनस्वरूप है इसलिये वह मुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा जानकर भी यदि मैं शत्रु मित्र आदिमें राग द्वेष करूं तो वह मेरा कैसे युक्त हो सकता है? अर्थात् शत्रु मित्र आदि द्वारा शरीरमें उपकार अपकार होनेपर उनमें मेरा राग द्वेष करना सर्वथा व्यर्थ है । भावार्थ-जो अपना हो यदि उसका कोई उपकार अपकार करै तब अवश्य राग द्वेष करना चाहिये परंतु यह शरीर तो अपना है नहीं। यह तो आत्मासे सर्वथा भिन्न है इसलिये यदि शत्रु मित्र द्वारा उसका उपकार अपकार होता है तो उससे कदापि राग द्वेष न करना चाहिये ॥ १३ ॥ तथा—

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः ।
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोहं विदधे कथं ॥ १४ ॥

अर्थ-मुझे जो शत्रु मित्र आदि दीखरहे हैं सो उनके अचेतन शरीर दीखरहे हैं वे (उनकी आत्मा) नहीं इसलिये यदि मैं उनका कुछ अपकार वा उपकार करना चाहूं तो व्यर्थ है अर्थात् शत्रु मित्र आदिके शरीरोंके उपकार अपकारसे उनका (उनकी आत्माका) उपकार अपकार नहिं हो सकता क्योंकि शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है ॥ १४ ॥

स्वदेहोपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः ।
निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन् मन्ये वृथामतिः ॥ १५ ॥

अर्थ-जब मेरा शरीर भी मेरे उपकार वा अपकार करनेमें समर्थ नहीं तब मेरा दूसरा उपकार वा अपकार करता है यह मेरा विचार निरर्थक है। भावार्थ-यदि अपना शरीर भी अपना उपकार अपकार करता तो कथंचित् यह कह दिया जाता कि अन्य भी मेरा उपकार अपकार करसक्ता है परंतु जब अपना शरीर भी मेरा उपकार अपकार कर नहिं सकता तब दूसरा मनुष्य उपकार अपकार कैसे कर सक्ता है इसलिये ऐसा माननेवाला पुरुष कि मैं इसका उपकार वा अपकार करता हूं मूढबुद्धि है ॥ १५ ॥

शक्यंते न गुणाः कर्तुं हर्तुमन्येन मे यतः । कर्तुं हर्तुं परस्यापि न पार्यंते गुणा मया ॥ १६ ॥
मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणाः । मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्ततः १७

अर्थ—न कोई मेरे गुणोंका कर्ता हर्ता है और न मैं किसीके गुणोंका कर्ता हर्ता हूं इसलिये मूढ़ पुरुष जो यह कल्पना करते हैं मैं दूसरेके गुणकी उत्पत्ति वा नाश करदेता हूं और दूसरा मेरे गुणको उत्पन्न वा नष्ट कर देता है यह बुद्धि सर्वथा मिथ्या है । भावार्थ—गुण आत्माके स्वभाव हैं और जो स्वभाव होते हैं उनका कभी नाश नहिं हो सकता इसलिये न तो कोई मेरे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि अविनाशी गुणोंको उत्पन्न वा नष्ट कर सकता है और न मैं ही दूसरेके गुण उत्पन्न वा नष्ट कर सकता हूं इसलिये जो मैं दूसरेके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको उत्पन्न और नष्ट कर देता हूं और दूसरा मेरे उन गुणोंकी उत्पत्ति वा नास्ति कर देता है यह विचार स्वपरके भेदसे सर्वथा विमुख अज्ञानी जीवोंका है गुण पदार्थका कभी नष्ट हो ही नहीं सकता ॥ १६–१७ ॥

ज्ञानदृष्टिचरित्राणि ह्रियते नाक्षगोचरैः । क्रियंते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥ १८ ॥
उत्पद्यंते विनश्यंति जीवस्य परिणामिनः । ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥१९॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन और चारित्रका न तो इंद्रियोंके विषयोंसे हरण होता है और न गुरुओंकी निरंतर सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है किंतु इस जीवके परिणमन शील होनेसे प्रतिसमय इसके गुणोंकी पर्याय पलटतीं हैं--मतिज्ञान आदि-की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये मतिज्ञान आदिका उत्पाद विनाश न तो स्वयं जीवही कर सकता है और न कभी परपदार्थसे ही उनका उत्पाद विनाश हो सकता है । भावार्थ—यहांपर ग्रंथकारने आत्माका गुण चैतन्य माना है और ज्ञान दर्शन आदिको पर्यायकी कोटिमें ग्रहण किया है किंतु अन्य शास्त्रोंमें ज्ञान दर्शनको भी गुण ही माना है इसलिये कोई यदि यहांपर यह शंका करै कि इंद्रियोंके विषयोंसे ज्ञान दर्शन और चारित्रका नाश होता अनुभवमें आता है और गुरु आदिकी सेवासे उनकी उत्पत्ति हुई देखी जाती है फिर उनके उत्पाद और व्ययका निषेध क्यों ? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने दिया है कि तुम जो यह मानते हो कि इंद्रियोंके विषयोंमें फस जानेसे ज्ञान आदिका नाश और गुरु आदिकी सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है यह भ्रम है क्योंकि यह आत्मा

परिणामशाली है इसलिये उसके गुणोंका स्वयं परिणमन हुआ करता है कभी ज्ञान मतिज्ञानरूप परिणत हो जाता है और कभी श्रुतज्ञान आदिरूप, ऐसा नहीं कि वे गुण तो थे नहीं और उत्पन्न हो गये ॥ १८–१९ ॥

शरीरमिंद्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः। ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वतः ॥ २० ॥
तत्त्वतो यदि जायंते तस्य ते न तदा भिदा। दृश्यंते दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मताः २१

अर्थ–शरीर इंद्रिय द्रव्य विषय ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं यह बात व्यवहारसे कहदी जाती है निश्चयनयसे नहीं। यदि निश्चयनयसे भी यह बात मानली जाय शरीर आदि आत्माके हैं तब शरीर आदि और आत्मामें भेद न होना चाहिये और भेद तो देखनेमें आता है–शरीर आदि जुदे दीख पड़ते हैं और आत्मा जुदा दीखता है इसलिये शरीर आदि आत्माके नहीं। भावार्थ–यहांपर यदि कोई ऐसी शंका करै कि संसारमें यह व्यवहार देखनेमें आता है कि शरीर मेरा है स्पर्शन आदि इद्रियां, सुवर्ण चांदी आदि द्रव्य, रूप रस गंध आदि इद्रियोंके विषय, भांति भांतिके ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं। इसलिये ये आत्माके ही हैं तो उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि उपर्युक्त बातें व्यवहार नयसे है निश्चय नयसे नहीं यदि उनको निश्चय नयसे भी मानलिया जायगा तो शरीर आदि और आत्मामें जो भेद देखनेमें आता है वह भेद न दीखना चाहिये इसलिये यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि शरीर आदि आत्मा के नहीं वे उससे भिन्न हैं ॥ २०–२१ ॥

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा।
आत्मतत्त्वरतो योगी विदधाति स संवरं ॥ २२ ॥

अर्थ–जो योगी इसप्रकार आत्मा और परपदार्थोंके स्वरूपको भलेप्रकार पहिचानकर परको पर और स्वको स्व मानता है एवं आत्मतत्त्वमें लीन होता है उसी योगीके संवर होता है। भावार्थ–जबतक वास्तविक रूपसे द्रव्योंके स्वरूपका ज्ञान नहिं होता तबतक परपदार्थ क्या है ? और स्व क्या है ? यह बोध नहिं हो सकता और जबतक स्वपरका वास्तविक ज्ञान नहीं, तबतक स्व-आत्मतत्त्वमें लीनता नहीं होती और जबतक आत्मतत्त्वमें लीनता नहीं होती तबतक संवरकी प्राप्ति नहि हो सकती इसलिये जो योगी संवर करना चाहता है उसे चाहिये कि वह पूर्वोक्त रीतिसे स्व परका ज्ञान कर आत्मतत्त्वमें लीन हो ॥ २२ ॥

विदधाति परो जीवः किंचित्कर्म शुभाशुभं। पर्यायापेक्षया भुंक्ते फलं तस्य पुनः परः ॥२३॥
य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीवः शुभाशुभं। स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलं ॥२४॥
मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलं। आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलं ॥ २५ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा जीव शुभ अशुभ कर्मको उपार्जन करता है और दूसरा उसके शुभ अशुभ फलको भोगता है किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जो जीव शुभ अशुभ कर्मोंका उपार्जन करता है वही उसके फलको भोगता है क्योंकि अनुभवमें आता है कि पर्यायार्थिक नयसे मनुष्य पुण्यका संचय करता है और जब वह मरकर देव होता है उससमय वह पुण्यके फलको भोगता है परंतु द्रव्यार्थिकनयसे जो कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है अर्थात् देव आदि गतियोंमें भी आत्मा पहिला ही है वह नवीन उत्पन्न नहिं हुआ। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे मूलनय दो प्रकारका है। जो नय पर्यायोंको विषय न कर केवल द्रव्यको विषय करता है वह द्रव्यार्थिक है और जो द्रव्यको न विषयकर केवल पर्यायोंको विषय करता है वह पर्यायार्थिक है। जिससमय आत्माके साथ पर्यायार्थिक नयका संबंध किया जाता है उससमय वह एक भी अनेक प्रकारका कह दिया जाता है अर्थात् वह कभी मनुष्य कभी देव कभी नारकी आदि होता है इसलिये पर्यायोंके भेदसे उसके भी भेद होजाते हैं किंतु जिससमय द्रव्यार्थिक नयका संबंध किया जाता है उससमय वह एक ही कहा जाता है अर्थात् मनुष्य आदि स्वरूप होनेपर भी उसकी आत्मा द्रव्य एक ही रहती है इसलिये यहां यह कहा गया है कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा शुभ अशुभ कर्मोंका संचय करता है और दूसरा उसके फलको भोगता है जैसे कि-मनुष्य कर्मोंका उपार्जन करता है और देव उसके फलको भोगता है क्योंकि मनुष्य पर्यायसे देव पर्याय भिन्न है परंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जो कर्मोंका उपार्जन करता है वही उसके फलको भोगता है जैसे कि जो आत्मा मनुष्य अवस्थामें कर्मोंका संचय करता है वही देव अवस्थामें उसके फलको भोगता है क्योंकि मनुष्य अवस्था वा देव अवस्था में एकही आत्मा है इसलिये जो मनुष्य यह कहते हैं दूसरा आत्मा कर्मोंका उपार्जन करता है और दूसरा उसके फलको भोगता है वह कथन सर्वथा तो असत्य है और कथंचित्-उपर्युक्त रीतिसे सत्य भी है ॥ २३–२५ ॥

नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वमुपपद्यते ।
न किंचिद्धटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा ॥ २६ ॥

अर्थ—जब जीवको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य स्वीकार किया जायगा उससमय ऊपर कही हुई सब बातें
ठीक हो सकती हैं और यदि उसे सर्वथा नित्य किं वा अनित्य ही माना जायगा तब वे बातें उपपन्न नहिं हो सकतीं
भावार्थ—जैनसिद्धांत अनेकांत सिद्धांत है—एकांतरूपसे उसमें कोई बात नहिं मानी इसलिये उसमें सब पदार्थोंको नित्य
अनित्य उभयस्वरूप भी माना गया है अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा
सब अनित्य हैं। आत्मा भी पदार्थ है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अर्थात् कभी यह देव अवस्थासे मरकर मनुष्य
और कभी मनुष्य अवस्थासे मरकर देव होता है इत्यादि नई पुरानी पर्यायोंके धारण करनेसे अनित्य है और द्रव्या-
र्थिक नयकी अपेक्षा वह नित्य है अर्थात् चाहैं कैसी भी पर्यायको धारण करले उसका नाश नहिं हो सकता-समस्त प-
र्यायोंमें वह अविनाशी आत्मा बना ही रहता है। यदि सर्वथा आत्माको नित्य मानलिया जायगा तो दूसरा (मनुष्य) कर्मों-
का उपार्जन करता है और दूसरा (देव) उनके फलोंको भोगता है यह बात न बन सकैगी और यदि सर्वथा अनित्य मान
लिया जायगा तो वही कर्मोंको उपार्जन करता है और वही फलोंको भोगता है यह बात न बन सकैगी तथा अनुभ-
वमें आत्माकी नित्यता अनित्यता दोनों अवस्थायें आती हैं इसलिये जो आत्माको सर्वथा नित्य किंवा अनित्य ही मानते
हैं उन्हैं चाहिये कि वे कथंचित् अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य और कथंचित् अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा
नित्य मानें ॥ २६ ॥

चेतनः कुरुते भुंक्ते भावैरौदयिकैरयं ।
न विधत्ते न वा भुंक्ते किंचित्कर्म तदत्यये ॥ २७ ॥

अर्थ—जिससमय इस आत्मामें औदयिक भावोंका उदय होता है उससमय उनके द्वारा यह शुभ अशुभ कर्मोंको
करता है और उनके फलको भोगता है किंतु जिससमय वे औदयिक भाव नष्ट हो जाते हैं उससमय यह न किसी प्र-
कारके कर्मोंका संचय करता है न उनके फलको भोगता है। भावार्थ—गति कषाय आदि इकीस प्रकारके औदयिक भाव

पहिले बतला दिये हैं, यह आत्मा जब कर्मोंका उपार्जन करता है उससमय औदयिक भाव निमित्त कारण होते हैं इसलिये जिससमय इस आत्मामें नरक तिर्यंच आदि गति, क्रोध मान आदि कषाय, पुल्लिंग आदि लिंग और मिथ्यादर्शन आदि औदयिक भावोंका उदय होता है उससमय यह शुभ अशुभ कर्मोंका उपार्जन करता है और उनके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है किंतु जिससमय औदयिक भावोंका नाश हो जाता है आत्मामें इनकी सत्ता विद्यमान नहिं रहती उससमय न यह किसीप्रकारके कर्मोंका उपार्जन करता है और न उनके फलको ही भोगता है ॥ २७ ॥ तथा—

पंचाक्षविषयाः किंचिन्नास्य कुर्वंत्यचेतनाः ।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम ॥ २८ ॥

अर्थ—रूप आदि पांचों इंद्रियोंके विषय इस आत्माका कुछ नहिं करसकते क्योंकि वे अचेतन हैं परंतु यह जीव विकल्पसे अर्थात् मोहसे उत्पन्न हुये भावोंसे यह मान लेता है कि वे मुझे सुख देनेवाले वा दुःख देनेवाले हैं। भावार्थ—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः और श्रोत्रके भेदसे इंद्रियां पांच हैं और उनके स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच क्रमसे विषय हैं एवं ये सब अचेतन हैं इसलिये न इस जीवको सुखी बनाते हैं न दुःखी परंतु यह मूढ़ जीव मोह आदिके विकल्पोंसे ऐसा समझ लेता हैं कि इंद्रियोंके विषय मुझे सुखदायी दुखःदायी हैं ॥ २८ ॥

न द्रव्यगुणपर्यायाः संप्राप्ता बुद्धिगोचरं ।
इष्टानिष्टाय जायंते संकल्पेन विना कृताः ॥ २९ ॥

अर्थ—केवल बुद्धिसे गम्य द्रव्यके गुण और पर्याय भी विना संकल्पके आत्माका इष्ट अनिष्ट नहिं कर सकते। भावार्थ—यदि यहांपर कोई ऐसी शंका कर बैठे कि जीवके बुद्धिगोचर गुण और पर्यायोंसे ही जीवका इष्ट वा अनिष्ट होता है तो उसका समाधान ग्रंथकारने किया है कि विना संकल्पके गुण पर्याय भी जीवका इष्ट अनिष्ट नहिं कर सकते अर्थात् जबतक गुण पर्यायोंमें यह संकल्प विकल्प रहैगा कि ये मेरे हैं वा दूसरेके हैं तबतक तो उनसे इस जीवका इष्ट अनिष्ट होता रहेगा और जब उनमें अपने परायेका संकल्प विकल्प नष्ट हो जायगा तब उनसे भी जीवका इष्ट अनिष्ट न होगा क्योंकि संकल्प विकल्प ही इष्ट अनिष्टमें कारण हैं ॥ २९ ॥ तथा—

न निंदास्तुतिवाक्यानि श्रूयमाणानि कुर्वते ।
संबंधाभावतः किंचिद्रुष्यते तुष्यते वृथा ॥ ३० ॥

अर्थ–तथा सुनेगये निंदा और स्तुतिके वचनभी इस जीवका कुछ नहिं करते क्योंकि उनका और जीवका कोई आपसमें संबंध नहीं इसलिये जो यह जीव निंदावचनोंसे रोप करता है और स्तुतिवचनोंसे संतोप मानता है यह भी व्यर्थ है । भावार्थ–यह बात स्पष्टरूपसे अनुभवमें आती है कि जिससमय यह जीव अपनी किसीसे निंदा सुनता है उससमय द्वेष करता है और जब प्रशंसा सुनता है उससमय प्रसन्न होता है परंतु इसका ऐसा करना व्यर्थ है क्योंकि निंदा और स्तुतिका आत्माके साथ कोई संबध नहीं–उनका संबंध शरीरके साथ है ॥ ३० ॥ किंतु—

आत्मनः सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकं ।
क्रियते मोहदोषेण परथा न कदाचन ॥ ३१ ॥

अर्थ–आत्मामें जो बाह्य सुख दुःख उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्तिमें कारण मोह है । अन्य प्रकारसे कभी सुख दुःखकी उत्पत्ति नहिं होती । भावार्थ–ऊपर यह कह आये हैं कि आत्माको जो सुख दुःख होता है उसमें न तो इंद्रियोंके विषय कारण हैं न आत्माके गुण और पर्याय कारण हैं और न निंदा और स्तुतिके वचनोंका सुनना कारण है तब शंका होती है कि विना कारणके फिर आत्मामें सुख दुःख होते कहांसे हैं ? उसका समाधान ग्रंथकारने यहां किया है कि जीवको जो सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं उनमें निमित्त कारण मोह है जिससमय यह मोहसे परपदार्थोंमें राग और द्वेष करता है उससमय स्वपरके ज्ञानसे रहित हो यह परपदर्थोंको इष्ट वा अनिष्ट मानता है और इष्टके वियोग वा अनिष्टके संयोगआदिसे सुखी दुःखी होता है ॥ ३१ ॥

नांजसा वचसा कोऽपि निंद्यते स्तूयतेऽपि वा ।
निंदितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगतः ॥ ३२ ॥

अर्थ–वास्तविकरूपसे न तो कोई किसीकी निंदा करता है न स्तुति करता है परंतु यह जो जीव मानता है कि मेरी अमुकने निंदा की और अमुकने स्तुतिकी यह मोहसे है ॥ ३२ ॥ तथा—

नानंदो वा विषादो वा परे सक्रांत्यभावतः ।
परदोषगुणैर्नूनं कदाचिन्न विधीयते ॥ ३३ ॥

अर्थ—परके दोष और गुण परपदार्थमें प्रविष्ट नहिं होते इसलिये उनसे आनंद और विषाद कभी नहिं हो सकता भावार्थ—अन्यके दोष वा गुण उसीसमय आनंद वा विषाद कर सकते हैं जब वे अन्यमें प्रविष्ट होजांय सो तो है नहीं इसलिये अन्यके दोष वा गुणोंसे अन्यको हर्ष किं वा विषाद नहिं हो सकता ॥ ३३ ॥ तथा—

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः ।
पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिंतया ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह विचार करना कि यह मेरा अनिष्ट चिंतवन करता है और यह इष्ट, यह भी निरर्थक है क्योंकि दूसरेकी चिंतासे दूसरा न पीडित किया जा सकता है और न उसकी रक्षाकी जा सकती है । भावार्थ—मूढ़ मनुष्य, शत्रु अनिष्ट और मित्र इष्ट चिंतवन करते हैं इसीलिये हमारा इष्ट अनिष्ट होता है यह समझते हैं परंतु यह उनकी वड़ी भारी भूल है क्योंकि ये परपदार्थ हैं इसलिये उनके इष्ट अनिष्टके चिंतवन करनेसे दूसरेकी आत्माका हित अहित नहीं हो सक्ता ।३४। तथा-

अन्योन्यस्य विकल्पेन वर्द्धते हाप्यते यदि ।
न संपत्तिर्वा विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरेके संकल्प विकल्पोंसे दूसरेकी हानि वृद्धि नहीं होती । यदि ऐसा ही होता तो इससंसारमें किसी की भी कभी हानि और वृद्धि ही नष्ट न होती । भावार्थ—यदि एकके इष्ट चिंतवनसे दूसरेका इष्ट और अनिष्ट चिंतवनसे अनिष्ट होता तो एक जीवके वहुतसे तो इष्ट चिंतवन करते हैं इसलिये उसका इष्ट ही होता रहता और वहुतसे अनिष्ट चिंतवन करते रहते हैं तो अनिष्ट ही होता रहता पर ऐसा होता नहीं-इष्ट अनिष्ट होना तो कर्माधीन है इसलिये दूसरोंके संकल्प विकल्पोंसे दूसरोंकी वृद्धि हानि होती है यह वात मिथ्या है ॥ ३५ ॥

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।

न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ–मोहसे जिसै इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है क्योंकि निश्चयनयसे संसारमें न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है। भावार्थ–जो कपड़े शीतकालमें हितकारी इष्ट जान पड़ते हैं वे ही ग्रीष्मकालमें अनिष्ट-अहितकारी हो जाते हैं और जो ग्रीष्मकालमें इष्ट-हितकारी मालूम पड़ते हैं वे ही शीतकालमें अनिष्ट अहितकारी जान पड़ते हैं इसलिये यह बात स्पष्टरूपसे मालूम पड़ती है कि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ इष्ट वा अनिष्ट नहीं किंतु यह जीव जो किसी पदार्थको इष्ट वा अनिष्ट समझता है यह इसका घोर मोह है ॥ ३६ ॥

रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते ।
निसर्गनिर्मलः शंखः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ–जिसप्रकार स्वभावसे निर्मल शंख स्वयं अपने श्वेतस्वभावसे विद्यमान रहता है किंतु कोई उसै श्वेत बनाता नहीं उसीप्रकार यह जीव भी स्वयं पवित्र रत्नत्रयस्वरूप अपने स्वभावमें विद्यमान रहता है। भावार्थ–रत्नत्रय शब्दका अर्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा यह जीवका स्वभाव है तो जिसप्रकार शंख स्वभावसे ही निर्मल अपने श्वेतस्वभावमें विद्यमान रहता है उसीप्रकार स्वभावसे विशुद्ध यह आत्मा भी सदा अपने रत्नत्रय स्वभावमें विद्यमान रहता है ॥ ३७ ॥

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धत्ते वेत्ति पश्यति ।
शंखचूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परं ॥ ३८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार शंखका चूरा दूसरे पदार्थके स्वच्छ बनानेमें किसी अन्य पदार्थका आश्रय नहिं करता-स्वभावसे ही उसै स्वच्छ बना देता है उसीप्रकार यह आत्मा भी स्वभावसे ही परद्रव्योंका श्रद्धान करता है और उन्हें जानता देखता है अन्य कोई इसमें श्रद्धान, ज्ञान और दर्शनकी शक्ति उत्पन्न नहीं कर देता ॥ ३८ ॥ परंतु--

मोहेन मलिनो जीवः क्रियते निजसंगतः ।

स्फटिको रक्तपुष्पेण रक्ततां नीयते न किं ॥ ३९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार रक्तपुष्प अपने संबंधसे स्फटिक पाषाणको रक्त बनालेता है उसीप्रकार मोह भी अपने संबंधसे जीवको मलिन करदेता है। भावार्थ--स्फटिक पाषाण स्वभावसे निर्मल श्वेत है उसमें किसीप्रकारके हरे पीले लाल रंगका संबंध नहीं किंतु जिससमय रक्त आदि पुष्प उसके सामने आजाते हैं उससमय जिसप्रकार वे श्वेतभी स्फटिकको रक्त बनादेते हैं उसीप्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है इसमें रागद्वेष आदि कोई विकार नहीं किंतु जिससमय यह मोहके फंदमें फँस जाता है उससमय मलिन हो जाता है-मोहके उदयसे इसके विशुद्ध गुण अविशुद्ध हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति।
उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपतां ॥ ४० ॥

अर्थ--किंतु जिसप्रकार उपाधि-रक्तपुष्प आदिके दूर हो जानेपर स्फटिक पुनः अपना स्वरूप धारण करलेता है-वह जैसा स्वच्छ श्वेत था वैसाका वैसाही फिर होजाता है उसीप्रकार जिससमय इस आत्मासे मोह दूर हो जाता है उससमय यह भी वैसाका वैसा ही हो जाता है-इसका शुद्ध चैतन्यस्वरूप दमक निकलता है ॥ ४० ॥

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुंचति।
सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्मसंवरं ॥ ४१ ॥

अर्थ--इसप्रकार जो मनुष्य यह जानकर कि मोह दुःखका कारण है उसका सर्वथा त्याग करदेते हैं वे अन्य द्रव्योंके भी त्यागी हो जाते हैं और उनके कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ--जबतक मोहका त्याग नहिं किया जाता तबतक पर पदार्थोंका त्याग नहिं हो सकता क्योंकि मोहके उदयसे सदा परपदार्थोंमें राग द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं तथा जबतक परपदार्थोंका त्याग नहिं होता तबतक शांति सुख नहिं मिल सकता क्योंकि परपदार्थोंमें राग द्वेषके कारण दुःख भोगना पड़ता है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्माका हित चाहते हैं वे यह विचारकर कि मोह दुःखका कारण है उसका सर्वथा त्याग करदेते हैं और मोहका त्याग हो जानेसे परपदार्थोंमें राग द्वेष न होनेके कारण उनके परपदार्थोंका भी त्याग हो जाता है इसलिये उनके कर्मोंका संवर होता रहता है ॥ ४१ ॥

शुभाशुभपरद्रव्यरागद्वेषविधायिनः ।
न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः ॥ ४२ ॥

अर्थ–जो मनुष्य शुभ किं वा अशुभ परपदार्थोंमें राग और द्वेष करते हैं उनके चिरकाल पर्यंत तप करनेपर भी कभी शुद्धिकी प्राप्ति नहिं होती । भावार्थ–यदि वास्तवमें देखा जाय तो राग द्वेषके त्यागका ही नाम तप है क्योंकि जबतक राग द्वेषका त्याग नहिं होता तबतक तप बन ही नहिं सकता इसलिये जो मनुष्य शुभ पदार्थोंमें राग करते हैं और अशुभ पदार्थोंमें द्वेष करते हैं वे चाहैं कितना भी कायक्लेश तप क्यों न तपै कभी आत्माको विशुद्ध नहिं बना सकते इसलिये आत्माकी विशुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे सबसे पहिले राग द्वेषका त्याग करैं ॥ ४२ ॥

कुर्वाणः कर्म चात्मायं भुंजानः कर्मणां फलं ।
अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दुःखसंततेः ॥ ४३ ॥

अर्थ–पहिले यह आत्मा कर्मोंका उपार्जन करता है उसके बाद कर्मोंके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है पश्चात् फिर भी दुःखकी परंपराके कारण आठप्रकारके कर्मोंका बंध करता है। भावार्थ–कर्मोंके नाश करनेमें प्रधान कारण स्वपरका भेदविज्ञान है जबतक यह भेदविज्ञान आत्माके अंदर प्रकट नहिं होता तबतक यह आत्मा कर्मोंका संचय करता है और उनके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है तथा सुख दुःख आदिके भोगनेसे इसकी आत्मामें राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति होती है इसलिये पुनः यह ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठप्रकारके कर्मोंका संचय करता है और फिर अनेक प्रकारके दुःख भोगता है ॥ ४३ ॥

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः ।
सर्वकर्मवहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ–किंतु जो आत्मा समस्त कर्मोंके उदयको पुद्गलीक समझता है उसै समस्त कर्मोंसे रहित विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है । भावार्थ–सर्वकर्मोंसे रहित-विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति उसीसमय हो सकती है जब कर्म और कर्मके फल आ-

दिको भिन्न पुद्गलीक समझ लिया जाता है इसलिये जिन महात्माओंको विशुद्ध आत्माकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि वे अवश्य कर्म और कर्म फल आदिको पुद्गलका विकार समझें उन्हें अपनेसे भिन्न मान किसीप्रकारका राग द्वेष न करें।

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुंचति।
गृह्णाति मुंचते कर्म मिथ्याज्ञानमलीमसः॥ ४५॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी हैं-भलेप्रकार स्वपरके भेदको जानते हैं और शुद्ध हैं वे तो न कर्मोंको ग्रहण करते हैं न छोडते हैं किंतु जो मिथ्याज्ञानसे मलिन हैं वे सदा कर्मोंका ग्रहण और त्याग करते रहते हैं। भावार्थ—कर्मोंके ग्रहण और छोडनेमें कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि हैं अर्थात् जबतक पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान वा ज्ञान रहता है तबतक सदा कर्म आते रहते हैं और अपनी स्थिति पूरी कर खिरते रहते हैं किंतु जिससमय मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि नष्ट हो जाते हैं, निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति हो जाती है और आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय कर्मोंका ग्रहण करना और छूटना वद हो जाता है। जो महात्मा ज्ञानवान हैं-सम्यग्ज्ञान आदि विभूतिसे मंडित हैं और शुद्ध हैं उनके कर्मोंका ग्रहण वा छूटना नहिं होता किंतु जो मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी हैं-जिनको पदार्थोंका श्रद्धान वा ज्ञान विपरीत रहता है वे सदा कर्मोंका ग्रहण और मोचन करते रहते हैं॥ ४५॥

सामायिके स्तवे भक्त्या वंदनायां प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः॥ ४६॥

अर्थ—जो महानुभाव भक्तिपूर्वक सामायिक स्तवन वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका आचरण करता है उसके कर्मोंका संवर हुआ करता है॥ ४६॥

यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे रागद्वेषव्यपोहनं।
आत्मतत्त्वनिविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते॥ ४७॥

अर्थ—जो महानुभाव आत्मतत्त्वके स्वरूपके ध्यानमें लीन हैं उनका जो समस्त द्रव्योंमें राग द्वेषका त्याग है उसीका नाम सामायिक है। भावार्थ—जो अपने ज्ञानसे समस्त पदार्थोंको जाने उसका नाम समय अर्थात् आत्मा है और जो

आत्मामें हो उसका नाम सामायिक है तो जिससमय आत्मतत्त्वके रसके आस्वादन करनेवाले मनुष्योंकी आत्मामें समस्त पदार्थोंके राग और द्वेषका त्याग हो जाना है उसे सामायिक कहते हैं ॥ ४७ ॥

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकं ।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः ॥ ४८ ॥

अर्थ--जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध, चैतन्य गुणोंके धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माकी स्तुति करता है स्तवनके जानकार महापुरुषोंने उसके स्तवनको उत्तम स्तवन माना है। भावार्थ--जिस स्तवनसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप विशुद्ध, अनंत सौख्य आदि चैतन्य गुणस्वरूप, और समस्तकर्मोसे रहित विशुद्ध आत्माकी प्रशंसाकी जाती है वही वास्तविक स्तवन है किंतु राग द्वेष विशिष्ट राजा आदिकी वा उनके कार्योंकी प्रशंसा करना स्तवन नहीं इसलिये ऐसे ही स्तवनसे कर्मोंका आगमन रुकता है ॥ ४८ ॥

पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमं ।
आत्मानं वंद्यमानस्य वंदनाऽकथि कोविदैः ॥ ४९ ॥

अर्थ--तथा जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्माकी वंदना करता है विद्वानोंने उसी वंदनाको उत्तम वंदना कहा है। भावार्थ--बहुतसे लोग मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्रको आचरण करनेवाले रागी और द्वेषी आत्माओंकी वंदना करते हैं परंतु वह यथार्थ वंदना नहीं किंतु जो आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप है--उत्तम-राग द्वेष आदिसे रहित है उसीकी वंदना करना वास्तविक वंदना है ॥ ४९ ॥

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषां ।
आत्मीयत्वपरित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥ ५० ॥

अर्थ--पहिले किये हुये कर्मोंके प्रदत्त फलोंको अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है। भावार्थ--जो कुछ मैंने जीवोंकी विराधना की है उन्हें दुःख पहुंचाया है वह पूर्वमें किये हुये कर्मोंके उदयमें आनेसे परवश हो पहुंचाया है उनसे मेरा कोई संबंध नहीं इसप्रकारके भाव करना प्रतिक्रमण है ॥ ५० ॥

आगम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं ।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिनः ॥ ५१ ॥

अर्थ–जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओंसे रहित आत्माको देखनेवाले हैं उनके जो पापोंके आनेमें कारण भूत भावोंका त्याग है उसै प्रत्याख्यान कहते हैं। भावार्थ–प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है इसलिये जिन भावोंसे कर्मोंका आगमन होता है उन भावोंका सर्वथा त्याग करदेना प्रत्याख्यान है और यह प्रत्याख्यान उन्हीं महापुरुषोंके होता है जो समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माके निहारनेवाले हैं ॥ ५१ ॥

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितं ।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥ ५२ ॥

अर्थ–जो महानुभाव यह समझकर कि यह शरीर अचेतन है, विनाशीक है और कर्मोंसे उत्पन्न हुआ है, उसके लिये कुछ कार्य नहिं करता अर्थात् उचमोत्तम भोजन भूषण आदिसे उसका भरण पोषण नहिं करता वह मनुष्य कायोत्सर्गका धारक गिना जाता है। भावार्थ–शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व परिणाम न रखना कायोत्सर्ग है। जो मनुष्य शरीरको अपना मानकर उसका रातदिन भरण पोषण करता है उसके कायोत्सर्ग नहिं होता किंतु जो यह समझता है कि शरीर अचेतन है मैं चेतन हूं, शरीर विनाशीक है मैं अविनाशी हूं, शरीर कर्मजनित उपाधि है मैं कर्मरहित परम शुद्ध हू इसीलिये उसके भरण पोषणकेलिये किसीप्रकारका प्रयत्न नहिं करता उसके कायोत्सर्ग होता है ॥ ५२ ॥

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्वव्यवस्थितः ।
अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसां ॥ ५३ ॥

अर्थ–इसप्रकार जो योगी अपने आत्मतत्त्वमें निश्चलरूपसे स्थित और आलसरहित होकर सामायिक आदि छै आवश्यकोंको पालता है उसके अवश्य कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ–ऊपर कह दिया जा चुका है कि सामायिक स्तव वदना आदि छै आवश्यकोंका पालन कर्मोंके संवरकेलिये किया जाता है तथा आवश्यकोंका पालन उसीसमय

हो सकता है जिससमय निश्चलरूपसे आत्मस्वरूपमें स्थिति हो और किसीप्रकारका आलस्य न किया जाय इसलिये जो योगी निश्चलरूपसे आत्मस्वरूपमें लीन होकर आलस्यका सर्वथा परित्यागकर उपर्युक्त छै आवश्यकोंका पालन करता है उसके अवश्य कर्मोंका संवर होता है ॥ ५३-॥ तथा—

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः ।
आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसां ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मिथ्याज्ञानका सर्वथा त्यागकर सम्यग्ज्ञानमें लीन रहता है और अपनेसे ही अपने स्वरूपका जाननेवाला है उसके पापोंका संवर होता है-नवीन कर्मोंका उसकी आत्मामें आगमन नहिं होता ॥ ५४ ॥

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोस्ति त्वभोजकः ।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोस्ति त्वभोजकः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे द्रव्यरूपसे विषयोंके भोगनेवाले होनेपर भी भावरूपसे भोगनेवाले नहिं हैं और जो अज्ञानी हैं वे द्रव्यरूपसे भोगनेवाले न होनेपर भी भावरूपसे भोगनेवाले हैं। भावार्थ—ज्ञानी पुरुष स्व परका पूर्ण भेद जानता है इसलिये वह असमर्थताके कारण द्रव्यरूपसे विषयोंका भोग करता है परंतु उनमें आसक्ति न होनेके कारण भावरूपसे भोग नहिं करता परंतु जो पुरुष अज्ञानी है हित अहितके विचारसे सर्वथा शून्य है वह द्रव्यरूपसे विषयों-का भोग न भी करै तथापि विषयोंमें अति अनुरक्तता होनेके कारण भावरूपसे अवश्य विषयोंका भोग करता है अर्थात् सदा उसके परिणाम ऐसे बने रहते हैं कि कब अमुक विषय मिले और कब मैं उसका भोग करूं ॥ ५५ ॥ इसलिये—

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः ।
भावतो यो निवृत्तोसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य व्यवहारी हैं वे द्रव्यरूपसे निवृत्त भी मनुष्यकी पूजा करसकते हैं किंतु जो मोक्षाभिलाषी हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भावरूपसे निवृत्त मनुष्योंकी ही पूजा करनी चाहिये। भावार्थ—जो मनुष्य व्यवहारी

हैं उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिकेलिये सवप्रकारके कार्य करने पड़ते हैं इसलिये वे किसी प्रयोजनसे केवल द्रव्यरूपसे विपयोंके न सेवन करनेवाले मनुष्योंका भी पूजन कर सकते हैं किंतु जिन महानुभावोंको मोक्ष प्राप्त करना है और जो संसारसंबंधी प्रयोजनोंसे विमुख हैं-उन्हें भावरूपसे विपयोंसे पराङ्मुख मनुष्योंकी ही पूजा करनी चाहिये ॥५६॥ क्योंकि-

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसां ।
भावतोस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य केवल द्रव्यरूपसे विपयोंसे निवृत्त हैं उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं किंतु जो भावरूपसे निवृत्त हैं उन्हींके वास्तविकरूपसे कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ—कर्मोंका आना जाना परिणामोंके ऊपर निर्भर है यदि जीवके परिणाम रागरूप रहेंगे तो वह कितना भी ऊपरसे ढोंग क्यों न रचै अवश्य उसके कर्मोंका आगमन होता रहेगा और यदि उसके परिणामोंमें राग नहिं है और वह कथंचित् विपय आदिमें प्रवृत्त भी है तथापि उसके कर्मोका संवर होता है यहांपर ग्रथकारने यही आशय इस श्लोकसे प्रकट किया है अर्थात् यदि कोई पुरुप द्रव्यरूपसे विपय आदिसे निवृत्त है—प्रत्यक्षरूपसे विपय सेवन आदि कार्य नहिं करता किंतु परिणामोंमें उनके सेवनकी लालसा रखता है उस मनुष्यके अवश्य पापोंका आस्रव होता है किंतु जिस मनुष्यकी विपय सेवनमें लालसा नहीं और वह यदि किसीकारणसे विपयोंका सेवन भी करता है तथापि उसके पापोंका आस्रव न होकर संवर ही होता है ॥ ५७ ॥ इसलिये—

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा ।
भाव्यं भावनिवृत्तेन समस्तैनोनिषिद्धये ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो पुरुप विद्वान हैं उन्हें द्रव्य ओर भावरूप निवृत्तिका भलेप्रकार स्वरूप जानकर और मन वचन कायसे द्रव्यरूपसे विपयोंसे निवृत्त होकर समस्त पापोंके नाशार्थ भावरूपसे भी विपयोंसे निवृत्त हो जाना चाहिये। भावार्थ—यद्यपि द्रव्यरूपसे विपयोंकी निवृत्तिकी अपेक्षा भावरूपसे निवृत्ति उत्कृष्ट है परंतु केवल भावनिवृत्तिसे भी समस्त पापोंका नाश नहिं हो सकता इसलिये जो महानुभाव विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि समस्त पापोंके नाशार्थ पहिले मन वचन कायसे द्रव्यरूपसे विपयोंसे निवृत्ति करैं पश्चात् भावरूपसे भी निवृत्त हों ॥ ५८ ॥

शरीरमात्मनो भिन्नं लिंगं येन तदात्मकं । न मुक्तिकारणं लिंगं जायते तेन तत्त्वतः ॥ ५९ ॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः । अन्यथा कारणं तस्य कर्म केन निवर्तते ॥६०॥

अर्थ–शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीरस्वरूप है इसलिये आत्मासे भिन्न होनेके कारण निश्चयनयसे लिंग मोक्षका कारण नहीं। क्योंकि मुक्तावस्थामें जिस पदार्थका संबंध छूट जाता है वह मोक्षमें कारण नहिं हो सक्ता। लिंग मोक्षावस्थामें छूट जाता है इसलिये वह उसमें कारण नहीं। यदि भिन्न होनेपर लिंगको मोक्षकी प्राप्तिमें कारण माना जायगा तव कर्मको कारणपनेका कौन निषेध करैगा ? भावार्थ–यदि व्यवहारसे देखा जाय तो शरीर वा लिंग भी मोक्षमें कारण हैं क्योंकि जबतक शरीरको तपमें न लगाया जायगा और दिगंबर लिंग न धारण न किया जायगा तबतक कर्मोंका क्षय नहिं हो सकता और कर्मोंका विना क्षय किये मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती परंतु निश्चयनयसे लिंग मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं हो सक्ता क्योंकि जिसका आत्माके साथ अभेद संबंध है और जो मुक्तावस्थामें विद्यमान रहता है–छूटता नहीं, वही मुक्तिका कारण हो सक्ता है लिंग शरीरस्वरूप होनेसे आत्मासे भिन्न है और वह मुक्तावस्थामें छूट जाता है यदि शरीर वा लिंगको भी मोक्षका कारण मानलिया जायगा तो ज्ञानावरण आदि कर्म भी मोक्षके कारण कहने पड़ेंगे क्योंकि जिसप्रकार शरीर वा लिंग आत्मासे भिन्न है और मुक्तावस्थामें छूट जाता है उसी-प्रकार कर्म भी आत्मासे भिन्न है तथा मुक्तावस्थामें छूट जाता है ॥ ५९–६० ॥

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा ।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना ॥ ६१ ॥

अर्थ–अंतमें ग्रंथकार उपसंहार करते हुये लिखते हैं कि जो महानुभाव मुमुक्षु हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और संवरार्थी हैं-कर्मोंके संवरकी अभिलाषा रखते हैं उन्हैं चाहिये कि वे समस्त अचेतन पदार्थोंका त्याग करै और जो आत्मिक चेतन पदार्थ हैं उनका सेवन करै। भावार्थ–ऊपर चेतन अचेतन पदार्थोंको बतला आये हैं और यह भी कह आये हैं कि अचेतन पदार्थोंका आश्रय हानिकारक है एवं आत्मिक चेतन पदार्थोंके आश्रयसे कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिये यहां ग्रंथकार सबका संक्षेपमें सार बतलाते हैं कि जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और कर्मोंके संवरके

आकांक्षी हैं उन्हैं चाहिये कि वे अचेतन पदार्थोंका सर्वथा त्याग करदें और आत्मिक चेतन पदार्थोंको अपनावें क्योंकि अचेतन पदार्थोंके अपनानेसे संवर वा मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती किंतु आत्मिक चेतन पदार्थोंके अपनानेसे ही संवर और मोक्ष मिल सकते हैं ॥ ६१ ॥

आत्मतत्त्वमपहस्तितरागं ज्ञानदर्शनचरित्रमयं यः ।
मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी संवृणोति दुरितानि स सद्यः ॥ ६२ ॥

अर्थ–जो योगी रागभावसे रहित, आत्माके स्वरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गको प्राप्त हो चुका है वह योगी शीघ्र ही समस्त पापोंका संवर करता है अर्थात् किसी नवीन कर्मका आस्रव उसकी आत्मामें नहिं होता। भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्क्चारित्रस्वरूप समुदायको मोक्षमार्ग बतलाया है और वह रागरहित आत्मस्वरूप है इसलिये जो योगी इसप्रकारके मोक्षमार्गको प्राप्तकर चुका है उसके ही पापोंका संवर होता है और जिसको यह प्राप्त नहीं उसके सदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है ॥ ६२ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें संवराधिकार समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ निर्जराधिकार ॥ ६ ॥

पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा ।
निर्जरा जायते द्वेधा पाकजाऽपाकजात्वतः ॥ १ ॥

अर्थ–पहिले उपार्जन किये हुये कर्मोंका जो एकदेशरूपसे क्षय होना है उसका नाम निर्जरा है और वह पाकजा और अपाकजाके भेदसे दो प्रकारकी है। भावार्थ–पहिले कहदिया गया है कि जिसके द्वारा नवीन कर्मोंका आगमन रुक जाय उसै संवर कहते हैं इसलिये जिससमय यह आत्मा संवरस्वरूपको प्राप्त करलेता है उससमय नवीन कर्म तो इसकी आत्मामें आते नहीं परंतु जो कर्म पहिलेसे संचित हैं उनका नाश कैसे होता है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा प्रश्न होनेपर उनके नाशकी कारण निर्जराका यहां वर्णन किया जाता है। निर्जराका सामान्य अर्थ कर्मोंका झड़ना

है और विशेष अर्थ–एक देशरूपसे कर्मोंका झड़ना यह है। यह निर्जरा दो प्रकारकी है एक सविपाकजा और दूसरी अविपाकजा। स्थिति पूरी हो जानेपर जो स्वयं कर्मोंका खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और यह हरएक संसारी जीवके प्रतिसमय हुआ करती है तथा कर्मोंकी स्थिति पूरी हो या न हो तप आदिके द्वारा उनकी स्थिति पूरी कर जो कर्मोंका मध्यमें ही खिरादेना है वह अविपाक निर्जरा है यह निर्जरा संवरके बाद होती है, और इसी निर्जरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते। निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥ २ ॥
शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दह्यंते दववह्निना। पक्वापक्वास्तथा ध्यानप्रक्रमेणाघसंचयाः ॥ ३ ॥

अर्थ–पाकजा अर्थात् सविपाकनिर्जरामें पक्व-अर्थात् पूर्ण स्थितिवाले कर्मोंका ही क्षय होता है और अपाकजा-अविपाक निर्जरासे पक्व अपक्व दोनोंप्रकारके कर्मोंका नाश होता है क्योंकि जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्निसे सूखे हरे समस्तप्रकारके वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानके अभ्याससे पक्व अपक्व दोनों प्रकारके कर्म खिर पड़ते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार वृक्षपर जब फल पकजाते हैं उससमय वे अपने आप खिर पड़ते हैं उसीप्रकार जिससमय कर्म पक जाते हैं अर्थात् अपनी स्थिति पूरी करलेते हैं उससमय स्वय नष्ट हो जाते हैं यह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार डंडे आदिसे पके कच्चे दोनों प्रकारके फल मध्यमें ही गिरा दिये जाते हैं उसीप्रकार ध्यानके द्वारा पूर्ण स्थितिवाले वा अपूर्णस्थितिवाले दोनोंप्रकारके कर्मोंका नाश करदेना अविपाक निर्जरा है। यह सविपाक वा अविपाक निर्जराका प्रचलित दृष्टांत दिया गया है किंतु यहां ग्रंथकारको अभिमत यह दृष्टांत है-कि जिसप्रकार वृक्ष सूखकर अपने आप गिर जाता है उसीप्रकार जो कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर स्वयं खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्निसे हरे सूखे समस्त प्रकारके वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा पूर्णस्थिति वाले वा अपूर्णस्थितिवाले दोनों प्रकारके कर्मोंका मध्यमें ही नाश होजाना है वह अविपाक निर्जरा है ॥२–३॥

दूरीकृतकषायस्य विशुद्धध्यानलक्षणः।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरांपरां ॥ ४ ॥

अर्थ–जो साधु समस्त कषायोंसे रहित है उसका जो विशुद्ध ध्यानकरनारूप अभ्यास है उसके द्वारा अविपाक निर्जरा

होती है। भावार्थ–यह कह दिया जा चुका है कि अविपाक निर्जरामें प्रधान कारण ध्यान है और यह ध्यान उसी योगीका ग्रहण किया गया है जो समस्त कषायोंसे रहित है इसलिये जो योगी अविपाक निर्जराके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त कषायोंका नाश कर शुद्ध ध्यानका अवलंबन करें जिससे उनके कर्मोंकी अविपाक निर्जरा हो जाय ॥४॥ तथा–

आत्मतत्त्वरतो योगी कृतकल्मषसंवरः।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥ ५ ॥

अर्थ–जो योगी आत्मस्वरूपमें लीन हैं और कर्मोंका संवर कर चुके हैं वे जिससमय ध्यानमें लीन होते हैं उससमय उनके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ५ ॥ किंतु—

संवरेण विना साधोर्नास्ति पातकनिर्जरा।
नूतनांभःप्रवेशोस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥ ६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार नवीन जलके आनेपर सरोवर रीता नहिं हो सकता उसीप्रकार विना संवरके साधुके कर्मोंकी अविपाक निर्जरा नहिं हो सकती । भावार्थ–सरोवर उसीसमय रिक्त हो सकता है जब कि उसमें नवीन जल लाने वाली नालियां बंद करदी जांय किंतु जबतक उसमें नवीन पानी आता रहैगा तबतक वह सदा जलसे भरा पूरा रहैगा उसीप्रकार जबतक आत्मा संवर अवस्थाको धारण न करैगा तबतक उसके कभी अविपाक निर्जरा नहिं हो सकती क्योंकि अविपाक निर्जरा संवरके वाद होती है और जबतक नवीन कर्म आते रहैंगे तबतक संवर प्राप्त नहिं हो सकता। इसलिये जबतक संवर न होगा तबतक अविपाक निर्जराका होना असंभव है ॥ ६ ॥

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्मरूपप्ररूपकं।
अनन्यगतचित्तस्य विधत्ते कर्मसंक्षयं ॥ ७ ॥

अर्थ–जो योगी अनन्यगतचित्तका धारक है–परपदार्थोंमें चित्त न लगाकर केवल आत्माका विचार करनेवाला है उस योगीका आत्माके स्वरूपकी प्ररूपणा करनेवाला एवं रत्नत्रयस्वरूप ध्यान कर्मोंका नाश करता है । भावार्थ–मनकी गति बड़ी चंचल है । जबतक यह परपदार्थोंमें फंसा रहता है–आत्माका विचार न कर परपदार्थोंका ही विचार

करता रहता है तबतक कभी यह रत्नत्रयस्वरूप और आत्माके वास्तविक स्वरूपको प्ररूपण करनेवाले ध्यानको प्राप्त नहि हो सक्ता और जबतक ऐसा ध्यान नहीं प्राप्त होता तबतक कर्मोंका क्षय नहिं हो सक्ता इसलिये जो योगी कर्मोंका क्षय करना चाहते हैं उन्हैं चाहिये कि वे परपदार्थोंमें चित्त न लगाकर केवल आत्माकी ओर उसै लगावें जिससे उन्हैं आत्मस्वरूपको प्रकटरूपसे जनानेवाले रत्नत्रयस्वरूप ध्यानकी प्राप्ति हो और उससे कर्मोंका नाश हो ॥ ७ ॥

त्यक्तांतरेतरग्रंथो निर्व्यापारो जितेंद्रियः ।
लोकाचारपराचीनो मलं क्षालयतेऽखिलं ॥ ८ ॥

अर्थ--जो योगी वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागी हैं--निर्व्यापार-किसी प्रकारका व्यापार नहिं करते इंद्रियोंके जीतनेवाले और समस्त लौकिक व्यवहारसे पराङ्मुख हैं वे समस्त कर्मोंका नाश करदेते हैं। भावार्थ--'ममेदं' यह मेरा है ऐसा जो मोहयुक्त भाव है उसै परिग्रह कहते हैं । यह परिग्रह वाह्य अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है। सुवर्ण रजत आदि मेरे हैं ऐसा भाव वाह्य परिग्रह है और राग द्वेष आदि अंतरंग परिग्रह हैं। जबतक यह आत्मा इस परिग्रहमें फसा रहता है तबतक यह अनेक प्रकारके व्यापार करता रहता है, इंद्रियां भी इसकी वश नहिं रहती और सबप्रकारके लोक व्यवहारमें दत्तचित्त रहता है इसलिये इसके सदा कर्मबंध हुआ करता है किंतु जिससमय इसका वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्व हट जाता है उससमय इसका व्यापार करना भी छूट जाता है। इंद्रियां भी विषयोंकी ओर नहिं दौड़तीं और लोकव्यवहारसे भी सर्वथा विमुखता आजाती है इसलिये उससमय इसके कर्मोंका नाश होता रहता है ॥ ८ ॥

शुभाशुभविशुद्धेषु भावेषु प्रथमद्वयं ।
यो विहायांतिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषं ॥ ९ ॥

अर्थ--शुभ अशुभ और विशुद्धके भेदसे भाव तीन प्रकारके हैं उनमें जो योगी आदिके दो अर्थात् शुभ अशुभ दोनों भावोंको छोड़कर अंतके विशुद्ध भावोंको धारण करता है उसके पापोंका क्षय होता है। भावार्थ--समस्त प्राणियोंमें मित्रता, गुणियोंको देखकर हर्षित होना, दीन जीवोंपर दया करना आदि शुभ भाव हैं। समस्त जीवोंमें शत्रुता,

गुणियोंको देखकर डाह ईर्षा आदि करना अशुभ भाव हैं और दोनोंसे विरुद्ध केवल आत्मस्वरूपका विचार करनेवाले विशुद्ध भाव हैं। इनमें शुभ भावोंसे पुण्य, अशुभभावोंसे पाप और विशुद्धभावोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य विशुद्ध भावोंकी ओर ध्यान न देकर शुभ और अशुभ भावोंको करते रहते हैं उनके कर्मोंका नाश नहिं होता किंतु उनसे पुण्य पापकी उत्पत्ति होती है और पुण्य किं वा पापसे संसारमें घूमना पड़ता है किंतु जो योगी शुभ अशुभ दोनों भावोंका सर्वथा त्याग कर विशुद्ध भावोंको धारण करते हैं उनके कर्मोंका क्षय होता है ॥ ९ ॥

वाह्यमभ्यंतरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपको नहिं जानता है वह चाहैं वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके तप करै वा एक प्रकारका करै कभी कर्मोंकी निर्जरा नहिं कर सकता। भावार्थ—अनशन अवमोदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छै प्रकारका वाह्य तप और प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गके भेदसे छै प्रकारका अभ्यंतर तप है। जिससमय यह वारह प्रकारका तप शुद्ध आत्मस्वरूपको जानकर तपा जाता है उससमय इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है और जिससमय अज्ञानपूर्वक किया जाता है उससमय कर्मबंध होता है इसलिये जो पुरुष अज्ञानी है-भलेप्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको नहिं जानता वह उपर्युक्त दोनों प्रकारके तप वा एक प्रकारके तप करनेपर भी कर्मोंकी निर्जरा नहिं कर सकता इसलिये तपस्वियोंको सबसे प्रथम शुद्ध आत्माके स्वरूपका जानना आवश्यकीय है ॥ १० ॥

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमं।
आत्मतत्त्वनिविष्टेन जिनागमनिवेदितं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन है और जैनशास्त्रमें जैसा संयमका स्वरूप वतलाया है उसीप्रकारके पवित्र संयमका आचरण करनेवाला है वह नियमसे कर्मोंकी निर्जरा करता है। भावार्थ—यदि आत्मस्वरूपका भलेप्रकार ज्ञान न हो और संयमका पालन किया जाय तब भी कर्मोंकी निर्जरा नहिं होती तथा आत्मस्वरूपके ज्ञान रहनेपर भी यदि

संयम न पाला जाय तब भी कर्म निर्जीर्ण नहि हो सकते इसलिये कर्मोंकी अविपाक निर्जरामें आत्मस्वरूपके ज्ञानके साथ पवित्र संयमका पालन करना ही कारण है ॥ ११ ॥

अन्याचारपरावृत्तः स्वतत्त्वचरणादृतः ।
संपूर्णसंयमो योगी विधुनोति रजः स्वयं ॥ १२ ॥

अर्थ–जो योगी अन्य समस्त आचरणोंसे विमुख है, आत्मस्वरूपके आचरण करनेमें तत्पर है और अखंड संयमका पालन करनेवाला है वह योगी स्वयं समस्त कर्मोंका नाश करदेता है अर्थात् ऐसे योगीके कर्मरज स्वयं नष्ट होजाते है ॥ १२ ॥ किंतु—

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः ।
संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबंधनं ॥ १३ ॥

अर्थ–जो मूढ़ पुरुष उत्तम आचारको छोड़कर निकृष्ट लौकिक आचारका आचरण करता है उसका निर्जराका कारण संयम नष्ट हो जाता है । भावार्थ–ऊपर कहदिया जा चुका है कि संयम अविपाक निर्जरामें प्रधान कारण है जबतक आत्मज्ञानके साथ संयम न धारण किया जायगा तबतक अविपाक निर्जरा होनी दुस्साध्य है तथा यह संयम उत्कृष्ट आचारको छोड़कर केवल लोकाचारके आचरणसे विद्यमान नहिं रह सकता इसलिये जो पुरुष उत्कृष्ट आचारको छोड़कर लौकिक आचारको अपनाते हैं उनके यथार्थ संयमका उदय नहिं होता तथा यथार्थ संयमके उदयके अभावसे उनके कर्मोंकी निर्जरा भी नहिं होती ॥ १३ ॥ तथा—

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः ।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा ॥ १४ ॥

अर्थ–पवित्र चारित्रका आचरण करता हुआ भी जो पुरुष वास्तविक रूपसे भगवान अर्हंतके वचनोंपर श्रद्धान नहिं करता वह मनुष्य शुद्धिको प्राप्त नहिं हो सकता । भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताकी प्राप्ति शुद्धिमें कारण है यदि इनमें एककी भी न्यूनता रहैगी तो भी कभी शुद्धि प्राप्त नही होसकती यदि कोई

पदार्थका स्वरूप भलेप्रकार जानकर पवित्र चरित्रका आचरण करता है परंतु भगवान अर्हतके वचनोंपर श्रद्धान नहिं करता उसके कभी शुद्धिकी प्राप्ति नहिं होती इसलिये शुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे जिसप्रकार अखंड चारित्रका पालन करते हैं उसीप्रकार भगवान अर्हतके वचनोंपर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनको भी अवश्य धारण करैं ॥ १४ ॥

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः ।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा जो संयमी मनुष्य विचित्र आचरणका आचरण करता हुआ भी यदि भगवान जिनेंद्रके आगमका ज्ञाता नहीं-शास्त्रोंके रहस्यको भलेप्रकार नहिं जानता वह (नेत्रवाला होनपर भी) अंधेके समान हे । भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें बतला दिया गया है कि विना सम्यग्दर्शनके धारण किये चारित्र किसी कामका नहीं और यहां यह वात वतलाई है कि विना ज्ञानके चारित्र किसी कामका नहीं क्योंकि शास्त्रज्ञानको भी व्यवहारसे सम्यग्ज्ञान कहा है इसलिये जो योगी भलेप्रकार चारित्रके आचरण करनेपर भी शास्त्रज्ञान-सम्यग्ज्ञानसे शून्य है वह सर्वथा अंधा है ॥ १५ ॥ क्योंकि—

साधूनामागमश्चक्षुः भूतानां चक्षुरिंद्रियं ।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्वचक्षुषः ॥ १६ ॥

अर्थ—साधुओंका नेत्र शास्त्र है । प्राणियोंका नेत्र चक्षुरिंद्रिय है । देवोंका नेत्र अवधिज्ञान है और जो निर्वृत अर्थात् निर्वाण धामको प्राप्त सिद्ध हैं वे सर्वचक्षु अर्थात् केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं वे अपने अखंड ज्ञानसे ही समस्त पदार्थोंको देखते हैं ॥ १६ ॥

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः ।
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञाततत्त्वस्य जायते ॥ १७ ॥

अर्थ—इसलिये जो तपस्वी भलेप्रकार पदार्थके स्वरूपका जानकार है उसके जो शास्त्रमें बतलाये हुये चारित्रका आचरण है वह सब निर्जराका कारण है अर्थात् शास्त्रानुसार चारित्रके आचरणसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ १७ ॥

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षगोचरे। तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यमीदृशं ॥ १८ ॥
शुभाशुभविकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभं। भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा॥१९॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषयोंके सेवन करनेपर अज्ञानीके तो कर्म बंध होता है परंतु ज्ञानीके नहीं उल्टा उसके कर्मोंका नाश होता है यह आश्चर्यकी बात है। ठीक भी है क्योंकि शुभ अशुभ विकल्पोंके करनेसे शुभ अशुभ कर्मोंका आगमन होता है जो योगी शुभ अशुभ विकल्पोंको नहिं करता उसके समस्त द्रव्योंके भोगनेपर भी कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। भावार्थ—यह बात ऊपर भी बतादी गई है कि शुभ अशुभ कर्मोंके बंधनेमें शुभ अशुभ विकल्प कारण हैं। जबतक यह अच्छा है यह बुरा है इस प्रकारके विकल्प हुआ करते हैं तबतक नियमसे कर्मबंध हुआ करता है क्योंकि पदार्थोंके अच्छे बुरे माननेसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेषसे अवश्य कर्मबंध होता है। अज्ञानी मनुष्य जिससमय विषयोंका सेवन करता है उससमय उनमें घनिष्ट लोलुपताके कारण राग द्वेष करता रहता है और राग द्वेषसे सदा उसके कर्मोंका बंध हुआ करता है परंतु ज्ञानी पुरुष जिससमय विषय भोग करता है उससमय वह शुभ अशुभ विकल्प नहि करता। शुभ अशुभ विकल्पोंके न करनेसे उसके राग द्वेषकी उत्पत्ति नहिं होती इसलिये उसके कर्मोंका बंध नहिं होता, उल्टी निर्जरा ही होती है।

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो वहिस्ततः।
इति निष्किंचनो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥ २० ॥

अर्थ—न तो मैं किसीका हूं और न कोई मेरा है किंतु समस्त बाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं जो योगी ऐसा विचार करनेसे निष्किंचन है परपदार्थोंको अपनाता नहीं वह समस्त कर्मोंका नाश करता है। भावार्थ—आत्मामें जबतक यह विकल्प हुआ करता है कि स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंका मैं हूं और स्त्री पुत्र आदि पदार्थ मेरे हैं तबतक अज्ञानतासे कर्मबंध हुआ करता है परंतु जिससमय उक्त विकल्प नष्ट हो जाता है और निराकांक्ष हो मनमें यह भावना हो निकलती है कि मैं किसी अन्य पदार्थका नहीं और मेरा भी कोई पदार्थ नहीं उससमय कर्मोंका बंध नहिं होता-वे नष्ट होते रहते हैं।

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते।

ते भजंति हिमं मूढा विमुच्याग्निं हिमच्छिदे ॥ २१ ॥

अर्थ–समस्त कर्मोंसे रहित निर्दोष आत्माको छोड़कर जो मूढ मोक्षके लिये अन्यकी उपासना करते हैं वे ठंडीके नाशके लिये अग्निको छोड़कर वर्फका सेवन करते हैं ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ–यह वात भलेप्रकार निश्चित है कि ठंडीका नाश अग्निके सेवनसे ही हो सकता है वर्फके सेवनसे नही किंतु वर्फके सेवनसे और भी अधिक ठंडका कष्ट भोगना पड़ता है उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्ति भी कर्मोंसे रहित निर्दोष आत्माके सेवनसे ही हो सकती है अन्य पदार्थके उपासनसे नहीं किंतु अन्य पदार्थके उपासनसे संसारमें घूमना पड़ता है और नानाप्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं और जो पुरुप ठंडीके नाशके लिये अग्निको छोड़कर वर्फका सेवन करता है वह जिसप्रकार मूढ़ समझा जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य मोक्षकेलिये निष्कलंक आत्माको छोड़कर अन्यपदार्थकी उपासना करता है वह महामूर्ख समझा जाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मोक्षकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध आत्माका ही आराधन करै ॥ २१ ॥

योन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोन्ने सिद्धे गृहे शंके भिक्षां भ्रमति मूढधीः ॥ २२ ॥

अर्थ–जो मूढ पुरुप परमात्माके देहमें विद्यमान रहते भी दूसरी जगह उसे देखता फिरता है मैं समझता हूं वह पुरुप घरमें भोजन तयार रहनेपर भी भीखके लिये घूमता फिरता है ऐसा जान पड़ता है। भावार्थ–जैनसिद्धांतमें आत्माके मूल भेद दो माने हैं एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। जो आत्मा कर्मोंसे जिकड़ा हुआ है और संसारमें रहनेवाला है वह जीवात्मा कहा जाता है और समस्तकर्मोंका नाश करनेवाला एवं सिद्धशिलामें विराजमान परमात्मा कहा जाता है। जिससमय यह जीवात्मा समस्त कर्मोंसे रहित होकर सिद्धशिलामें विराजमान होता है उससमय यही परमात्मा कहलाता है इसलिये यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो परमात्मा हमारे शरीरके भीतर ही विराजमान है परंतु जिसप्रकार घरमें भोजन तयार रहनेपर भी इधर उधर भीख मागनेवाला पुरुप निंदनीक समझा जाता है उसीप्रकार अपने शरीरमें विद्यमान परमात्माको छोडकर जो पुरुप अन्यत्र कंकर पत्थरोंमें उनको देव मानकर उसकी खोज करता फिरता है वह भी महामूढ़ और निंदनीक समझा जाता है ॥ २२ ॥

कषायोदयतो जीवो वध्यते कर्मरज्जुभिः ।
शांतक्षीणकषायस्य त्रुट्यंति रभसेन ताः ॥ २३ ॥

अर्थ–कषायके उदयसे यह जीव कर्मरूपी रज्जुओंसे बंधता है; किंतु जिससमय इसके कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उससमय इसकी कर्मरूपी रज्जू वातकीवातमें टूट पड़ती हैं । भावार्थ–कर्मोंको, रज्जूकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार रज्जुसे कडीरीतिसे जिकड़ा हुआ मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक कुछ भी कार्य नहिं कर सकता किंतु जिससमय इसकी रज्जू दूर हो जाती है उससमय वह स्वतंत्रतासे इच्छानुसार आनंद भोगता है उसीप्रकार जब तक यह आत्मा कर्मोंसे बँधा रहता है तबतक इसै स्वाधीन सुख-मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती किंतु जिससमय यह कर्मोंसे रहित हो जाता है उससमय यह स्वाधीन सुखका भोग करता है । तथा यह जो आत्मा कर्मोंके फंदमें फसता है उसमें कारण क्रोध आदि कषाय हैं और जिससमय वे कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उससमय इसके किसी प्रकारका कर्म बंध नहिं होता ॥ २२ ॥

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमादनिलयीकृतः ।
प्रमाददोषनिर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥ २४ ॥

अर्थ–जबतक यह आत्मा प्रमादी बना रहता है तबतक प्रमादसे उत्पन्न हुये पाप कर्मोंसे यह सदा सर्वत्र बधता रहता है किंतु जिससमय यह कषाय आदि दोषोंसे रहित हो जाता है उससमय कहीं पर भी यह कर्मोंसे नहिं बंधता-उल्टा छूटता है । भावार्थ–क्रोध मान माया आदि भेदसे प्रमाद पंद्रह प्रकारका है जबतक यह जीव क्रोधी मानी आदि प्रमादी बना रहता है तबतक इसके प्रमादके द्वारा सदा पापोंका उदय होता रहता है और उन पापोंसे यह सदा सर्वत्र बंधता रहता है किंतु जिससमय इसके प्रमाद नष्ट हो जाते हैं-यह क्रोधी मानी लोभी आदि नहिं रहता उससमय इसके पापोंकी उत्पत्ति नहिं होती इसलिये उनसे जरा भी कहीं पर नहिं बंधता उल्टा छूटने लगता है ॥ २४ ॥

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद्व्रजंति ये ।

ते मन्ये मलिनाः स्नांति सरः संत्यज्य पल्वले ॥ २५ ॥

अर्थ–जो पुरुष निर्मल आत्मारूपी तीर्थको छोड़कर शुद्धिके लिये अन्यतीर्थकी उपासना करते हैं-उसमें स्नान करते हैं मैं समझता हूं वे मलिन-निकृष्ट पुरुष, सुंदर सरोवरको छोड़कर पल्वल-कीचड़युक्त जलके धारण करनेवाले तुच्छ तालावमें स्नान करते हैं। भावार्थ–जिसके द्वारा मनुष्य तिरैं-अविनाशी आनंद सुखको भोगैं उसका नाम तीर्थ है बहुतसे मनुष्योंने शुद्धिकेलिये गंगा यमुना आदिको तीर्थ समझ रक्खा है इसलिये वे उसीमें स्नानकर अपनेको शुद्ध मान लेते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि गंगा जमुना आदि तीर्थोंके आश्रयसे शरीरकी शुद्धि होती है आत्माकी शुद्धि नहीं और आत्माकी शुद्धिके विना निराकुलतामय सुख प्राप्त नहीं होता किंतु आत्मारूपी तीर्थमें स्नान करनेसे ही आत्माकी विशुद्धि और अव्याबाधस्वरूप सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये जो मूढ़ पुरुष परम पवित्र आत्मारूपी तीर्थका सर्वथा त्यागकर अन्य तीर्थ गंगा यमुना आदिकी उपासना करते हैं वे सुंदर स्वच्छ सरोवरको छोड़कर कीचड़युक्त तलावमें स्नान करते हैं ऐसा जान पड़ता है अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे अपने आत्मारूपी तीर्थमें ही अवगाहन करै। नाम मात्रके झूंठे तीर्थोंमें चित्तको न भटकावें ॥ २५ ॥

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः।
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्मज्ञानं परीषहान् ॥ २६ ॥

अर्थ–जो पुरुष अपनी आत्माके जाननेके अभिलाषी हैं उन्हें अवश्य परीषह सहनी चाहिये क्योंकि परीषहोंको न सहनेवाले पुरुषोंका स्वात्मज्ञान नष्ट होता है। भावार्थ–भूंख प्यासका सहना, ठंडी गरमीका दुःख भोगना, मच्छर डांस आदिसे उत्पन्न पीड़ा भोगना आदि परीषह हैं। जिससमय मोक्षाभिलाषी मुनिवर परिग्रहोंसे ममत्व हटाकर और दिगंबर व्रतको धारणकर वनमें निवास करते हैं उससमय वे इन सब परीषहोंको सहते हैं और वास्तविक आत्माके ज्ञानका लाभ करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि परीषहोंसे शरीरको कष्ट होता है और शरीर हमारा है नहीं। यदि वे शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व करैं तो संक्लिष्ट परिणाम होनेसे उन्हें कभी आत्मज्ञान नहिं हो सकता इसलिये जो महानुभाव आत्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य परीषहोंको सहैं। क्योंकि शरीरमें ममत्वकर परीषह न सहनेसे उनका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

अनुबंधः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः ।
आर्तं तदनुबंधेन जायते भूरिकर्मदं ॥ २७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य निर्जरार्थी हैं-कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख किं वा दुःखसे किसीप्रकारका संबंध न रक्खें क्योंकि सुख और दुःखके संबंधसे अनेक प्रकारके कर्मोंके प्रदान करनेवाले आर्तध्यानकी उत्पत्ति होती है। भावार्थ—संसारमें तो इष्ट पदार्थोंके समागम वा वियोग आदि सदा हुआ करते हैं और उनसे सुख दुःख उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये जो पुरुष कर्मोंकी निर्जरा चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख किं वा दुःख आपड़नेपर जरा भी सुखी दुःखी न हों क्योंकि सुखी दुःखी होनेसे आर्तध्यानकी उत्पत्ति होती है और आर्तध्यानसे अनेकप्रकारके कर्मोंका आगम होता है ॥ २७ ॥

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्धयति नान्यतः ।
अन्यतः शुद्धिमिच्छंतो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥ २८ ॥

अर्थ—यह निश्चय है कि आत्माके ज्ञानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है अन्यसे नहीं परंतु जो पुरुष अन्य पदार्थसे शुद्धि चाहते हैं वे समस्त भ्रांत-मिथ्यादृष्टि हैं। भावार्थ—आत्माकी शुद्धिका अर्थ आत्माको अनंतज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति है और यह शुद्धि उसीसमय प्राप्त हो सकती है जब कि अन्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि न लगाकर केवल आत्मिक ज्ञान आदि गुणोंका चिंतवन किया जाय। इसलिये जो महापुरुष आत्माके स्वरूपको जानते हैं और उसीका आराधन करते हैं उन्हींकी आत्मा शुद्ध होती है और अन्य प्रकारसे शुद्धि चाहनेवालोंकी आत्माकी शुद्धि नहीं बल्कि वैसा करनेवाले हित अहितके विचारसे शून्य मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा। परद्रव्यबहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥ २९ ॥
स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया। न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ॥ ३० ॥

अर्थ—यह आत्मा परपदार्थोंसे सर्वथा बहिर्भूत है—परद्रव्य और आत्माका कोई आत्मिक संबंध नहीं इसलिये चाहैं परद्रव्य मलिन हो वा निर्मल हो उससे कभी यह आत्मा स्पृष्ट और शुद्ध नहिं हो सकता इसलिये विद्वानोंको चाहिये

कि परपदार्थोंके त्यागकी इच्छासे आत्माके स्वरूपकी भावना करै क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी पर्वा नहिं करते वे परद्रव्योंका त्याग नहिं कर सकते। भावार्थ-यह ऊपर भी बतला दिया गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और परद्रव्य जड़ हैं इसलिये चाहें वे मलिन हों वा निर्मल हों कभी आत्माको स्पृष्ट वा शुद्ध नहिं बना सकते। तथा जो पुरुष परद्रव्यका त्याग करना चाहते हैं वे आत्मस्वरूपकी भावनासे ही कर सकते हैं इसलिये जिन महानुभावोंको परद्रव्योंके त्यागनेकी इच्छा हो उन्हें चाहिये कि वे अवश्य आत्माके स्वरूपकी भावना करै क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी भावना नहिं करते उनके परद्रव्योंका त्याग नहिं हो सकता॥ २९-३०॥

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्यजिघृक्षया।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति॥ ३१॥

अर्थ-तथा आत्मद्रव्यकी ग्रहण करनेकी इच्छासे परद्रव्यकास्वरूप अवश्य जानना चाहिये क्योंकि जो पुरुष परपदार्थको नहिं जानता वह कभी आत्माके ग्रहण करनेकी इच्छा नहिं कर सकता। भावार्थ-पदार्थ अच्छे बुरे दोनों प्रकारके होते हैं परंतु अच्छेकी कदर उसीसमय हो सकती है जब बुरे पदार्थ वा उसके दोषोंको जानलिया जाय क्योंकि जबतक हमको बुरा पदार्थ अपना अहितकारी न मालूम होगा तबतक हम अच्छेकी कैसे कदर कर सकते हैं? आत्मा पदार्थ अच्छा हितकारी और ग्रहण करनेके योग्य है परंतु इसका ग्रहण उसीसमय हो सकता है जब परपदार्थोंको अहितकारी और बुरा समझ लिया जाय अर्थात् जबतक हम परपदार्थोंके स्वरूपको न समझैंगे तबतक कभी आत्माके ग्रहण रनेकेलिये प्रवृत्त नही होसकते इसलिये जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी जाननेकी इच्छा रखते हैं उन्हें चाहिये कि वे पहिले अवश्य परपदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान करै॥ ३१॥

स्वतत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्यविरक्तये।
स्वभावो जगतां भाव्यः समस्तमलमुक्तये॥ ३२॥

अर्थ-उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे आत्माके स्वरूपमें प्रेम करनेकेलिये परपदार्थोंसे प्रेम हटानेकेलिये और समस्त पापोंके नाशकेलिये संसारके स्वभावकी अवश्य भावना करें। भावार्थ-संसार असार है। जो आज राजा दीखते हैं वे कल

रंक और जो रंक दीखते हैं वे कल राजा हो जाते हैं। यह जीव कर्मोंके फंदमें पड़कर कभी नारकी कभी तिर्यंच आदि हो नानाप्रकारका दु ख भोगता है असली शांति इसे क्षणभरकेलिये भी कहीं नहिं मिलती इत्यादि जबतक संसारका स्वरूप नहिं विचारा जाता तबतक आत्माके स्वरूपके विचारनेमें चित्त नहिं लगता एवं परपदार्थोंसे विराग नहिं होता किंतु जिससमय संसारके असारस्वरूपकी भावना मनमें हो निकलती है उससमय चित्तमें निर्दोष आत्माके स्वरूपका चिंतवन होने लगता है परपदार्थोंसे विरक्ति हो जाती है इसलिये कर्मोंका नाश होजाता है क्योंकि कर्मोंके नाशमें आत्मस्वरूपका चिंतवन और परपदार्थोंसे विरक्ति प्रधान कारण है इसलिये जो मनुष्य कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मस्वरूपके चिंतवन करने और परपदार्थोंसे विरक्त होनेकेलिये अवश्य संसारके स्वरूपकी भावना करें ॥३२॥

यत्पंचाभ्यंतरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते ।
न तु पंचवहिर्भूतमाश्चर्यं किमतः परं ॥ ३३ ॥

अर्थ–जो जीव पांच अभ्यंतर पापोंसे सेवित है वह तो बंधता है और जो पांच पापोंसे रहित है वह नहिं बंधता है यह बड़ा आश्चर्य है। भावार्थ–सेनाके कई भेद हैं उनमें एकप्रकारकी अभ्यंतर सेना भी है जो अंगरक्षक कही जाती है। जिस राजाके पास यह अभ्यंतर सेना रहती है वह शत्रुओं द्वारा नहिं बंधता और जिससमय वह उस सेनासे बाहिर निकल जाता है उससमय देखते देखते शत्रु उसे बांध लेते हैं परंतु यहांपर विपरीत बात है जो जीव पांचप्रकारके अभ्यतर पापोंसे सेवित-रक्षित है वह तो कर्मबंधनसे बंध जाता है किंतु जो उन पापोंसे रहित है-जिसका कोई भी पाप रक्षक नही कर्मबंध उसके पास भी नहिं फटकने पाते। सारार्थ-पापोंके कारण नियमसे कर्मबंधन होता है ॥ ३३ ॥

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति ।
आराधना कृता यस्माद्विद्यमानं प्रदीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ–जो पुरुष ज्ञानकी आराधना करता है उसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और जो अज्ञानकी आराधना करता है उसे अज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि जो चीज जिसके पास विद्यमान रहती है वही दी जाती है। भावार्थ–जो पुरुष विद्यावान है वह विद्या ही प्रदान कर सकता है धन नहीं और जो धनवान है वह धन प्रदान कर सकता है वि-

द्या नहीं। ज्ञानके पास ज्ञान है इसलिये जिससमय ज्ञानकी आराधना की जाती है उससमय ज्ञानकी प्राप्ति होती है और अज्ञानके पास अज्ञान है इसलिये जिससमय अज्ञानकी आराधना की जाती है उससमय अज्ञान मिलता है ॥ ३४ ॥

न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः ।
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥ ३५ ॥

अर्थ—ज्ञान और ज्ञानीका आपसमें सर्वथा भेद नहीं इसलिये जिससमय निश्चयनयसे ज्ञान जान लिया जाता है उससमय ज्ञानी-आत्माका भी ज्ञान हो जाता है। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि जैनसिद्धांतमें व्यवहार और निश्चय दो नय मानी गई हैं और इनके द्वारा पदार्थोंकी व्यवस्था होती है। व्यवहारनयसे संज्ञा-संख्या आदिके भेदसे यद्यपि ज्ञान ज्ञानीमें भेद माना गया है परंतु निश्चयनयसे नहीं। निश्चयनयसे जो ज्ञान है वही ज्ञानी और जो ज्ञानी है वही ज्ञान है इसलिये जिससमय शुद्धनिश्चयनयसे हम ज्ञानका ज्ञान करते हैं उससमय ज्ञानी-आत्माका भी अवश्य ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते ।
ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

अर्थ—ज्ञान आत्मामें मौजूद है इस वातका सवको प्रत्यक्ष अनुभव है अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्षकी महिमासे सबको आत्मामें ज्ञानकी मोजूदगीका ज्ञान है और जिसको ज्ञानका अनुभव नहिं है वह पदार्थोंका भी ज्ञान नहिं कर-सकता। भावार्थ—ज्ञान अमूर्तिक आत्माका गुण होनेके कारण अमूर्तिक है इसलिये मूर्तिक इंद्रियोंसे उसका प्रत्यक्ष नहिं हो सकता किंतु 'अहं अहं' (मैं मैं) इत्याकारक स्वानुभव प्रत्यक्षसे उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता है इसलिये इस स्वानुभव प्रत्यक्षके माहात्म्यसे सब लोग आत्मामें ज्ञानकी सत्ता मानते हैं एवं यह नियम है कि जो पुरुष ज्ञानका अनुभवी है-उसै जानता है वही अन्य पदार्थोंको भी जान सकता है किंतु जिसको ज्ञानका ज्ञान नही वह अन्य पदार्थोंका भी ज्ञान नहिं कर सकता ॥ ३६ ॥

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि । सोऽनेन परकीयेण तदा किन्न प्रतीयते ॥ ३७ ॥

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथं। उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किं ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि यह कहोगे कि ज्ञान परोक्ष है—किसीप्रकारसे उसका प्रत्यक्ष नहिं हो सकता परंतु वह विषयोंको अवश्य जानता है तब वह आत्माको क्यों नहिं जानता-आत्माका भी उसे अवश्य ज्ञान होना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार दीपकके प्रकाशमें घट पट आदि पदार्थ दीखते हैं और साथमें प्रकाशक दीपक भी दीखता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थोंका ज्ञान हो और ज्ञानी आत्माका ज्ञान न हो यह कैसे हो सकता है? आत्माका भी अवश्य ज्ञान होना चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार पदार्थोंपर प्रकाशके पड़नेसे पदार्थ भी दीखते हैं और दीपक भी स्पष्टरूपसे दिखलाई देता है केवल यह बात नहीं कि पदार्थ ही पदार्थ दीखें प्रकाशक दीपक न दीखे उसीप्रकार जिससमय पदार्थोंपर ज्ञानकी झलक पड़ती है उससमय पदार्थोंका जैसा ज्ञान होता है उसीप्रकार ज्ञानी आत्माका भी ज्ञान होता है इसलिये जो महाशय ज्ञानको परोक्ष और घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञायक होनेपर भी आत्माका ज्ञायक नहीं मानते उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानसे आत्माका भी ज्ञान होना मानें ॥ ३७–३८ ॥

विंदंति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विंदंति किं।
द्योत्यं पश्यंति न द्योतमाश्चर्यं वत कीदृशं ॥ ३९ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि बड़ा आश्चर्य है कि जब मूढ़ पुरुष वेद्य-पदार्थोंको जानते हैं तब वेदक—आत्माको क्यों नहिं जानते क्योंकि जब द्योत्य पदार्थोंको देखते हैं तब द्योत-प्रकाशको क्या नहिं देखते। भावार्थ—वेद्यका अर्थ जानने योग्य पदार्थ, वेदकका अर्थ जाननेवाला, द्योत्यका अर्थ प्रकाशित होनेके लायक और द्योतका अर्थ प्रकाश करनेवाला है जो मूढ़ पुरुष यह मानते हैं कि हम वेद्यको जानते हैं वेदकको नही उनका कथन बड़ा आश्चर्यपरिपूर्ण और प्रत्यक्षबाधित है क्योंकि जिसप्रकार द्योत्य और द्योत दोनों दीखते हैं यह नहीं कि केवल द्योत्य ही दीखे उसीप्रकार वेद्य और वेदक दोनों ही दीखते हैं केवल वेद्य नहीं इसलिये आत्माका वा ज्ञानका ज्ञान नहिं होता यह कल्पना निर्मूल है।३९।

ज्ञेयलक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः।
व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसां ॥ ४० ॥

अर्थ—इसप्रकार जो पुरुष ज्ञेय लक्ष्य रूपसे परमात्माके स्वरूपको जानकर और लक्ष्यस्वरूपका त्यागकर शुद्धस्वरूप

का ध्यान करता है उसके पापोंका नाश होता है। भावार्थ–जबतक स्वयं परमात्माके स्वरूपके जाननेकी सामर्थ्य न उत्पन्न हो तबतक उसका ज्ञेयस्वरूपसे ज्ञान करना चाहिये अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्ष वा आगम प्रमाणसे उसका स्वरूप जानना चाहिये किंतु जिससमय उसके स्वरूपके जाननेकी स्वयं सामर्थ्य हो जाय उससमय ज्ञेयस्वरूपसे हटकर उसके शुद्धस्वरूपका ध्यान करना चाहिये क्योंकि परमात्माके शुद्धस्वरूपके ध्यानसे कर्मोंका नाश होता है और शुद्धस्वरूपमें लक्ष्य लक्षण वा ज्ञेय ज्ञानका कुछ विभाग नहीं ॥ ४० ॥

चट्टुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते।
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ–जिसप्रकार करछीसे भोजन ग्रहणकर वह छोड़ दी जाती है उसीप्रकार इंद्रियज्ञानसे आत्माको जानकर इंद्रियज्ञान भी छोड़ दिया जाता है। भावार्थ–जिसप्रकार भोजनके बाद चट्टुकका रखना व्यर्थ है उसीप्रकार इंद्रियज्ञान–मानसिक प्रत्यक्ष आदिसे आत्माका ज्ञान होजानेपर इंद्रियज्ञान भी निष्प्रयोजन है इसलिये भोजनके बाद जिसप्रकार चट्टुक सर्वथा छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार इंद्रियज्ञानसे आत्माको जानकर इंद्रियज्ञानका भी सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥ ४१ ॥

उपलब्धे यथाऽहारे दोषहीने सुखासिकः।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिसप्रकार निर्दोष आहारके ग्रहणसे आनंद मिलता है उसीप्रकार आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे भी परम आनंद प्राप्त होता है यह ज्ञानियोंका प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है। भावार्थ–जो पुरुष आहारके आकांक्षी हैं और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहते हैं उनको जिसप्रकार निर्दोष आहारके मिलजानेसे परम सुख मिलता है उसीप्रकार जो ज्ञानी मनुष्य आत्मस्वरूपके आकांक्षी हैं और शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भी शुद्ध आत्मस्वरूपके प्राप्त हो जानेसे परम संतोष होता है यह ज्ञानियोंका प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है अर्थात् वे बाह्य पदार्थोंकी चटक मटकमें न फसकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें प्रेम करते हैं इसलिये उनका प्रेम सर्वोत्कृष्ट प्रेम है ॥ ४२ ॥

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःखविभीरुभिः ।
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥ ४३ ॥

अर्थ-जिसप्रकार दुःखसे डरनेवाले सज्जनपुरुष परपदार्थ सर्प काटे आदिको दूरसे ही छोड देते हैं उसीप्रकार जो पुरुष आत्मस्वरूपमें लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थोंको दूरसे ही सर्वथा छोडदेते हैं । भावार्थ-सर्प कांटे आदि पदार्थ दुःखके देनेवाले हैं इनके दर्शनमात्रसे हृदयमें दुःखकी भावना हो निकलती है इसलिये दुःखसे भय करनेवाले सज्जन पुरुष जिसप्रकार उनका सर्वथा त्याग कर देते हैं उसीप्रकार जो पुरुष संसारके दुःखसे भयभीत हैं और अपने आत्मिक शुद्धरूपमें लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थोंको दुःखका कारण जान उनका सर्वथा त्याग करदेते हैं-उन्हें कभी भी नहिं अपनाते ॥ ४३ ॥

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितं ।
शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते ॥ ४४ ॥

अर्थ-जिसप्रकार सुवर्णके शुद्ध करनेपर शुद्ध सुवर्ण और लोहके शुद्ध करनेपर शुद्ध लोहकी प्राप्ति होती है उसीप्रकार ज्ञानके शुद्ध होनेपर शुद्धज्ञान और अज्ञानसे अज्ञानकी प्राप्ति होती है । भावार्थ-यह नियम है कि जिस बातकी चाह होती है उसकी प्राप्ति उसीके योग्य कार्य करनेसे होती है यदि सुवर्ण को शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध सुवर्णकी और लोहको शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध लोहकी प्राप्ति होती है किंतु यह कभी नहिं हो सकता कि सुवर्णको शुद्ध किया जाय और शुद्ध लोहकी प्राप्ति हो अथवा लोहको शुद्ध किया जाय तो सुवर्णकी प्राप्ति हो उसीप्रकार ज्ञानकी आराधनासे शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञानकी आराधनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है किंतु यह कभी नहिं हो सकता कि ज्ञानकी आराधनासे भी अज्ञानकी प्राप्ति हो ॥ ४४ ॥

प्रतिबिंबं यथाऽऽदर्शे दृश्यते परसंगतः ।
चेतने निर्मले मोहस्तथा कल्मषसंगतः ॥ ४५ ॥

अर्थ-जिसप्रकार निर्मल दर्पणमें परपदार्थके संयोगसे प्रतिबिंब दीख पड़ता है उसीप्रकार निर्मल भी आत्मामें

कर्मोंके संसर्गसे मोह दीख पड़ता है । भावार्थ–यदि वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो दर्पण स्वभावसे शुद्ध पदार्थ है उसमें किसी भी परपदार्थका प्रतिविंब नहीं किंतु जिससमय उसके सामने परपदार्थ आ जाता है उससमय उसमें प्रति-विंव दीख पड़ता है उसीप्रकार निश्चयनयसे आत्मा कर्मकी उपाधियोंसे रहित निष्कलंक परम शुद्ध है परंतु कर्मके संबंधसे इसमें मोह दीख पड़ता है-मोह इसका असली स्वरूप नहीं ॥ ४५ ॥

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे, पापे न वर्तते । पापेन वासितो नूनं पापे, धर्मे न सर्वदा ॥ ४६ ॥

ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन । यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः ॥

अर्थ–जिसके हृदयमें धर्मकी वासना है उस जीवकी धर्ममें प्रवृत्ति होती है पापमें नहीं । जिसके मनमें पापकी वासना है उसकी सदा पापमें प्रवृत्ति होती है धर्ममें नहीं और जिसके हृदयमें ज्ञानकी वासना है उसकी ज्ञानमें प्रवृत्ति होती है अज्ञानमें नहीं इसलिये जो महात्मा शुद्धिके अभिलापी हैं-अपनी आत्माको विशुद्ध वनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानमें ही अपनी बुद्धिको लगावें । भावार्थ--वासनाका अर्थ संस्कार है जिस मनुष्यके हृदयमें जिस पदार्थका संस्कार होता है उसकी उसी पदार्थमें प्रवृत्ति होती है, अन्यमें नहीं । जो मनुष्य धर्मके संस्कारसे युक्त है उसकी धर्ममें ही प्रवृत्ति होती है पापमें नहीं और जिस मनुष्यके हृदयमें पापकी वासना है उसकी पापमें प्रवृत्ति होती है धर्ममें नही तथा जो मनुष्य ज्ञानके संस्कारसे युक्त है उसकी ज्ञानमें ही प्रवृत्ति होती है अज्ञानमें नहीं एव ज्ञानमें प्रवृत्ति होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है इसलिये जो महानुभाव आत्माको विशुद्ध वनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी बुद्धिको ज्ञानकी ओर झुकावें ॥ ४६–४७ ॥

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते ।
मलिनत्वं कुतो याति कांचनं हि विशोधितं ॥ ४८ ॥

अर्थ--जिसप्रकार अच्छीतरहसे शुद्ध किया हुआ सुवर्ण फिर मलिन नहिं होता उसीप्रकार जिससमय ज्ञानी आत्मा निर्मल-विशुद्ध हो जाता है उससमय वह फिर अज्ञानस्वरूप परिणत नहि होता । भावार्थ–जिससमय सुवर्णमें सोलह ताव लग जाते हैं उससमय कीट कालिमा आदिके दूर होजानेसे वह शुद्ध सुवर्ण हो जाता है और फिर वह अशुद्ध नहिं

होता उसीप्रकार जिससमय ज्ञानावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय ज्ञान भी शुद्ध हो जाता है और फिर वह कभी अज्ञानस्वरूप परिणत नहिं होता ॥ ४८ ॥

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं, पृच्छ्यं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयं ।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं, दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मास्थिरत्वं ॥ ४९ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें वही पदार्थ निश्चल मनसे पढ़ने योग्य, ध्यान करने योग्य, आराधनाके योग्य पूछनेके योग्य, सुननेके योग्य, अभ्यासके योग्य, उपार्जन करनेके योग्य, जाननेके योग्य, कहनेके योग्य, प्रार्थनाके योग्य, शिक्षाके योग्य, देखनेके योग्य, और स्पर्श करनेके योग्य है जिससे सदा आत्मा स्थिर बना रहै । भावार्थ–निर्जराकी प्राप्तिके लिये आत्माका निश्चल होना परम आवश्यकीय है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे ही पदार्थका अध्ययन ध्यान और आराधना आदि करै जिससे उनकी आत्माका स्वस्वरूप ज्ञान निश्चल बना रहै यदि वे अहितकारी पदार्थका अध्ययन ध्यान आदि करैंगे तो कभी आत्मा उनका स्वरूपमें निश्चल नहिं रह सकता ॥ ४९ ॥

इत्थं योगी व्यपगतपरद्रव्यसंगप्रसंगो, ज्ञात्वा कामं चपलकरणग्राममंतर्मुखत्वं ॥
ध्यात्वात्मानं विशदचरणज्ञानदृष्टिस्वभावं, नित्यं ज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ॥

अर्थ–इसप्रकार जो योगी परपदार्थोंके संगसे सर्वथा रहित होकर और चंचल इंद्रियोंको जानकर अपने भीतर प्रविष्ट हो सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन स्वरूप स्वभावके धारक आत्माका ध्यान करता है वह योगी समस्त कर्मोंकी निर्जरा कर अविनाशी अनुपम देदीप्यमान मोक्ष पदको प्राप्त होता है । भावार्थ–जबतक परपदार्थोंके संसर्गसे मुख न मोड़ा जायगा, जबतक चंचल इंद्रियोंके स्वभावका ज्ञान न होगा, जबतक आत्माकी ओर दृष्टि न लगाई जायगी तबतक कभी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप आत्माका ध्यान नहिं हो सकता और आत्माके ध्यानके विना अविनाशी मोक्षपद मिलना कठिन है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे परपदार्थोंसे संबंध तोड़ें, इंद्रियोंके जालमें न फसें अंतरंगकी ओर दृष्टि लगावें और सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप आत्माका ध्यान करैं ॥ ५० ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें निर्जराधिकार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

मोक्षाधिकार ॥ ७ ॥

अभावे बंधहेतूनां निर्जरायां च भास्वरः ।
समस्तकर्मविश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः ॥ १ ॥

अर्थ—बंधके कारणोंके अभाव और निर्जराके होनेपर जो समस्त कर्मोंका नाश हो जाना है वह मोक्ष है और वह अतिशय देदीप्यमान और अपुनर्भव है-मोक्षसे फिर लोटना नहिं होता । भावार्थ—पहिले कह दिया गया है कि मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बंधके कारण हैं जबतक इनका आत्माके साथ संबंध रहता है तबतक सदा कर्मबंध हुआ करता है इसलिये जिससमय इन बंधके कारणोंका अभाव हो जाता है उससमय अविपाक निर्जराके द्वारा जो समस्त कर्मोंका नाश हो जाना है उसीका नाम मोक्ष है तथा यह मोक्ष सर्वोत्कृष्ट स्थान है और जो जीव इसै प्राप्तकर लेते हैं उन्हें फिर जन्म मरण आदिका क्लेश नहिं भोगना पड़ता-वे सदा काल निराकुलतामय सुखका भोग करते हैं ॥ १ ॥

उदेति केवलं जीवे मोहविघ्नावृतिक्षये ।
भानुविंबमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय जीवके मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय इसके आकाशमें रात्रि अंधकारके नष्ट होजानेपर देदीप्यमान सूर्यके समान केवलज्ञानका उदय होता है। भावार्थ—आकाशके रहनेपर भी जबतक अंधकारका नाश नहिं होता तबतक सूर्यका उदय नहिं होता किंतु ज्योंही अंधकार दूर हुआ त्योंही सूर्य देखते २ उदित हो जाता है उसीप्रकार अविनाशी आत्माके विद्यमान रहते भी जबतक मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंका संबंध रहता है तबतक कभी केवलज्ञान उदित नहिं होता किंतु जिससमय मोहनीय आदि कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय आत्मामें केवलज्ञान चमचमा उठता है इसलिये सूर्यके उदयमें जिसप्रकार रात्रि अंधकार प्रतिबंधक है उसीप्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म केवलज्ञानके उदयमें प्रतिबंधक हैं।

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलं ।

आदर्शे न मलग्रस्ते किंचिद्रूपं प्रकाशते ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार मलिन दर्पणमें कुछ भी स्वरूप प्रकाशित नहिं होता उसीप्रकार कर्मोंसे मलिन आत्मामें केवलज्ञा-
नका उदय नहिं होता। भावार्थ–आत्मा निर्मल दर्पणके समान निर्मल है तथा घट पट आदि पदार्थोंके प्रतिविंबमें जि-
सप्रकार दर्पणकी स्वच्छता प्रधान कारण है उसीप्रकार केवलज्ञानके उदयमें दोषरहित आत्मा प्रधान कारण है अर्थात्
जबतक ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्मोंका आत्माके साथ संबंध रहता है तबतक केवलज्ञान उत्पन्न
नहिं होता ॥ ३ ॥

न मोहप्रभृतिच्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते नहि ॥ ४ ॥

अर्थ–जिसप्रकार विना वज्रके पर्वतका नाश नहिं होता उसीप्रकार विना शुद्ध आत्माके ध्यानके मोह आदि कर्म भी
नष्ट नहिं हो सकते। भावार्थ–पर्वत सरीखे विशाल पदार्थका भेदना अत्यंत कठिन है परंतु जिससमय उसके ऊपर वज्र
गिरता है उससमय वह देखते देखते खंड खंड हो जाता है उसीप्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण दर्शनारण कर्मोंका
नाश होजाना अत्यंत कठिन है परंतु जिससमय विशुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है उससमय कर्म देखते देखते
झड़ पड़ते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मोह आदिके नाशार्थ अवश्य शुद्ध आत्माके ध्यानका आराधन करें।

विभिन्ने साति दुर्भेदे कर्मग्रंथिमहीधरे। तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरिसंक्लेशकारिणि ॥ ५ ॥
आनंदो जायतेऽत्यंतं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः। औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ॥ ६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार रोगग्रस्त मनुष्य औषधसे रोगके नष्ट होजानेपर सुखलाभ करता है उसीप्रकार जिससमय योगीके
दुर्भेद-कठिनतासे भिदनेवाला और अनेक प्रकारके संक्लेशोंको प्रदान करनेवाला कर्मरूपी पर्वत तीक्ष्ण ध्यानरूपी वज्रसे
नष्ट हो जाता है उससमय उसै भी वास्तविक निराकुलतामय परम आनंदकी प्राप्ति होती है ॥ ५–६ ॥

साक्षादतींद्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा। प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात्प्रातिहार्यसमन्वितः ॥ ७ ॥

अबंध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यनियोगतः। महात्मा केवली कश्चिद्देशनायां प्रवर्तते ॥ ८ ॥

अर्थ--जिससमय ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके नाशसे केवलज्ञान प्राप्त होजाता है उससमय भगवान केवली अपने केवलज्ञानरूपी नेत्रसे अतींद्रिय पदार्थोंको भी स्पष्टरूपसे देखकर और महान पुण्यकी सामर्थ्यसे प्रातिहार्योंसे युक्त होकर भव्योंकी इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं और उनका उपदेश अबंध्य उपदेश होता है अर्थात् अवश्य उस उपदेशका श्रोतओंपर असर पड़ता है। भावार्थ--जिससमय भगवान तीर्थंकरको केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है उससमय देव उनके समवसरणकी रचना करते हैं समवसरणमें बारह कोठे बनाये जाते हैं और उनमें मुनि आर्यिका आदि अपने अपने स्थानोंपर बैठते हैं। समवसरणके ठीक मध्यमें बहुमूल्य एक सिंहासनका निर्माण किया जाता है और उसमें विराजमान हो भागवान तीर्थंकर मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जानकर भव्योंकी इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं तथा उससमय उनके अशोकवृक्ष १ पुष्पवृष्टि २ दिव्यध्वनि ३ चमर ४ सिंहासन ५ दुंदुभी ६ भामडल ७ और छत्र ८ ये आठ प्रातिहार्य प्रकट हो जाते हैं और जो उनका उपदेश होता है उसका सब जीवोंपर असर पड़ता है-तिर्यंच भी उनके उपदेशसे यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं ॥ ७--८ ॥

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलं।
शशांकस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ ९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है पवनका स्वरूप चपलता और चंद्रमाका स्वरूप शीतलता है उसीप्रकार आत्माका स्वरूप ज्ञान है। भावार्थ--स्वरूपका अर्थ स्वभाव भी है इसलिये यहां स्वरूप शब्दसे स्वभाव अर्थका ग्रहण है और इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अग्निका स्वभाव उष्णपना है पवनका स्वभाव चपलता और चंद्रमाका स्वभाव शीतलता है उसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान है-स्वभावसे ही यह समस्त पदार्थोंको जानता है ॥९॥

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः।
प्रतिबंधकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥ १० ॥

अर्थ--आत्माका स्वरूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय है ज्ञानसे भिन्न नहीं तथा प्रतिबंधककी सामर्थ्यसे वह अ-

पनें कार्यमें परिणत नहिं होता। भावार्थ–कोई कोई सिद्धांतकार ज्ञानको जड़ प्रकृतिका कार्य समझकर जड़ मानते हैं और आत्माका स्वरूप चैतन्य मानते हैं उन्हींके सिद्धांतके खंडनार्थ यहां ग्रंथकारने यह लिखा है कि आत्माका जो चैतन्य स्वभाव है वह ज्ञानस्वरूप है ज्ञानसे भिन्न नहीं। यदि यहांपर यह शंका उत्पन्न हो कि जब चैतन्यका ही अर्थ ज्ञान है और ज्ञानका अर्थ समस्त पदार्थोंका जानना है तब आत्मा सदा समस्त पदार्थोंको क्यों नहिं जानता तब इसका समाधान यह किया है कि यद्यपि आत्मामें ज्ञान विद्यमान है परंतु ज्ञानावरण कर्म ऐसा बलवान प्रतिबंधक पड़ा हुआ है जिससे यह समस्त पदार्थोंके जानने रूप अपने कार्यमें परिणत नहिं हो सकता किंतु जिससमय वह प्रतिबंधक सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय यह ज्ञान स्पष्टरूपसे समस्त पदार्थोंको देखता जानता है इसीलिये भगवान केवली प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्मके नष्ट हो जानेपर अपने केवलज्ञान गुणसे स्पष्टतया समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

ज्ञानी ज्ञेयो भवत्यज्ञो नासाति प्रतिबंधके।
प्रतिबंधं विना वह्निर्न दाह्ये दाहकः कदा ॥ ११ ॥

अर्थ–जिसप्रकार प्रतिबंधक चंद्रकांतमणि वा मंत्रके दूर होजानेपर अग्नि काष्ठ आदिको भस्म करती है अर्थात् प्रतिबंधकके अभावमें वह अपना पूर्ण दाहकत्वस्वभाव धारण करलेती है उसीप्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरणादिकर्मके नष्ट हो जानेपर आत्मा ज्ञेय–ज्ञानका विषय तो अवश्य होता है परंतु अज्ञ-ज्ञानशून्य जड़ नहिं हो सकता। भावार्थ–कई सिद्धांतकारोंका यह सिद्धात है कि जबतक आत्मा संसारमें विद्यमान रहता है तब तक उसमें ज्ञान रहता है किंतु जिससमय वह मुक्त हो जाता है उससमय उसमें ज्ञान-चेतना नहिं रहती क्योंकि उनका यह आशय है कि ज्ञान सुख दुःखका कारण है-मनुष्य जैसा जैसा ज्ञानवान होता जाता है उसको दूनी चिंता होती जाती है और चितासे सुख दुःख होते हैं इसीलिये उन्होंने बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म (पुण्य) अधर्म (पाप) और संस्कार ये नौ गुण आत्माके विशेष गुण माने हैं और जिससमय ये नष्ट हो जाते हैं उससमय मोक्ष होती है ऐसा स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्तियुक्त नहीं क्योंकि संसारमें जो ज्ञान दुःखका कारण अनुभवमें आता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं–अशुद्ध ज्ञान है। उसका प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म मोजूद है किंतु जिससमय यथार्थ ज्ञान–केवलज्ञान उदित हो जाता है

उससमय दुःख नहिं होता अर्थात् केवलज्ञानके होनेपर वस्तुका यथार्थ स्वरूप मालूम पड़ जाता है। यथार्थस्वरूपके ज्ञानसे परपदार्थोंमें रागद्वेष नहिं होते और रागद्वेषके अभावसे सुख दुःख नहिं होता क्योंकि सुख दुःखकी उत्पत्तिमें प्रधान-कारण रागद्वेष है इसलिये प्रतिबंधक कर्मोंके अभावमें आत्मा ज्ञानशून्य जड़ होजाता है यह बात युक्त नही किंतु जिस प्रकार चद्रकांतमणि मंत्र आदि प्रतिबंधकके अभावमें अग्नि और भी प्रकृष्टरूपसे दहकती है उसका दाहक स्वभाव नष्ट नहि होता उसीप्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्मके अभावसे आत्मा स्पष्टरूपसे समस्त पदार्थोंको जानता है समस्त पदार्थोंके जाननेमें उससमय उसै कोई प्रकारकी अड़चन नहिं होती तथा समस्त पदार्थोंके यथार्थ जाननेसे राग द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं और राग द्वेषके अभावसे सुख दुःखका सामना नहिं करना पडता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि प्रति-बंधकके अभावमें उल्टी परम विशुद्ध आनंदकी प्राप्ति होती है सर्वथा ज्ञानकी नास्ति नहीं। हां! उससमय आत्मा ज्ञेय होनेके कारण मोक्ष अवस्थामें अन्य आत्माके वा निजके ज्ञानका विषय अवश्य रहता है इसलिये उससमय उसै ज्ञेय कहना बाधित नहीं।

प्रतिबंधको न देशादिविप्रकर्षोऽस्य युज्यते ।
तथानुभवसिद्धत्वात्सप्तहेतेरिव स्फुटं ॥ १२ ॥

अर्थ–जिसप्रकार देश काल और स्वभाव सूयके प्रतिबंधक नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है उसीप्रकार आत्माके भी देश काल और स्वभाव प्रतिबंधक नही यह स्वानुभाव सिद्ध है। भावार्थ–जो पदार्थ देशकी अपेक्षा दूर हों वे देशविप्रकृष्ट कहे जाते हैं, कालकी अपेक्षा दूर कालविप्रकृष्ट और स्वभावकी अपेक्षा दूर स्वभावविप्रकृष्ट कहे जाते हैं। मेरु आदि पदार्थ देशविप्रकृष्ट हैं क्योंकि जहां ये पदार्थ विद्यमान हैं वह देश बहुत दूर है। राम लक्ष्मण आदि पदार्थ काल विप्रकृष्ट हैं क्योंकि इनको हुये बहुतकाल वीत गया और स्वभाव विप्रकृष्ट पदार्थ परमाणु है क्योंकि उसका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है। यदि यहांपर कोई ऐसी शंका करै कि आत्मा मेरु आदि पदार्थोंको देश आदिकी दूरीपनेके कारण न जान सकैगा इसलिये देश आदिकी दूरता भी समस्त पदार्थोंके जाननेमें प्रतिबंधक है उसका समाधान ग्रथकारने यहां यह किया है कि जिसप्रकार देशविप्रकर्ष आदिके रहते भी सूर्य पदार्थोंके प्रकाश करनेका काम करता ही है सदा उसका स्वभाव पदार्थोंके प्रकाश करनेका रहता है उसीप्रकार देश आदिकी दूरता रहनेपर भी ज्ञान समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जानता है उसै मेरु राम परमाणु आदि पदार्थोंके जाननेमें किसीप्रकारकी अड़चन नहिं होती। यदि कहोगे कि सूर्यके

देशविप्रकर्ष आदि प्रतिबंधकोंके निषेधमें जिसप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण हैं उसप्रकार समस्त पदार्थोंके ज्ञानमें देश आदिका विप्रकर्ष प्रतिबंधक नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? तब इसमें स्वानुभवप्रत्यक्ष ही प्रमाण कहना होगा । क्योंकि विद्वान लोग स्वानुभव प्रत्यक्षसे पूर्णतया इस बातको जान सकते हैं। यहांपर केवल ज्ञानकी अपेक्षा यह बात कही है क्योंकि मतिज्ञान आदिमें देशविप्रकर्ष आदि भी प्रतिबधक हो जाते हैं इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जिसप्रकार सूर्यको प्रकाश करनेमें प्रतिबंधक मेघपटल है देशविप्रकर्ष आदि नहीं उसीप्रकार आत्माके समस्त पदार्थोंके जाननेमें प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म है देशविप्रकर्ष आदि नहीं ॥ १२ ॥

सामान्यवद्विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः । ज्ञायते स च वा साक्षाद्विना विज्ञायते कथं ॥ १३ ॥
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च तथा ज्ञानस्वभावतः । नास्य ज्ञानस्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटं ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सामान्य पदार्थोंका स्वभाव ज्ञेय—ज्ञानका विषय होना है इसलिये उसका ज्ञान होता है उसीप्रकार विशेषोंका भी स्वभाव ज्ञेय है इसलिये उसका भी ज्ञान होता है परंतु उस स्वभावका ज्ञान विना प्रत्यक्षज्ञान-केवल ज्ञानके किसीप्रकार स्पष्ट नहिं हो सकता-केवलज्ञान ही उसै स्पष्टरूपसे जनानेवाला है तथा ज्ञानस्वभावसे ही आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है यदि इसै सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी न माना जायगा तो इसकी ज्ञानस्वभावता ही घटनी कठिन है । भावार्थ—पदार्थ दो प्रकारके हैं एक सामान्य दूसरे विशेष । घट कहनेसे सब घड़ोंका बोध होता है और पीत घट कहनेसे केवल पीले घडेका ही ज्ञान होता है इसलिये पीला घड़ा विशेष और शेष घट सामान्य हैं यद्यपि सामान्य रूपसे एक घडेके देखनेसे सब घडोंका स्वरूप जान सकते हैं परंतु यह पीला है यह बात किसी विशेष ज्ञानसे ही जानी जायगी । मेरु परमाणु रामचंद्र आदि पदार्थ भी विशेष हैं और इनका सिवाय विशेष ज्ञान केवलज्ञानके दूसरेसे स्पष्ट ज्ञान नहिं हो सकता इसलिये जिससमय हम इनके स्वरूपका ज्ञान करैंगे उससमय अवश्य केवलज्ञान स्वीकार करना पडेगा तथा यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसीलिये सबको जाननेवाला और सबको देखनेवाला यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता है यदि यह मेरु आदि विशेष पदार्थोंके स्वभावोंको न जानेगा तो यह कभी ज्ञानस्वभाव नहिं कहा जा सकता अत· यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञानस्वभाव होनेसे यह आत्मा सर्वज्ञ किं वा सर्वदर्शी है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेसे इसके के-

वल ज्ञान विद्यमान है केवलज्ञानसे यह सामान्य पदार्थोंके स्वरूपके समान विशेष पदार्थोंके स्वरूपको भी जानता है इसलिये मेरु परमाणु रामचंद्र आदिका भी अवश्य इसे स्पष्टतासे ज्ञान होता है-उनके ज्ञानमें किसी प्रकारका संदेह नहीं।

वेद्यायुर्नामगोत्राणि यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यानकुठारेण छित्वा गच्छति निर्वृतिं ॥ १५ ॥

अर्थ–जिससमय यह आत्मा केवलज्ञानको प्राप्त होकर केवली हो जाता है उससमय शुक्लध्यानरूपी कुठारसे इसके एकसाथ वेदनीय आयु नाम और गोत्र कर्म नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशसे यह मोक्षस्थानमें जा विराजता है। भावार्थ–पहिले ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मोंके आठ भेद बतला आये हैं उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं और वेदनीय आयु नाम और गोत्र अघातिया कर्म हैं। जिससमय इस आत्माके ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंका नाश होजाता है उससमय इसके केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और इसकी जीवन्मोक्ष संज्ञा पड़ जाती है पश्चात् शुक्लध्यानके माहात्म्यसे इसके वेदनीय आयु नाम और गोत्र कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तथा, इसप्रकार जब समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इसका शरीर भी नष्ट हो जाता है तब यह अनुपम निराकुलतामय सुखका आस्वादन करने लगता है और लोकके शिखरपर जा विराजता है इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है ॥ १५ ॥

कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्लध्याननियोगतः।
नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमंचितं ॥ १६ ॥

अर्थ–इस आत्माके शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश ही नहिं होता तथा मोक्ष भी किसीको प्राप्त नहिं होती यह वचन युक्त नहीं। भावार्थ–यदि कोई ऐसा प्रश्न कर बैठे कि शुक्लध्यानसे कर्मोंका नाश होना असंभव है और कर्मोंके नष्ट न होनेसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहिं होती तो उसका प्रश्न सर्वथा अयुक्त है क्योंकि शुक्लध्यानसे कर्मोंका नाश और मोक्षकी प्राप्ति अबाधित है अनुमान और आगम प्रमाणसे इसकी सिद्धिमें कोई बाधा नहिं आती ॥ १६ ॥

कर्मण्यपगमे रागद्वेषाद्यनुपपत्तितः।

आत्मनः संगरागाद्या न नित्यत्वेन संगताः ॥ १७ ॥

अर्थ—कर्मोंके नाश हो जानेपर राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति नहि होती। रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति न होनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाले परिग्रह राग आदि नहीं होते इसलिये परिग्रह राग द्वेष आदि सदा काल आत्माके साथ संबद्ध नहिं रहते । भावार्थ—जबतक आत्मा कर्मोंसे जिकड़ा हुआ संसारमें घूमता रहता है तवतक इसके राग द्वेष आदि हरएक अवस्थामें विद्यमान रहते हैं और उनसे सर्वदा रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति हुआ करती है किंतु जिससमय यह आत्मा समस्त कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देता है उससमय इसके राग द्वेष आदि नहिं होते क्योंकि राग द्वेष आदि मोहनीय आदि कर्मोंके विकार हैं ॥ १७ ॥

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिं ।
सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—जो आत्मा मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होकर निराकुलतामय सुखका अनुभव करचुका वह पुनः संसारमें लौटकर नहिं आता क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो सुखदायी स्थानको छोड़कर दुःखदायी स्थानमें आकर रहैगा ? भावार्थ—यह अनुभव सिद्ध बात है कि जहां जरा भी सुख मिलता है प्राणी वहीं जाकर रहता है और दुःखदायी स्थानकी ओर ताक कर भी नहिं देखता। मोक्ष एक ऐसा सुखदायी स्थान है जिसकी तुलना कोई भी स्थान नहिं कर सकता। जो जीव वहां पहुंच जाते हैं वे सदाकाल निराकुलतामय अनुपम आनंदका आस्वादन करते हैं इसलिये ऐसे अनुपम स्थानको छोड़कर कभी कोई जीव दुःखदायी स्थान संसारमें लोटकर नहिं आ सकता । यहांपर ग्रंथकारका ऐसा लिखना मोक्षस्थानकी सर्वोत्तमता प्रकट करता है वास्तवमें तो संसारके कारण कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे जीव पुन. संसारमें लोटकर नहिं आते क्योंकि विना कारणके कार्य नहिं होता ॥ १८ ॥

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्मव्यपायतः ।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥ १९ ॥

अर्थ—सिद्धात्मा शरीरके कारण कर्मके नष्ट हो जानेसे शरीरको भी ग्रहण नहि करता क्योंकि यह नियम है कि विना

कारणके कार्य कदापि नहिं हो सकता । भावार्थ–यदि कोई ऐसी शंका करै कि जो आत्मा संसारमें था वही मोक्षमें है इसलिये जैसा संसार अवस्थामें उसके शरीर था वैसा मोक्ष अवस्थामें भी उसे शरीर धारण करना चाहिये तो उसका समाधान यही है कि कर्मके नष्ट हो जानेसे मुक्तात्मा शरीर धारण नहिं करता क्योंकि यह नियम है कि विना कारणके कदापि कार्य नहिं हो सकता शरीरकी उत्पत्तिमें कारण नाम कर्म है वह सर्वथा नष्ट हो चुका इसलिये मुक्तात्माओंके शरीरकी उत्पत्ति नहिं हो सकती ॥ १९ ॥

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मंतव्यो मान्यबुद्धिभिः।
अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते ॥ २० ॥

अर्थ–जो पुरुष बुद्धिमान हैं उन्हें ज्ञानको जड़ प्रकृतिका धर्म नहिं स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ज्ञान चेतन पदार्थ है वह अचेतन प्रकृतिका धर्म कदापि नहि हो सकता। भावार्थ–सांख्य सिद्धांतमें मुख्यरूपसे प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ माने हैं उनमें तम रज और सत्त्वस्वरूप प्रकृति पदार्थको जड़ माना है और ज्ञानको प्रकृतिका विकार स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि ज्ञान चेतनस्वरूप है वह जड़ प्रकृतिका कभी विकार नहिं हो सकता इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानको प्रकृतिका धर्म और जड़ स्वीकार न कर आत्माका धर्म और चैतन्यस्वरूप मानें ॥ २० ॥

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति। कांचनस्य मले नष्टे कांचनत्वं न नश्यति॥२१॥
न ज्ञानादिगुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः। लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते ॥२२॥

अर्थ–जिसप्रकार मोक्षावस्थामें कर्म नष्ट हो जाते हैं उसप्रकार ज्ञान नष्ट नहि होता क्योंकि कीट कालिमा आदि मलके नाश हो जानेपर भी सुवर्णका सुवर्णपना नष्ट नहिं होता। यदि मोक्षावस्थामें ज्ञानादि गुणोंका भी अभाव मानलिया जायगा तो जीव ही व्यवस्थित न हो सकैगा क्योंकि लक्षण-गुणके नष्ट हो जानेपर लक्ष्य-गुणी पदार्थ स्थित नहिं रह सकता। भावार्थ–ऊपर बतला दिया जाचुका है कि अनेक सिद्धांतकारोंका यह भी सिद्धांत है कि मोक्ष अवस्थामें आत्मामें ज्ञान आदि गुणोंकी विद्यमानता नहिं रहती किंतु जिसप्रकार पाप-कर्म दूर हो जाते हैं उसीप्रकार ज्ञा-

नादि गुण भी मुक्तावस्थामें दूर हो जाते हैं परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि जिसप्रकार सुवर्णका सुवर्णपना स्वभाव होनेसे नष्ट नहिं होता उसीप्रकार ज्ञान आदि गुण भी आत्माके स्वभाव हैं इसलिये वे नष्ट नहिं होते। हां! जिसप्रकार सुवर्णके कीट कालिमा आदि नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे सुवर्णके स्वभाव नहीं उसीप्रकार कर्म मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्ममल भी आत्माके स्वभाव नहीं। यदि यही कहोगे मुक्तावस्थामें ज्ञान आदिका नाश हो ही जाता है! तब तो जीव भी कायम न रह सकैगा क्योंकि यह सामान्य नियम है कि लक्षणके अभावमें लक्ष्य कभी स्थिर नहिं रह सकता। आत्मा लक्ष्य है। ज्ञानादि गुण लक्षण हैं। यदि ज्ञानादि ही नष्ट हो जायगें तो आत्मा स्थिर न रहसकेगा-वह भी अवश्य नष्ट हो जायगा इसलिये जो मनुष्य यह मानते हैं कि आत्मा नित्य है उन्हें चाहिये कि वे उसके ज्ञान आदि गुणोंको भी नित्य मानैं और मोक्ष अवस्थामें उनकी अवश्य विद्यमानता स्वीकार करैं ॥ २२ ॥

विविधं बहुधा बंधं बुध्यमानो न मुच्यते। कर्मबद्धो विलोपायं गुप्तिबद्ध इव ध्रुवं ॥ २३ ॥
विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीवकर्मणोः। मुक्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥२४॥

अर्थ—जिसप्रकार कारागृह-कैदखानेमें पड़ा हुआ मनुष्य मै कैसे बंधा हूं इस बातको पूर्णरूपसे जानकर भी जबतक उससे मुक्त होनेका उपाय नहि करता तबतक मुक्त नहिं हो सकता उसीप्रकार कर्मोंसे बधा हुआ मनुष्य नानाप्रकारके बंधके स्वरूपको जानकर भी जबतक उससे छूटनेका उपाय नहिं करता तबतक छूट नहिं सकता परंतु जो पुरुष जीव और कर्मके लक्षणोंको भलेप्रकार पहिचान कर पूर्णरूपसे उन दोनोंके भेदको जानता है और कर्मोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होकर कर्मोंसे छूटनेका उपाय करता है वह कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। भावार्थ—कर्मबंधसे छूटनेमें उसका केवल ज्ञान ही कारण नहिं है किंतु ज्ञानके साथ उससे छूटनेका उपाय करना प्रधान कारण है क्योंकि यह स्पष्ट अनुभवमें आता है कि जिसप्रकार कैदखानेके अंदर पड़ा हुआ मनुष्य यद्यपि इसबातको जानता है कि बंध कैसे होता है परंतु जबतक उससे छूटनेका उपाय नहि करता तबतक छूटता नहीं,उसीप्रकार कर्मोंसे बंधा हुआ मनुष्य भी नानाप्रकारके बंधोंके स्वरूपको जानकर भी जबतक उससे छूटनेका उपाय नहिं करता तबतक कभी कर्मोंसे मुक्त नहि हो सकता किंतु जिससमय कैदखानेमें पड़ा हुआ मनुष्य उससे छूटनेका उपाय करता है उससमय जिसप्रकार उससे वह सर्वथा छूट जाता है उ-

सीप्रकार जो मनुष्य जीव और कर्मोंका उनके भिन्न २ लक्षणों द्वारा खुलासारूपसे भेद जानता है और शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यान में स्थिर होकर कर्मोंसे छूटनेका उपाय करता है वह अवश्य कर्मोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३–२४ ॥

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्धव्यपेक्षया ।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा ॥ २५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार व्यवहारी लोग एक ही सुवर्णको दो प्रकारका कह देते हैं उसीप्रकार यद्यपि जीव पदार्थ एक ही है परंतु शुद्ध अशुद्धकी अपेक्षा उसे भी दो प्रकारका कह देते हैं । भावार्थ–यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो सुवर्ण एक ही पदार्थ है परंतु व्यवहारनयसे कीट कालिमा आदिसे युक्त सुवर्णको अशुद्ध सुवर्ण और कीट कालिमा आदिसे रहित को शुद्ध सुवर्ण कहते हैं उसीप्रकार यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो आत्मा एक ही प्रकारका है किंतु व्यवहारनयसे कर्मयुक्त आत्माको अशुद्ध संसारी और कर्मरहित आत्माको शुद्ध-मुक्त आत्मा कह दिया जाता है ॥ २५ ॥

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः ।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धः पुनर्मतः ॥ २६ ॥

अर्थ–जो आत्मा कर्मोंसे युक्त है वह संसारी और जो कर्मोंसे रहित है वह मुक्त है तथा संसारीको अशुद्ध कहते हैं और मुक्त शुद्ध माना गया है । भावार्थ–ऊपरके श्लोकमें यह कहा गया है कि शुद्ध अशुद्धके भेदसे आत्मा दो प्रकारका है और इस श्लोकमें उसी आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका वर्णन किया है अर्थात् जो आत्मा कर्मसहित संसारी है वह अशुद्ध और जो कर्मरहित मुक्त है वह शुद्ध है ॥ २६ ॥

भवं वदंति संयोगं यतोऽत्रात्मतदन्ययोः ।
वियोगं तु भवाभावमपुनर्भाविकं ततः ॥ २७ ॥

अर्थ–कर्म और आत्माके संयोगको संसार कहते हैं और उनके वियोगका नाम संसाराभाव-मोक्ष है । भावार्थ–बहुतसे मनुष्योंका सिद्धांत है कि घरबारमें फसा रहना संसार और उससे जुदा होजाना मोक्ष है परंतु यह बात नही

जब तक आत्मा और कर्मका आपसमें संबंध रहता है तबतक संसार और जिससमय इन दोनोंकी आपसमें जुदाई हो जाती है वह मोक्ष है ॥ २७ ॥

निरस्तापरसंयोगः स्वस्वभावव्यवस्थितः। सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तस्तिमितोदधिसन्निभः ॥ २८ ॥
एकांतक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थो निरंजनः। निराबाधः सदानंदो मुक्तावात्मावतिष्ठते ॥ २९ ॥

अर्थ–मुक्तावस्थामें आत्मा परपदार्थके संयोगसे रहित, अपने निर्मलस्वभावमें विद्यमान, सर्व पदार्थोंकी उत्सुकतासे रहित, निश्चलसमुद्रके समान गंभीर, सर्वथा क्लेशोंसे रहित, कृतकृत्य, निरंजन, निराबाध, और सदा अनुपम आनदका भोगनेवाला हो जाता है। भावार्थ–आत्मा संसारमें तो परपदार्थोंसे संयुक्त स्वस्वभावमें स्थित न होकर परपदार्थोंमें स्थित, हर एक प्रकारकी उत्सुकतासे सहित, चंचल, दुःखित, एवं कृतकृत्यता निरंजनतासे रहित और अनेक बाधाओंसे युक्त रहता है परंतु मुक्तावस्थाके प्राप्त होने पर यह परपदार्थोंके संयोगसे रहित, निर्मल, स्वस्वभावमें स्थित, समस्त प्रकारकी उत्सुकतासे रहित, निश्चल, क्लेशोंसे रहित, कृतकृत्य, कर्मरूपी कालिमासे और बाधाओंसे निर्मुक्त हो जाता है एवं अनुपम आनंदका भोग करने लगता है ॥ २९ ॥

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकांतिकमनुत्तरं। आत्मगम्यं परंब्रह्म ब्रह्मविद्भिरुदाहृतं ॥ ३० ॥
अतोऽत्रैव महान्यत्नस्तत्त्वतः (स्य) प्रतिपत्तये। प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनं ॥ ३१ ॥

अर्थ–जो पुरुष ब्रह्मवेत्ता हैं-असली आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्होंने इस परंब्रह्मकी प्राप्ति ही ध्यानका मुख्य फल बतलाया है जो कि अद्वितीय सर्वोत्कृष्ट और केवल आत्माके गम्य है इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे व्यर्थके वाद जल्प आदिको छोड़कर वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये-इसी परंब्रह्मरूप फलकेलिये परिपूर्ण प्रयत्न करें। भावार्थ–परंब्रह्मका अर्थ पूर्वोक्त समस्तकर्मोंसे रहित शुद्ध आत्मा है और इसकी प्राप्ति ध्यानसे होती है यद्यपि ध्यानके और भी बहुतसे फल हैं परंतु परंब्रह्मकी प्राप्ति मुख्य फल है तथा वह अद्वितीय है-इसकी तुलना करनेवाला दूसरा कोई फल नहीं, सर्वोत्कृष्ट है और आत्मगम्य-आत्मासे जाना जाता है। इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे इसी फलकी प्राप्तिकेलिये सदा प्रयत्न करें जिससे उन्हें वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो किंतु व्यर्थ वाद विवादोंमें फसकर अपनी आत्माको न कष्ट होने दें ॥ ३०–३१ ॥

ऊचिरे ध्यानमार्गज्ञा ध्यानोद्धूतरजश्चयाः । भावि योगिहितायेदं ध्वांतदीपसमं वचः ॥ ३२ ॥
वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितं । नैव गच्छंति तत्त्वांतं गतेरिव विलंबितः ॥३३॥

अर्थ—जो महानुभाव ध्यान मार्गके भलेप्रकार जानकार हैं और ध्यानके द्वारा जिन्होंने समस्त पाप रज नष्ट करदिये हैं उन्होंने योगियोंके हितार्थ अंधकारको नाश करनेवाले दीपकके समान ये अग्रिम वचन कहे हैं कि जिसप्रकार जगह जगह विलंब करनेवाला मनुष्य मार्गको तय नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य वाद प्रतिवादमें उलझे रहते हैं वे नियमसे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त नहिं हो सकते । भावार्थ—जिसप्रकार कोई मनुष्य एक दिनमें बीस कोशकी मंजल करना चाहता है परंतु वह जगह २ ठहर २ कर चलनेके वा रास्ता छोड़ कुरास्ता चलनेके कारण अपने मार्गको तय नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य सर्वदा वाद विवादमें ही उलझा रहता है वह भी वास्तविक स्वरूपको नहिं पा सकता इसलिये ध्यानकी रीतियोंके भलेप्रकार जाननेवाले और ध्यानके द्वारा समस्त कर्म मलको नष्ट करनेवाले महात्माओंका योगियोंके लिये यह उपदेश है कि यदि वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना है तो व्यर्थ वाद विवादमें मत फंसो आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर उसकी प्राप्तिका उपाय करो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तथा—

विभक्तचेतनध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः ।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्गगमनं यथा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रमादरहित मनुष्यका उत्तममार्गसे चलना गतिमें प्रधान उपाय है उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्तिमें भी कर्ममलसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान मुख्य उपाय है । भावार्थ—जो मनुष्य प्रमादी—ठहर ठहर कर नहिं चलनेवाला है और उत्तम मार्गसे चलता है वह जिसप्रकार विना किसी कष्टके रास्ता तय करलेता है उसीप्रकार जो मनुष्य कर्मोंसे रहित केवल आत्माका ध्यान करनेवाला है वह शीघ्र मोक्षको प्राप्त करलेता है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें विशुद्ध आत्माका ध्यान प्रधान कारण है ॥ ३४ ॥

योज्यमानो यथा मंत्रो विषं घोरं निसूदते ।

तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितं ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार उत्तममंत्रके प्रयोगसे घोर भी विष नष्ट हो जाता है उसीप्रकार आत्मा भी अनेक भवोंसे उपार्जित कर्मोंको उपर्युक्तउत्तम उपायसे सर्वथा नष्ट करदेता है। अर्थात् भयंकर विषके नाशमें जिसप्रकार अनुपम कारण मंत्र है उसीप्रकार विपुल भी कर्मोंके नाशमें अनुपम कारण शुद्धात्मध्यान है ॥ ३५ ॥

चिंत्यं चिंतामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः ।
अविचिंत्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिंतितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—चिंतामणि रत्न चिंतित पदार्थोंको और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थोंको प्रदान करता है परंतु शुद्ध आत्माके ध्यानसे अचिंतित और असंकल्पित पदार्थकी प्राप्ति होती है । भावार्थ—संसारमें यद्यपि चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष भी अभीष्ट पदार्थोंको प्रदान करते हैं परंतु जो पदार्थ शुद्ध आत्माकी भावनासे प्राप्त होता है उसके समान पदार्थोंको वे नहिं दे सकते क्योंकि यदि चिंतामणि रत्नकी आराधनाकी जायगी तो वह चिंतित पुत्र आदि अनित्य पदार्थ और यदि कल्प वृक्षकी आराधनाकी जायगी तो वह भी कल्पित भोजन आदि अनित्य पदार्थ दे सकता है परंतु शुद्ध आत्माके आराधनसे अनुपम निराकुलतामय आनद प्रदान करनेवाला नित्य मोक्षसुख प्राप्त होता है जोकि अचिंत्य-जिसकी उत्कृष्टताका स्वप्नमें भी विचार नहि हो सकता और असंकल्प्य-अर्थात् जिसकी उत्तमताकी कल्पना ही नहिं हो सकती ऐसा है इसलिये शुद्ध आत्माका ध्यान चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्षोंसे भी उत्कृष्ट पदार्थ है ॥ ३६ ॥

जन्ममृत्युजरारोगा हन्यंते येन दुर्जयाः ।
मनोभूहनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह आत्मध्यान जब जन्म मरण और बुढ़ापा रूप रोगोंका नाश करनेवाला है तब इसे कामदेवके नाश करनेमें कोई अड़चन नहि हो सकती । भावार्थ—आत्मध्यान इतना बलवान पदार्थ है कि इससे जन्म मरण बुढ़ापा और कामदेव समस्त बातें नष्ट हो जाती हैं इसलिये शुद्धात्मध्यान परम हितकारी है ॥ ३७ ॥

मुक्त्वा वादप्रवादाद्यमध्यात्मं चिंत्यतां ततः ।

नाविधूते तमस्तोमे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

अर्थ—इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे वाद प्रवाद आदिको छोड़कर आत्मसंबंधी विचार करैं क्योंकि जबतक अंधकारका नाश नही होता तबतक ज्ञान ज्ञेयको प्रकाशित नही कर सकता । भावार्थ—जबतक अंधकार विद्यमान रहता है तबतक पदार्थोंका स्पष्टरूपसे प्रकाश नहिं होता किंतु जिससमय वह नष्ट हो जाता है उससमय सब पदार्थ स्पष्टरूपसे दीख निकलते हैं। शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानमें वाद प्रवाद आदि अंधकार स्वरूप हैं इसलिये जबतक वाद प्रवाद हुआ करते हैं तबतक शुद्धात्मज्ञान नहिं होता किंतु जिससमय वाद प्रतिवाद करने छोड़ दिये जाते हैं उससमय शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है इसलिये जो मनुष्य शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानके अभिलाषी हैं उन्हें वाद प्रतिवाद करना सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥ ३८ ॥

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः । सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः ॥ ३९ ॥

नाध्यात्मचिंतनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते । दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः ४० ॥

अर्थ—उपेय-प्राप्त करने योग्य मोक्ष पदार्थकी प्राप्ति उत्तम निर्दोष उपायसे होती है इसलिये विद्वानोंको उत्तम उपायमें अत्यंत आदर करना चाहिये एवं वह उत्तम उपाय अध्यात्मध्यान है परंतु जो जीव मोहरूपी सर्पसे कदर्थित हैं-मूढ़ हैं उन्हें उस उपायकी प्राप्ति होना दुर्लभ है-कठिनतासे वे उस उपायको प्राप्त कर सकते हैं। भावार्थ—ऊपर कह दिया जा चुका है कि विना उत्तम उपायके उपेय-मोक्षकी प्राप्ति नहि हो सकती और वह उत्तम उपाय शुद्ध आत्माका ध्यान है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे बड़े उत्साह और आनंदसे विशुद्ध आत्माका ध्यान करै तथा मोहको सर्वथा छोड़दें क्योंकि मोही जीव विशुद्ध आत्माके ध्यानके अधिकारी नहीं ॥४०॥

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनं ।

जनपदात्ययः षोढा सामग्रीयं वहिर्भवा ॥ ४१ ॥

अर्थ—उत्साह निश्चय धैर्य संतोष तत्त्वदर्शन और एकांतस्थान ये छै मोक्षकी प्राप्तिमें वाह्य कारण हैं जबतक इनका आश्रय नहिं किया जायगा तबतक कभी मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती । भावार्थ—कारणके दो भेद हैं एक अंतरंग दूसरा

वाह्य । मोक्षकी प्राप्तिमें अंतरंग कारण शुद्ध आत्माका ध्यान है। और वाह्य कारण उत्साह निश्चय धीरता संतोष तत्त्वोंका श्रद्धान और एकांत स्थान है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें मोक्षकी प्राप्तिमें उत्साह, पदार्थोंका पूर्ण निश्चय, धीरता, संतोष, तत्त्वोंका श्रद्धान और एकांतस्थानका आश्रय अवश्य करना चाहिये ॥ ४१ ॥

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनं ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिस आत्माकी बुद्धि आगम अनुमान और ध्यानाभ्यासके रससे विशुद्ध है वही पवित्रध्यान कर सकता है भावार्थ--जो महात्मा पूर्ण शास्त्रका वेत्ता है अच्छीतरह तर्क वितर्क करना जानता है और जिसे ध्यानके अभ्यासमें अतिशय आनंद मालूम पड़ता है वही यथार्थ पवित्र ध्यानको प्राप्त हो सकता है अन्य नहीं ॥ ४२ ॥

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलं ।
अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥ ४३ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं उन्होंने आत्मध्यानमें प्रेम होना विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल बतलाया है और आत्मध्यानमें प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रोंको पढ़लेना संसार कहा है । भावार्थ–बहुतसे मनुष्य अनेक शास्त्रोंको पढ़लेनेसे ही अपनेको विद्वान मान लेते हैं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानमें प्रेम नहिं होता तबतक शास्त्रोंका पढ़ना अकार्यकारी है इसलिये जो पुरुष वास्तविक विद्वान हैं उन्होंने विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल आत्मध्यानमें प्रेम होना बतलाया है और केवल अनेक शास्त्रोंके पढ़लेनेको संसार कहा है क्योंकि आत्मध्यानसे रहित होनेपर केवल शास्त्रोंके अक्षराभ्याससे अभिमान आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं उनसे वाद प्रतिवाद और वाद प्रतिवादसे कर्मोंका संयोग होता है तथा कर्मोंके संयोगको ही संसार कहा गया है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शास्त्र पढ़कर आत्मध्यानमें प्रेम करें ॥ ४३ ॥

संसारः पुत्रदारादिः पुंसां संमूढचेतसां ।

संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनां ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो पुरुष अज्ञानी हैं–वास्तविकरूपसे हित अहितको नहिं पहिचानते उनका पुत्र स्त्री आदि ही संसार है किंतु जो विद्वान हैं-शास्त्रोंका अक्षराभ्यास तो कर चुके हैं परंतु आत्मध्यानसे शून्य हैं उनका संसार शास्त्र है। भावार्थ-सर्वत्र पुत्र स्त्री आदिके संबंधको संसार बतलाया है शास्त्रको कहीं संसार नहिं कहा इसलिये शंका होती है कि शास्त्र संसार कैसे है ? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं उनका संसार तो वास्तवमें पुत्र स्त्री आदिका संयोग ही है और जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन तो किया है परंतु उससे उसके मुख्य फल शुद्धात्मध्यानमें जिन्हें प्रेम न हुआ है तो वह उनकेलिये संसार ही है क्योंकि आत्मध्यानमें प्रेम न होनेसे मुक्ति न होकर संसारमें ही रुलना पड़ता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सद्ध्यानकृषेरंतः प्रवर्ततेऽल्पमेधसः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जो पुरुष अल्पज्ञानी हैं वे कर्मभूमियोंके अंदर ज्ञानके बीजभूत मनुष्यभवको प्राप्त होकर भी उत्तम ध्यानरूपी खेतीके अंदर प्रवृत्त नहि होते। भावार्थ–जिसप्रकार अज्ञानी किसान उत्तम बीज और उत्तम जमीनको पाकर भी उत्तम खेती नहिं करसकता उसीप्रकार जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे ज्ञानकी प्राप्तिके प्रधान कारण कर्मभूमिमें मनुष्य भवको पाकर भी उत्तम ध्यान नहिं कर सकते ॥ ४५ ॥

वडिशामिषवच्छेदो दारुणो भोगशर्मणि ।
सक्तास्त्यजंति सद्ध्यानं धिगहो मोहतामसं ॥ ४६ ॥

अर्थ–वडिश (मछलियोंके पकड़नेके कांटे) पर लगे हुये मांसके समान भोगसुखका छूटना अत्यंत कठिन है इसलिये विषयभोगोंमें आसक्त हुये मनुष्य उत्तम ध्यानका आराधन करना छोड़देते हैं अतः मोहरूपी अंधकारके लिये धिकार है। भावार्थ–मांसके लोलुपी मनुष्य मछलियोंके पकड़नेके लिये नदी आदिमें कांटा डालते हैं और उसके मुंहपर कुछ मांस लगादेते हैं। मछलियां विचारीं मांसके लोभसे उसके पास आती हैं और मांस न खाकर उसमें फसकर

अपनी जान न्योछावर कर देती हैं इसलिये जिसप्रकार कांटे पर लगा हुआ मांसका काटना मच्छियोंकेलिये अत्यंत कठिन है उसीप्रकार भोग सुखका छूटना भी भोगियोंकेलिये दुस्साध्य है अतएव भोगोंमें आसक्त मनुष्य उत्तम ध्यानका आराधन नहिं करते इसलिये मोहरूपी अंधकारकेलिये धिकार है ॥ ४६ ॥

आत्मतत्त्वमचिन्वाना विपर्यासपरायणाः । हिताहितविवेकांधाः खिद्यंते सांप्रतेक्षणाः ॥ ४७ ॥
आधिव्याधिजराजातिमृत्युशोकाद्युपद्रवं । पश्यंतोऽपि भवं भीमं नोद्विजंतेऽत्र मोहिनः ॥४८॥

अर्थ--जो पुरुष आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शून्य हैं, पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान करनेवाले, हित अहितके विवेकसे रहित और मोहसे मूढ़ हैं वे आधि--मानसिक पीड़ा, व्याधि बुढ़ापा जन्म मरण शोक आदि उपद्रवोंसे व्याप्त और भयंकर संसारके स्वरूपको देखते भी खिन्न होते रहते हैं परंतु मोहकी प्रबलतासे विरक्त नहिं होते। भावार्थ--मोही मनुष्य संसारके चरित्रको-आधि व्याधि आदि जन्य उपद्रवोंको देखते और उनसे उत्पन्न हुये दुःखोंको भोगकर खिन्न तो होते रहते हैं परंतु वे आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शून्य हैं, पदार्थका विपरीत स्वरूप समझनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, कौन पदार्थ हितकारी है और कौन अहितकारी है इसबातका उन्हें पूर्णरूपसे ज्ञान नहीं है और मोहसे मूढ़ हैं इसलिये संसारसे भयभीत हो स्वस्वरूपके ध्यानकी ओर ऋजु नहिं होते ॥ ४७-४८ ॥

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमंजसा ।
अशर्म शर्म मन्यंते कच्छूकंडूयका इव ॥ ४९ ॥

अर्थ--जो मनुष्य दुर्बुद्धि हैं वे दादके खुजानेवाले मनुष्योंके समान कुकर्मको सुकर्म, सुकर्मको कुकर्म और अकल्याणको कल्याण मानते हैं। भावार्थ--जिसप्रकार दद्रुरोगसे पीडित मनुष्य जिससमय उसकी खाजसे व्याकुल होता है उससमय वह यह नहि समझता कि दादका खुजाना अच्छा काम है या बुरा किं वा इसके खुजानेसे अंतमें मुझे सुख होगा या दुःख? किंतु धड़ाधड़ उसे खुजाता ही चला जाता है उसीप्रकार जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं मोहके मजबूत जालमें जिकडे हुये हैं वे भी यह नहिं समझते कि कौनसा बुरा कार्य है और कौनसा अच्छा अथवा किससे हमैं सुख मिल सकता है और किससे नहीं? किंतु वे परिपाकको विना विचारे ही तत्कालीन सुखको देखकर कुकर्म आदिको सुकर्म आदि मान करते ही चले जाते है इसलिये उन्हैं अंतमें अवश्य दुःख भोगना पडता हैं ॥ ४९ ॥

क्षारांभस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृतयोगतः ।
प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्षेत्रमें पड़ा हुआ बीज खारी जलसे रहित मिष्ट जलके संयोगसे उत्तम और मिष्ट उगता है उसीप्रकार सुतत्त्वोंके श्रवणसे उत्तम ध्यानका भी उदय होता है। भावार्थ—जिसप्रकार क्षेत्रमें खारी जलसे सींचागया बीज हीन और मिष्टजलसे सींचागया मधुररूपसे फलता है किंतु यह नहिं हो सकता कि सींचा जाय खारी जलसे और हो मधुर किंवा सींचा जाय मधुर जलसे और हो खारी उसीप्रकार कुतत्त्वोंके श्रवणसे निकृष्टध्यान और उत्तमतत्त्वोंके श्रवणसे उत्तमध्यान प्राप्त होता है किंतु यह नहीं कि कुतत्त्वोंके सुननेसे उत्तमध्यान और उत्तम तत्त्वोंके सुननेसे निकृष्ट ध्यान उदित हो ॥ ५० ॥ इसलिये—

क्षारांभःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोगशेमुषी ।
मधुरांभोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं-असली आत्मस्वरूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे भोगोंकी ओर झुकी हुई बुद्धिको खारीजलके समान सदाकेलिये छोड़ दें और बड़े यत्नसे मधुर जलके समान तत्त्वोंका श्रवण करें। अर्थात् भोगोंकी ओर बुद्धिके झुकावसे निकृष्ट फल उत्पन्न होगा और तत्त्व श्रवणसे कल्याणकी प्राप्ति होगी इसलिये विद्वानोंको बड़े प्रयत्नसे तत्त्वोंका श्रवण करना चाहिये ॥ ५१ ॥

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्। कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा ॥ ५२ ॥
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकांक्षिणां। आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके ॥५३॥

अर्थ—मानसिक व्याधिस्वरूप कुतर्क ध्यानका शत्रुहै तथा वह ज्ञानको ढकनेवाला, शांतिका नाशक, श्रद्धाका भंग करनेवाला और अभिमानको उत्पन्न करनेवाला होनेके कारण अनेकप्रकारका है इसलिये जो पुरुष मोक्ष लक्ष्मीके अभिलाषी हैं उन्हें कुतत्त्वमें किसीप्रकारका आग्रह न करना चाहिये किंतु आत्मस्वरूपके समझनेमें उन्हें प्रयत्न करना चाहिये

क्योंकि आत्मस्वरूपमें किया हुआ आग्रह मोक्षरूपी अनुपम महलमें प्रवेश करानेवाला है-आत्मस्वरूपके ज्ञानसे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ--ऊपर कह दिया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिमें उत्तमध्यान असाधारण कारण है-जबतक उत्तम ध्यानका आश्रय नहिं किया जाता तबतक कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती परंतु जबतक कुतर्कोंके अंदर बुद्धि फसी रहती है तबतक ध्यान नहिं हो सकता क्योंकि यह कुतर्क वास्तविक ज्ञानका रोकनेवाला है-पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहिं होने देता, शांतिका भंग करनेवाला है-यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुतर्की मनुष्यके हृदयमें जरा भी शातिका भाव नहिं रहता, श्रद्धाभंग करनेवाला है-कुतर्की मनुष्यको किसी पदार्थमें श्रद्धा नहि होती, अभिमानका करनेवाला है जो मनुष्य कुतर्की होते हैं वे अपनेको प्रबल विद्वान समझकर सदा अभिमानकी चोटीपर सवार रहते हैं इसलिये वह ध्यानका प्रतिबंधक है-अज्ञान वा अशांति आदिके होनेसे कभी आत्मध्यान नहिं हो सकता इसलिये जो पुरुष ध्यानका आराधनकर अनुपम स्थान निर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वथा कुतर्क करना छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपके ध्यानमें आग्रह रखना चाहिये क्योंकि आत्मध्यानका आग्रह मोक्षरूपी शातिमय स्थानमें लेजानेकेलिये उत्तम सोपान है-आत्मध्यानी मनुष्य अवश्य निराकुलतामय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ५२–५३ ॥

विविक्तमिति चेतनं परमशुद्धबुद्धाशया विचिंत्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदं ।
निरंतरमपुनर्भवं सुखमतींद्रियं स्वात्मजं समेत्य हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते ॥ ५४ ॥

अर्थ–जो महानुभाव परम शुद्ध एवं प्रबुद्ध चित्तके धारक हैं और आत्मस्वरूपके ध्यानमें पूर्ण आदर रखनेवाले हैं वे ऊपर कहे अनुसार कर्ममलसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यानकर संसारका जो अनेक दुःखोंका स्थान है सर्वथा त्याग करदेते हैं और मोक्ष स्थानमें जा निवास करते हैं जो निरंतर-अविनाशी है, अपुनर्भव-जहांसे फिर लोटना नहिं होता है, अतींद्रिय सुखस्वरूप है, स्वात्मज-अपनी आत्मासे उत्पन्न होनेवाला है, समस्त कालिमाओंसे रहित है और अनुपम है। भावार्थ--ऊपर कह दिया गया है कि मोक्ष अविनाशी अतींद्रिय सुखका भंडार, आत्मासे जायमान, कर्मोंसे रहित, अनुपम और अपुनर्भव अर्थात् जहांसे फिर लोटना नहिं होता ऐसा पदार्थ है तथा उसकी प्राप्ति अनेक दुःखोंके भंडार संसारके नाश हो जानेपर होती है और संसारका नाश कर्मरहित विशुद्ध आत्माके ध्यानसे होता है इसलिये जो पुरुष उप-

युक्त अविनाशी आदि स्वरूपके धारक मोक्षको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें विशुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये जिससे उनका संसार नष्ट हो और उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ५४ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रथमें मोक्षाधिकार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

विमुच्य विविधारंभं पारतंत्र्यकरं गृहं । मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिंगं पटीयसा ॥ १ ॥
सोपयोगमनारंभं लुंचितश्मश्रुमस्तकं । निरस्ततनुसंस्कारं सदा संगविवर्जितं ॥ २ ॥
निराकृतपरापेक्षं निर्विकारमयाचनं । जातरूपधरं लिंगं जैनं निर्वृतिकारणं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं-संसारके चरित्रके वास्तविक जानकार हो चुके हैं और मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें समस्त प्रकारके आरंभोंका और पराधीनता करनेवाले घरका सर्वथा त्यागकर जिनलिंग-दिगंबरलिंग धारण करना चाहिये क्योंकि वह लिंग ज्ञान दर्शन पूर्वक है, सर्वप्रकारके आरंभोंसे रहित है, उसमें डाढी मूंछ और मस्तकके बालोंका लोच किया जाता है, किसीप्रकारसे शरीरका संस्कार नहि किया जाता, समस्त परिग्रहोंका त्याग रहता है, द्रव्य आदि परपदार्थोंकी जरा भी अभिलाषा नहिं रहती, विकार और याचक वृत्तिका भी नाश रहता है, नग्न मुद्रा रहती है और जो मोक्षका कारण कहा गया है । भावार्थ—जो लिंग अज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहां अनेक प्रकारके आरंभ, बडी २ जटा और मूंछ डाढीका रखना, शरीरका संस्कार, अनेक प्रकारके परिग्रहोंका धारण, द्रव्य आदिकी अपेक्षा, इंद्रियोंके विकार, याचक वृत्ति और नग्नता न होकर वस्त्र आदिका संबंध रहता है वह लिंग मोक्षका कारण नहीं किंतु उसके धारणकरनेमें हिंसा राग द्वेष क्रोध आदि दुर्भावोंकी मोजूदगी रहती है इसलिये उससे संसारमें रुलना पड़ता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु जो लिंग ज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहांपर आरंभका त्याग, डाढ़ी मूछ और मस्तकके केशोंका लोच, शरीर संस्कार और परिग्रहका त्याग, द्रव्य आदि परपदार्थोंकी उपेक्षा, विकार और याचना वृत्तिका अभाव एवं नग्नता रहती है वह लिंग मोक्षका कारण है अर्थात् ऐसे निर्दोष लिंगके धारण करनेसे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये जो मनुष्य भलेप्रकार स्वस्वरूपके जानकार हैं और अनुपम निराकुलतामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त प्रकारके आरंभोंका त्याग करें और

पराधीनताके कारण गृहवासको छोड़दें क्योंकि आरंभमें प्रवृत्ति रखना और घरबार स्त्री पुत्र आदिमें ममत्व करना जिनलिंगमें बाधक है अर्थात् जबतक आरंभ और घर आदिमें ममता बनी रहती है तबतक कभी जिनलिंग नहि धारण किया जा सकता ॥ १–३ ॥

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरं । इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेंद्रियं ॥ ४ ॥
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्राविभूषितः । जायते श्रमणोऽसंगो विधाय व्रतसंग्रहं ॥ ५ ॥

अर्थ–जो गुरु 'न मैं किसीका हूं और न कोई परपदार्थ मेरा है, इसप्रकारके आकिंचन्य धर्मसे युक्त हैं, कषायों'-से रहित और इंद्रियोंका विजयी है ऐसे गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कारकर जो महानुभाव जिनमुद्राको धारण करता है, समस्त प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और महाव्रतोंका आचरण करता है वह महात्मा मुनि होता है । भावार्थ–जो गुरु परपदार्थोंको अपना और अपनेको परपदार्थोंका मानते हैं, कषायी है, इंद्रियोंके आधीन हैं, वे गुरु नहीं-कुगुरु हैं और उनकी सेवासे कभी कल्याण नहिं हो सकता । किंतु जो यह विचार कर कि 'न हम किसीके हैं और न कोई अन्य पदार्थ हमारा है, पक्के आकिंचन्य धर्मके पालक हैं' जिनके पास क्रोध आदि कषाय फटकने तक नहिं पाते और जो स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंको वश करनेवाले हैं वे ही वास्तविक गुरु हैं और उन्हींकी सेवासे कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिये जो महानुभाव ऐसे परम पावन गुरुओंको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मुनिमुद्राको धारण करते हैं समस्त प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और अहिंसा आदि पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं वे मुनि होते हैं ॥ ४–५ ॥

महाव्रतसमित्यक्षरोधाः स्युः पंच चैकशः । परमावश्यकं षोढा लोचोऽस्नानमचेलता ॥ ६ ॥
अदंतधावनं भूमिशयनं स्थितिभोजनं । एकभक्तं च संत्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ–पांच महाव्रत, पांच प्रकारकी समितियां, पांचप्रकारकी इंद्रियोंका निरोध, छै आवश्यक, केशलोंच, स्नानका अभाव, नग्नता, दातोंका न धोना, भूमिपर सोना, स्थितिभोजन, और दिनमें एकबार आहारका लेना ये अठाईस मुनियोंके मूल गुण हैं इसलिये मुनियोंको अवश्य इनका पालन करना चाहिये । भावार्थ–अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह ये पाच महाव्रत हैं, ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं । स्पर्शन

रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांच इंद्रियोंका निरोध पांच प्रकारका इंद्रियनिरोध है स्वाध्याय प्रतिक्रमण आदि छै आवश्यक हैं, केशोंका उपारकर फैकना केशलोंच, कभी भी स्नान न करना अस्नान, दिगंबर मुद्राका धारण करना अचेलता, दांतोंका कभी न धोना, भूमिपर सोना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एकवार अहारका लेना ये अट्ठाईस मूल गुण मुनियोंके पालनेके हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे अवश्य इन मूलगुणोंका पालन करैं॥ ६–७ ॥

निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता ।
सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ॥ ८ ॥

अर्थ–योगीको सदा उपर्युक्त मूलगुण प्रमादरहित होकर पालने चाहिये क्योंकि जो यति मूलगुणोंके पालनेमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थक यति हो जाता है । भावार्थ–प्रमादसे चारित्रके पालनमें हीनता आजानेपर दिन पक्ष मास वा वर्षपर्यंत आदि की दीक्षाका छेद करदेना छेद है तथा छेदपूर्ण हो जानेपर फिरसे नई दीक्षा देना उपस्थापना है जो मुनि प्रमादपूर्वक मूलगुणोंका पालन करता है वह छेदोपस्थापक नामका मुनि कहा जाता है अर्थात् प्रमादसे मूलगुणोंके पालनेमें दोष आजानेके कारण आचार्य उस मुनिकी दिन मास वा वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद करदेते हैं पश्चात् अवधिके समाप्त होजानेपर फिरसे दीक्षा देते हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये वे छेदोपस्थापनाके भयसे प्रमादरहित होकर मूलगुणोंका पालन करै ॥ ८ ॥

प्रव्रज्यादायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते ।
निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ॥ ९ ॥

अर्थ–जो मुनि इतर मुनियोंको दीक्षा प्रदान करता है वह आचार्य कहा जाता है और शेष मुनि छेदोपस्थापक कहे जाते हैं । भावार्थ–जिसप्रकार प्रजाका नायक राजा होता है उसीप्रकार मुनियोंके संघका भी एक नायक होता है उसै आचार्यके नामसे पुकारते हैं तथा मुनियोंको दीक्षा देना उसका काम रहता है अर्थात् जो मुनियोंको दीक्षा दे वह आचार्य कहा जाता है और उसकी आज्ञानुसार प्रवर्तनेवाले अन्य मुनि छेदोपस्थापक नामके मुनि कहे जाते हैं॥९॥

प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्रं कायचेष्टया ।

यदि छेदस्तदा कार्या क्रियालोचनपूर्विका ॥ १० ॥

अर्थ–उग्र भी चारित्रके आचरण करनेवाले साधुके यदि किसी शरीरकी चेष्टासे छेद हो जाय दिन मास वा वर्ष आदिकी दीक्षा कम करदी जाय तो उसको आलोचनापूर्वक क्रियायें करना चाहिये। भावार्थ–अशुभ कर्म बड़ा बलवान है इसलिये प्रकृष्ट भी चारित्रको आचरण करनेवाले साधुको किसी कायकी चेष्टाके अपराधसे एक दिन पक्ष मास वा वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद हो जाता है अर्थात् जिसकी एक वर्षकी दीक्षाका छेद हुआ है उसे आचार्यकी आज्ञानुसार दश वर्षके दीक्षित साधुओंके मध्यसे निकलकर नौ वर्षके दीक्षित साधुओंमें संमिलित होना पड़ता है और जिसकी दो वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद हुआ है उसे आठ वर्ष आदिके दीक्षित आदि साधुओंके मध्यमें रहना पड़ता है इसलिये छेदयुक्त मुनियोंके लिये यह भगवान सर्वज्ञकी आज्ञा है कि जिससमय दीक्षाका छेद हो जाय उससमय वे घोर तप तपकर उस कलंकको दूरकरें और किसी प्रकार खिन्न होकर अनुत्साहित न हों ॥ १० ॥

आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः।
दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा ॥ ११ ॥

अर्थ–उस छेदयुक्त साधुको पूर्णरूपसे व्यवहारको जाननेवाले किसी आचार्यके सन्मुख जाकर सत्यतापूर्वक अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये और जो वह छेद (प्रायश्चित्त) दे उसे पूर्णरूपसे पालना चाहिये। भावार्थ–किसी साधुके वर्ष वा दो वर्षआदिकी दीक्षाके छेदके योग्य अपराध हो जाय तो उसे चुपचाप अपने मनमें रखकर छिपा न लेना चाहिये किंतु पूर्णरूपसे व्यवहार नयको जाननेवाले आचार्यके सन्मुख उपस्थित होकर अपने दोषकी आलोचना (खुलासा रूपसे प्रकट करना) करनी चाहिये और जो वह वर्ष दो वर्षआदिकी दीक्षाके छेदका प्रायश्चित्त दे उसे उत्साहके साथ पालन करना चाहिये ॥ ११ ॥

भूत्वा निराकृतच्छेदश्चारित्रचरणोद्यतः।
मुंचमानो निबंधानि यतिर्विहरतां सदा ॥ १२ ॥

अर्थ–जिससमय उस साधुका छेदप्रायश्चित्त पूर्ण हो जाय उससमय उसे निर्दोष चारित्रके आचरणमें उद्यत

होकर दुराग्रहोंका सर्वथा त्यागकर सदा पृथ्वीपर विहार करना चाहिये। भावार्थ—जबतक छेद प्रायश्चित्त पूरा न हो सकै तवतक साधुको पृथ्वीपर एकाकी विहार करनेका अधिकार नहीं किंतु जिससमय उसका प्रायश्चित्त पूरा होजाय तथा निर्दोष चारित्रका आचरण और दुराग्रहोंका नाश हो जाय उससमय उस साधुको गुरुकी आज्ञानुसार निर्दोषरूपसे विहार करना चाहिये ॥ १२ ॥

शुद्धरत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च ।
विधत्ते सर्वदा पूर्ण श्रामण्यं तस्य जायते ॥ १३ ॥

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयका धारक है और उर्युपक्त मूल गुणोंको बडे प्रयत्नसे सदा पालता है उसके मुनिपना प्रकट होता है-वह श्रमण-मुनि कहा जाता है। भावार्थ-शुद्ध सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयका धारण करना और मूलगुणोंके पालनमें पूर्ण प्रयत्न करना श्रमणता-मुनिपना है जबतक यह न होगा तबतक कभी मुनिपना नहि हो सकता इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे शुद्धरत्नत्रयके धारक बनें और पूर्णरूपसे मूलगुणोंका पालन करें ॥ १३ ॥

उपधौ वसतौ संघे विहारे भोजने जने ।
प्रतिबंधं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो महानुभाव ममतारहित हो चुका है वह परिग्रह वासस्थान मुनि आदिका संघ विहार भोजन और जनसमुदायमें ममत्व नहिं करता। भावार्थ—जबतक जीव ममतामें फसा रहता है तबतक वह परिग्रह वासस्थान संघ विहार आहार और जनसमुदाय आदिको अपना पराया मानकर उनमें रागद्वेष किया करता है किंतु जिससमय उसकी ममता छुटजाती है उससमय वह परिग्रह आदि किसी पदार्थमें ममत्व नहिं करता सदा शुद्ध परमात्मामें लो लगाता है ॥१४॥

अशने शयने स्थाने गमे चंक्रमणे ग्रहे ।
प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सांतातिकीरिता ॥ १५ ॥

अर्थ—जो साधु प्रमादी हैं-प्रमादपूर्वक क्रियाओंका आचरण करते हैं उनके खाने, सोने, बैठने, चलने, हाथ पैरके पसारने और ग्रहण करने आदि सभी कार्योंमें सदा हिंसा होती रहती है और उससे संसारमें घूमना पड़ता है ।

भावार्थ—हिंसामें प्रधान करण प्रमादका योग है इसलिये विकथा वा कषाय आदि प्रमादोंके अभावमें हिंसा नहि होती। जो मुनि प्रमादरहित हैं वे भोजन शयन आदि समस्त कार्य करते भी हैं तथापि उनके हिंसा नहिं होती किंतु प्रमादी साधु भोजन शयन आदि कुछ भी कार्य क्यों न करै सदा उनके हिंसा होती ही रहती है इसलिये मुनियोंको हिंसाके कारण प्रमादका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥ १५ ॥

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः।
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय ज्वरिणे घृतं ॥ १६ ॥

अर्थ—जिसप्रकार ज्वररहित पुरुषको घी सुखकारी और ज्वरग्रस्तको दुःखकारी होता है उसीप्रकार जो मुनि यत्नाचारी हैं उनकेलिये उपर्युक्त शयन भोजन आदि सुखकारी होते हैं और जो प्रमादी हैं उन्हें शयन आदिसे दुःख भोगना पड़ता है। भावार्थ—यह एक साधारण बात है कि जो पदार्थ एकको गुणकारी होता है वही दूसरेको अपगुण करनेवाला हो जाता है। घृत एकही पदार्थ है परंतु वह ज्वररहितको सुखकारी और ज्वरसहितको दुःखकारी हो जाता है उसीप्रकार शयन आसन आदिभी क्रियायें समान हैं परंतु अप्रमादीकेलिये वे सुखकारी और प्रमादीकेलिये दुःखकारी होती हैं अर्थात् प्रमादपूर्वक भोजन शयन आदिसे हिंसा होती है, हिंसासे दुष्कर्मोंका बंध, बंधसे संसारमें रुलना और संसारमें रुलनेसे अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं एवं प्रमादरहित यत्नाचारी होकर शास्त्रोक्त अशन आदि करनेसे तपकी वृद्धि, तपकी वृद्धिसे कर्मोंका नाश और कर्मोंके नाशसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं परपीड़के।
कज्जलं मलिनं दीपे सप्रकाशेऽपि तापके ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रकाशयुक्त होनेपर भी संतापके देनेवाले दीपकमें मलिन कज्जलका संबंध रहता है उसीप्रकार ज्ञानवान होनेपर भी यदि कोई पुरुष परको पीड़ा देनेवाला है तो उसके भी मलिन चारित्रकी विद्यमानता रहती है। भावार्थ—प्रकाशयुक्त होनेपर भी संतापके देनेवाले दीपकमें जिसप्रकार मलिन कज्जलकी विद्यमानता रहती है उसीप्रकार ज्ञानवान होनेपर भी दूसरोंको संताप देनेवालेके मलिन चारित्रकी मोजूदगी रहती है इसलिये जो परको पीड़ा न पहुंचानेवाला ज्ञानवान है उसके मलिन चारित्र विद्यमान न रहकर निर्मल चारित्र होता है ॥ १७ ॥

भवाभिनंदिनः केचित्संति संज्ञावशीकृताः ।
कुर्वतोऽपि परं धर्मं लोकपंक्तिकृतादराः ॥ १८ ॥

अर्थ–संसारमें कईएक मनुष्य ऐसे भी हैं जो अभिमानके वशीभूत होकर धर्मका आचरण करते हुये भी लोकपंक्ति अर्थात् लोगोंके रिझानेवाले कार्य करते हैं इसलिये वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंत संसारी कहे जाते हैं । भावार्थ–संसारमें ऐसे बहुतसे मनुष्य हैं जो महाअभिमानी हैं तथा धर्मका आचरण भी करते हैं परंतु लोगोंके रिझानेकेलिये वा अपनी ख्याति पूजा और लाभकेलिये अन्य कार्य भी कर पाडते हैं जिससे उन्हें अनंतकालतक संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये धर्मात्माओंको चाहिये कि वे अभिमान तथा लोकमें लाभ पूजा आदिकेलिये अधार्मिक कार्योंका आचरण न करें–ऐसे कार्योंका सर्वथा त्याग करदें ॥ १८ ॥

मूढा लोभपराः क्रूराः भीरवोऽसूयकाः शठाः ।
भवाभिनंदिनः संति निष्फलारंभकारिणः ॥ १९ ॥

अर्थ–तथा जो पुरुष मूढ़ लोभी क्रूर डरपोंक ईर्ष्या करनेवाले मूर्ख और संसारके पोषक हैं एवं निष्फल आरंभोंके करनेवाले हैं वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंतकालतक संसारमें घूमनेवाले हैं ॥ १९ ॥

आराधनाय लोकानां मलिनेनांतरात्मना ।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता ॥ २० ॥

अर्थ–अंतरात्माके मलिन होनेसे मूर्ख लोग जो लोकके रंजायमान करनेकेलिये क्रिया करते हैं उसे लोकपंक्ति कहते हैं । भावार्थ–यह स्पष्टरूपसे देखनेमें आता है कि बहुतसे ऐसे मूर्ख योगी साधु होते हैं जिनकी आत्मा विषयवासना वा कषाय आदिसे तो मलिन रहती है परंतु लोकके रंजायमान करनेकेलिये वा ख्याति लाभ आदिकेलिये वे अनेक कार्य कर पाड़ते हैं इसलिये उनकी जो वैसी क्रिया है उसकी रूढि संज्ञा लोकपंक्ति है ॥ २० ॥

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणांगं मनीषिणां ।

तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसां ॥ २१ ॥

अर्थ-जो पुरुष विद्वान हैं हित और अहितको भलेप्रकार जानते हैं वे धर्मके अर्थ लोकपंक्तिका आचरण करते हैं इसलिये उन्हें उससे कल्याणप्राप्ति होती है किंतु जो मूढ़बुद्धि पुरुष लोकपंक्तिकेलिये धर्म करते हैं उनको उस धर्मसे पापका बंध होता है। भावार्थ-लोकके रंजायमान करनेवाली ख्याति आदिकेलिये की गई क्रियासे यद्यपि पापका बंध होता है परंतु यदि वह धर्मकेलिये विद्वान लोगों द्वारा की जाय तो उन्हें उससे कल्याणकी प्राप्ति होती है परंतु मूढ़बुद्धि पुरुष यदि लोकके रंजायमान वा ख्याति लाभ आदिकी करनेवाली क्रियाके अर्थ धर्मका आचरण करते हैं तो उससे पापका ही बंध होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे धर्मके अर्थ उक्त क्रियाको तो करैं परंतु उस क्रियाकेलिये धर्मका आचरण न करै ॥ २१ ॥

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धिनिबंधनं ।
मुक्तेरासन्नभावेन न कदाचित्पुनः परं ॥ २२ ॥

अर्थ-मोक्षके मार्गकी ओर चित्तके झुकजानेसे कर्मोंकी शुद्धि होती है क्योंकि उससमय मोक्ष बिलकुल समीप रहजाती है किंतु जब वह मोक्षमार्गकी ओर ऋजु नहि होता तब कभी उससे कर्मोंकी शुद्धि नहिं होती। भावार्थ-ऊपर कह दिया गया है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताका नाम मोक्षमार्ग है अर्थात् जिससमय ये तीनों आत्माके अंदर प्रकट होंजाते हैं उससमय मोक्षकी अवश्य प्राप्ति होती है इसलिये जिससमय चित्त इस मार्गकी ओर ऋजु होता है उससमय मोक्ष समीप रहजानेकेकारण कर्मोंकी शुद्धि होती है किंतु जब चित्तकी मोक्षमार्गमें लीनता नहिं होती उससमय कभी कर्मोंकी शुद्धि नहिं होती इसलिये कर्मोंकी शुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे अपने चित्तको मोक्षमार्गकी ओर अवश्य लगावें ॥ २२ ॥

कल्मषक्षयतो मुक्तिर्भोगसंगमवर्जिनां ।
भवाभिनंदिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसां ॥ २३ ॥

अर्थ-जो महानुभाव भोगोंके संबंधसे रहित हैं उनके जिससमय कर्मोंका नाश होजाता है उससमय मोक्षकी प्राप्ति

होती है किंतु जो भवाभिनंदी हैं-संसारके पोषण करनेवाले हैं और मूढ़ हैं उन्हें मोक्षमें विद्वेष रहता है। भावार्थ-जबतक भोग भोगनेकी वासना चित्तपर सवार रहैगी तबतक कभी कर्मोंका क्षय नहिं हो सकता और जबतक कर्मोंका क्षय न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है क्योंकि समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशको मोक्ष कहागया है इसलिये जो पुरुष भोगोंके संबंधसे रहित हैं-इंद्रियोंके विषयोंमें नहिं फसते उन्हें तो समस्त कर्मोंके नष्ट होजानेके कारण मोक्षकी प्राप्ति होती है किंतु जो पुरुष भवाभिनंदी हैं-संसारको ही परम आनंदका स्थान मानते हैं और मूढ़ हैं वे मुक्तिसेही द्वेष रखते हैं- मोक्ष पाना अच्छा नहिं समझते इसलिये उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती ॥ २३ ॥ तथा-

नास्ति येषामयं तत्र भवबीजवियोगतः ।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याणफलभागिनः ॥ २४ ॥

अर्थ-संसारके कारण लोकाचारके नाश होजानेके कारण जो महानुभाव मोक्षमें विद्वेष नहिं रखते वे भी धन्य और पवित्र आत्माके धारक हैं क्योंकि मोक्ष सुखमें वे भागीदार हैं। भावार्थ-यह ऊपर कह दिया गया है कि-बहुतसे मूढ़ पुरुष संसारको ही आनंदका स्थान समझते और लोकाचारोंका आचरण करते हुये अपनेको सुखी मानते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संसारसुखमें ऐसे लीन हो जाते हैं कि उन्हें मोक्षमें भी द्वेष हो निकलता है इसलिये न तो वे कभी मुक्ति पानेका प्रयत्न ही करते हैं और न वह उन्हें प्राप्त ही होती है परंतु जो पुरुष लोकाचारसे विमुख हैं और मोक्षमें किसी प्रकारका द्वेष नही रखते वे भी धन्य और महात्मा हैं क्योंकि वे मोक्ष सुखके हिस्सेदार हो चुके हैं अर्थात् मोक्षमें द्वेष न होनेके कारण किसी न किसी दिन मोक्षकी प्राप्तिकेलिये वे अवश्य लालायित होंगे और समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष प्राप्त करलेंगे ॥ २४ ॥

संज्ञानादिरुपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः ।
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तंते मलीमसाः ॥ २५ ॥

अर्थ-भगवान जिनेंद्रने जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिको मोक्षका मार्ग बतलाया है पापी मनुष्य रातदिन उसके मलिन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं। भावार्थ-भगवान जिनेंद्रने निर्दोष दर्शन निर्दोष ज्ञान और निर्दोष

चारित्रको मोक्षका उपाय बतलाया है परंतु मूढ़ मनुष्य ऐसे विषयवासनामें लिप्त हो रहे हैं कि वे विपरीत श्रद्धानकर सम्यग्दर्शनको, भ्रांत हो सम्यग्ज्ञानको, और हिंसा उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंका आचरणकर सम्यक्चारित्रको सदा मलिन करते रहते हैं इसलिये यदि उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो तो कहांसे हो ? अर्थात् जब मोक्ष जानेका मार्ग ही लुप्त हो गया तो मोक्षमें जाना सर्वथा असंभव है ॥ २५ ॥

आराधने यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरं ।
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बृहद्व्यथः ॥ २६ ॥

अर्थ--जिसप्रकार सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयकी आराधनाका सर्वोत्तम फल मोक्ष मिलना कहा है उसीप्रकार उसके मलिनकरनेसे भी घोर अनर्थ और दुःख होता है यह समझलेना चाहिये। भावार्थ-यदि कोई मूढ़ मनुष्य ऐसा समझले कि चलो सम्यग्दर्शन आदिकी आराधना न करेंगे तो हमें उत्तम फल न मिलेगा और नुक्सान तो कुछ न होगा तो ग्रंथकार कहते हैं यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिके आराधनसे जैसा अनुपम फल प्राप्त होता है उसीप्रकार उनके मलिन करनेसे भयंकर दुखका सामना करना पड़ता है इसलिये दुःखसे भय करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे कभी ऐसे कार्य न करैं जिनसे उनके सम्यग्दर्शन आदिमें मलिनता आवे ॥ २६ ॥

तुंगारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः ।
यथानर्थोऽवबोधादिमलिनीकरणे तथा ॥ २७ ॥

अर्थ--जिसप्रकार ऊंची जगहपर चढनेसे गिरना और विषभक्षणसे तृप्ति करना अंतमें दुःखदायी होता है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान आदिके मलिन करनेपर घोर अनर्थका सामना करना पड़ता है। भावार्थ-जिसप्रकार ऊंची जगहसे गिरनेमें पहिले तो कुछ तकलीफ नहीं मालूम पड़ती परंतु पृथ्वीपर नीचे आनेके बाद चोट आदि लगनेसे महा दुःख का सामना करना पड़ता है और जिसप्रकार विषैले अन्नके भक्षण करनेसे पहिले तो पेट भर जाता है परंतु फिर मृत्यु ही देखनी पड़ती है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान आदिके मलिन करनेसे पहिले तो कुछ दुःख नहीं मालूम पड़ता वा किंचित् सुख मालूम पड़ता है परंतु कुछ समयके बाद जब पाप अपना फल देते हैं तब अवश्य घोर अनर्थ सहन करने पड़ते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे सम्यग्दर्शन आदिको मलिन न होने दें ॥ २७ ॥

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।
प्रयत्नचारिणो बंधः समितस्य वधेऽपि नो ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष अयत्नाचारी हैं—यत्नाचारपूर्वक कार्य नहि करते उनके जीव मरो या न मरो तो भी हिंसा और उससे कर्मबंध होते हैं किंतु जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले हैं और ईर्या, भाषा आदि समितियोंके पालक हैं उन्हें जीवोंके न मरनेपर तो हिंसा और कर्मबंध होते ही नहीं किंतु उनके मरनेपर भी हिंसा और उससे कर्मबंध नहि होते।

पादमुत्क्षिपतः साधोरीर्यासमितिभागिनः । यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पादयोगतः ॥ २९ ॥
तथापि तस्य तत्रोक्तो बंधः सूक्ष्मोऽपि नागमे । प्रमादत्यागिनो यद्वन्निर्मूर्छस्य परिग्रहः ॥ ३० ॥

अर्थ—भलेप्रकार ईर्यासमितिके पालन करनेवाले और आहार आदिकेलिये गमन करनेवाले साधुके यद्यपि पैरके संयोगसे सूक्ष्म जीवोंका विध्वंस होता है तथापि जिसप्रकार ममत्वरहित मनुष्यके परिग्रहका बंध नहिं होता उसीप्रकार उससाधुके भी प्रमादके अभावसे जरा भी कर्मोंका बंध नहिं होता ऐसा शास्त्रमें प्रतिपादन किया है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह कहा गया है कि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिसे जीव मरो या न मरो तथापि हिंसाका दोष नहिं लगता तथा हिंसाके अभावसे कर्मोंका बंध नहि होता वहांपर शंका होती है कि जीवोंके मरनेपर हिंसा और उससे कर्मबंध क्यों नहि होता ? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने दिया है कि हिंसामें कारण प्रमाद है यदि प्रमादकी विद्यमानता रहैगी तो जीव मरो या न मरो अवश्य हिंसा होगी और हिंसासे कर्मोंका बंध होगा किंतु जिससमय प्रमादका अभाव रहैगा उससमय जीव मरें या न मरें तथापि हिंसा और उससे कर्मबंध नहिं होंगे। इसलिये जिसप्रकार किसी पदार्थमें ममता न रखनेवाले मनुष्यके परिग्रहका बंध नहिं होता उसीप्रकार जो मुनि भलेप्रकार ईर्या आदि समितियोंका पालन करनेवाला है वह जिससमय आहार विहार आदिकेलिये गमन करता है उससमय यद्यपि उसके पैरसे दृष्टिके अगोचर बहुतसे जीवोंका विध्वंस होता है तौभी प्रमादके अभावसे उसके जरा भी हिंसाका दोष नहि लगता और हिंसाके अभावसे किसी प्रकारके कर्मोंका बंध भी नहि होता ॥ २९–३० ॥

प्रमादी त्यजति ग्रंथं वाह्यं मुक्त्वापि नांतरं ।

हित्वापि कंचुकं सर्पो गरलं नहि मुंचते ॥ ३१ ॥

अर्थ--जिसप्रकार सर्प कांचलीको छोड़ देता है परंतु विषको नहिं छोड़ता उसीप्रकार जो मुनि प्रमादी हैं-विकथा क्रोध आदिके वशीभूत हैं वे वाह्य परिग्रहका तो त्याग करदेते हैं परंतु अंतरंग परिग्रहको नहिं छोड़ सकते । भावार्थ--धन धान्य स्त्री पुत्र आदि वाह्य परिग्रह हैं और क्रोध आदि अंतरंग परिग्रह हैं, जो मनुष्य प्रमादी हैं-सदा जिनकी आत्मामें राग द्वेष आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं वे जिसप्रकार सर्प कांचलीको छोड़ देता है परंतु उससे भीतरी विषका त्याग नहि किया जाता उसीप्रकार मान बड़ाई आदिकेलिये स्त्री पुत्र घरवार आदिका तो त्याग करदेते हैं परंतु भीतरी क्रोध आदिका नाश नहिं कर सकते इसलिये जो दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्यागकर निराकुलतामय सुखका आस्वादन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे प्रमादका अवश्य त्याग करदें ॥ ३१ ॥

अंतःशुद्धिं विना वाह्या न साश्वासकरी मता ।
धवलोऽपि वको वाह्ये हंति मीनाननेकशः ॥ ३२ ॥

अर्थ--विना अंतरंग शुद्धिके वाह्य शुद्धि विश्वास करानेवाली नहि होती क्योंकि वाह्यमें श्वेत भी वगला अनेक मच्छियोंको प्राणरहित करदेता है । भावार्थ--देखनेमें वगला बहुत ही सीधा साधा और श्वेत दीख पड़ता है किंतु उसका अंतरंग इतना दुष्ट होता है कि वह सदा यही विचार करता रहता है कि कव मच्छी मिलें और कव उन्हें मैं हजम करूं इसलिये वह अनेक मछलियोंको प्राणरहित करदेता है उसीप्रकार मनुष्य भी वाह्यमें कितना भी साधु और सुंदर चेष्टाका धारक क्यों न हो यदि उसका अंतरंग शुद्ध नहीं तो वह किसी कामका नहीं इसलिये यह वात सिद्ध है कि विना अंतरंगकी शुद्धिके वाह्य शुद्धि विश्वासके योग्य नहिं गिनी जाती अत वाह्य शुद्धिसे अंतरंगकी शुद्धि हितकारिणी और मुख्य है ॥ ३२ ॥

योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रवध्यते ।
सरोजामिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ--जो योगी छहकायोंके जीवोंकी रक्षामें प्रमादी हैं उनके कर्मोंका वंध होता है किंतु जो योगी प्रमादरहित हैं

छहकायोंके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद नहि करते वे जलके ऊपर स्थित कमलके समान कर्मोंसे लिप्त नहिं होते। भावार्थ–पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति और त्रस ये छह जीवोंकी निकाय हैं और इनकी रक्षा करना योगीका प्रधान कर्तव्य है परंतु जो योगी प्रमादी हैं-छहकायके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद करते हैं उनके कर्मोंका बंध होता है और जो अप्रमादी हैं छहकायके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद नहिं करते वे जिसप्रकार जलके ऊपर पड़ा हुआ भी कमलपत्र पानीसे लिप्त नहिं होता उसीप्रकार कर्मोंसे लिप्त नहिं होते ॥ ३३ ॥

साधुर्यतोऽगिघातेऽपि कर्मभिर्वध्यते न वा।
उपाधिभ्यो ध्रुवो बंधस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥ ३४ ॥

अर्थ–जीवोंके घात होनेपर भी साधुके बंध होता भी है और नहिं भी होता किंतु परिग्रहोंसे तो अवश्य बंध होता है इसलिये अंतरंग और वहिरंग दोनों परिग्रहका साधुको सर्वथा त्याग करदेना चाहिये। भावार्थ–ऊपर कह दिया जा चुका है जो योगी प्रमादी हैं उनके तो जीवोंके घातसे कर्मबंध होता है किंतु अप्रमादियोंके नहीं इसलिये जीवोंके घात होने पर भी किसीके कर्मबंध होता है और किसीके नहीं परंतु परिग्रहोंके धारण करनेसे तो अवश्य कर्मोंका बंध होता है ऐसा कोई भी योगी नहीं जिसके परिग्रहोंसे बंध न होता हो इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर दें जिससे उन्हें परिग्रहजन्य कर्मबंधका दुःख न भोगना पड़े ॥ ३४ ॥

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धिं विना साधोः कुतस्त्या कर्मविच्युतिः ॥ ३५ ॥

अर्थ–अन्य परिग्रहोंके त्याग होनेपर भी यदि किसी एक परिग्रहका भी त्याग न हो सकै तो चित्तकी शुद्धि नहिं होती और जब तक चित्तकी शुद्धि नहीं होती तबतक योगीके कर्मोंका नाश नहिं हो सकता। भावार्थ–कर्मोंके नाश-में प्रधान कारण चित्तकी शुद्धि है-जबतक चित्तकी शुद्धि न होगी तबतक कभी कर्मोंका नाश न होगा और वह चित्त-की शुद्धि समस्त परिग्रहोंके सर्वथा त्यागसे होती है अर्थात् जबतक किंचित् भी परिग्रह रहेगा तबतक कदापि चित्तकी शुद्धि न हो सकैगी इसलिये योगियोंको चाहिये कि यदि वे कर्मोंका नाश करना चाहते तो चित्तकी शुद्धि प्राप्त करै तथा चित्तकी शुद्धिकेलिये किसी भी परिग्रहमें ममत्व भाव न रक्खें-उसका सर्वथा त्याग करदें ॥ ३५ ॥

सूत्रोक्तमिति गृह्णानश्चेलखंडमिति स्फुटं। निरालंबो निरारंभः संयतो जायते कदा ॥ ३६ ॥
अलाबुभाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवं। प्राणारंभो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वार्यते कथं ॥ ३७ ॥
स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं यतेः। कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते ॥ ३८ ॥
आरंभो संयमो मूर्छा कथं तत्र निषिध्यते। परद्रव्यरतस्यास्ति स्वात्मसिद्धिः कुतस्तनी ॥३९॥
न यत्र विद्यते छेदः कुर्वतो ग्रहमोक्षणे। द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्ततां ॥ ४० ॥

अर्थ—शास्त्रकी आज्ञा है यह कहकर भी चेलखंड (कौपीन आदि) धारण करनेवाला संयमी निरालंब वा निरारंभ कभी नहिं हो सकता अर्थात् चेलखंडके धारण करनेपर एक तो संयमीको उसका आश्रय लेना पड़ेगा और उसकेलिये आरंभ भी करना पडेगा, जोकि संयमीकेलिये सर्वथा विरुद्ध है। तथा तूंबी वस्त्र एव अन्य भी किसी पदार्थको धारण करनेवाले संयमीके शरीरक्लेश और चित्तकी चंचलता अवश्य होगी अर्थात् तूंबी वस्त्र आदिके ग्रहण करनेपर शरीरको क्लेश और चित्तकी चंचलता न हो यह बात विरुद्ध है। तथा वस्त्र वा पात्र आदिके धारण करनेपर यतिको उसे रखना उठाना रक्षा करना धोना और सुखाना पडेगा इसलिये 'कहा कैसे रखना चाहिये! इत्यादि' चिंता रहनेके कारण संयमीके चित्तकी चंचलता कभी नष्ट नहीं हो सकती। तथा जो संयमी परपदार्थोंमें रत हैं- उन्हें अपनानेवाले हैं उनके अवश्य आरंभ असंयम और ममता होगी इसकारण उन्हें कभी विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये साधुओंको चाहिये कि वे जिन पदार्थोंके ग्रहण करने और छोड़नेमें चारित्रका भंग न हो—निर्मल चारित्र सुरक्षित रहै ऐसे द्रव्य क्षेत्रको भलेप्रकार जानकर उनमें प्रवृत्ति करैं। भावार्थ—बहुतसे साधु ऐसे हैं जो कई वस्त्रोंके वा तूंबी आदि पदार्थोंके रखनेपर भी अपनेको शास्त्रोक्त मुनि कहलवानेका दावा रखते हैं और संसारमें उसबातका प्रसार भी करते हैं उन-केलिये यहा ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि अधिक वस्त्र वा तूंबी आदि पदार्थोंका धारण करना तो पृथक् रहो यदि कोई संयमी वस्त्रका खंड भी रखता है तो भी वह निरालंब और निरारंभ नहिं हो सकता अर्थात् उसवस्त्रके ग्रहण करनेसे उसका अवलंबन और उसकेलिये आरंभ करना पड़ता है इसलिये उस संयमीको दोष लगता है क्योंकि जो निरालंब और निरारंभ हो वही संयमी है ऐसा संयमीका लक्षण कहा गया है। तथा तूंबी वस्त्र आदि पदार्थोंके धारण करनेसे

और उनके रखने ले चलने रक्षाकरने धोने और सुखानेसे प्रति समय शरीरको क्लेश और चित्तको चंचलता बनी रहती है तथा परपदार्थमें रत होनेके कारण आरंभ असंयम और ममत्वमय परिणाम भी रहते हैं इसकारण परपदार्थोंके अपनानेवालोंको कभी शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहि होती इसलिये जो संयमी यह चाहता है कि किसीप्रकारसे हमारा चारित्र भंग न हो-वह सदा सुरक्षित बना रहै उसै चाहिये कि वह योग्य द्रव्य क्षेत्रको भलेप्रकार जानकर प्रवृत्ति करै-सब प्रकारके द्रव्य क्षेत्रोंको न अपना डाले ॥ ३६–४० ॥

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः ।
येन संपद्यते मूर्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः ॥ ४१ ॥

अर्थ–जो संयमी अपना हित चाहते हैं उन्हैं चाहिये कि वे ऐसे पदार्थका ग्रहण न करैं जिसके ग्रहण करनेसे परिणाम ममत्वमय होते हों और जो असंयमियोंके योग्य संयमका नाश करनेवाला हो। भावार्थ–संसारमें स्त्री पुत्र धन धान्य आदि बहुतसे पदार्थ हैं जिनके ग्रहण करनेसे संयमका समूल नाश होता है असंयमी लोग बडी खुशीसे जिनका आदर करते हैं और जिनके ग्रहण करनेसे परिणामोंमें ममता उत्पन्न हो जाती है इसलिये जो संयमी अपनी आत्माका हित करना चाहते हैं-संसारसे सर्वथारहित होकर निराकुलतामय सुखास्वादन करना चाहते हैं उन्हैं चाहिये कि वे समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करदें–उन्हैं झांककर भी न देखें ॥ ४१ ॥

मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा ।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित्ते गृह्णंति कदाचन ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिन मोक्षाभिलाषी महापुरुषोंकी अपने शरीरमें भी निस्पृहा होती है-जो अपने शरीरको भी नहिं चाहते वे अकिंचन-अन्य भी किसी पदार्थको नहिं चाहनेवाले किसी भी परपदार्थका कभी ग्रहण नहि करते। भावार्थ–वैसे तो शरीर स्त्री पुत्र आदि सब ही परपदार्थ हैं परंतु जिसप्रकार इस आत्माकेलिये घनिष्ट उपकारी मालूम होनेवाला और निकटवर्ती, शरीर पदार्थ है वैसा कोई नहीं। परंतु जो महात्मा मोक्षाभिलापी हैं वे शरीरको भी नहिं अपनाते इसलिये वे सर्वथा अकिंचन हैं शरीरसे भिन्न भी पदार्थोंको अपना नहिं मानते तथा जब उनकी सब परपदार्थोंमें निस्पृहता है तब वे किसी पदार्थको ग्रहण भी नहिं करते ॥ ४२ ॥

यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते। तत्र लिंगं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतं ॥ ४३ ॥
नामुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिर्निश्चयतो यतः। अनुरूपं ततस्तासां लिंगं लिंगविदो विदुः ॥४४॥

अर्थ–जिस जैनधर्ममें दोनों लोककी अपेक्षा भी हानिकारक समझी गई है उस जैनधर्ममें स्त्रियोंके लिंगको सव्यपेक्षा-योग्य वस्त्र आदिसे युक्त कहा है सो कैसे ? तो इस प्रश्नका समाधान यह है कि निश्चयसे स्त्रियोंके इस जन्मसे-मोक्ष प्राप्ति नहिं होती इसलिये लिंगके वेत्ता निर्ग्रंथ मुनीश्वरोंने उनको अनुरूप–योग्य वस्त्र आदिसे युक्त ही लिंग बतलाया है। भावार्थ–जो मनुष्य स्त्रीपर्यायसे भी स्त्रियोंकी मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा मानते हैं यदि वे ऐसी शंका करें कि जिस जैनधर्ममें निर्ग्रंथ अवस्थामें दोनों लोककी अपेक्षाकी भी मनाई की गई है अर्थात् यदि तप करते समय यह इच्छा हो जाय कि मुझे इस लोकमें उत्तम भोगकी प्राप्ति हो और परलोकमें भी उत्तम विभूति एवं उत्तमपद मिलें तो वह तप उत्कृष्ट नहिं समझा जाता है किंतु किसीप्रकारकी अभिलाषासे रहित ही तप उत्तम कहा गया है तब स्त्रियोंके लिंगको वस्त्र आदिसे युक्त क्यों कहा–उन्हें भी वस्त्र आदि रहित ही लिंगका उपदेश होना चाहिये ? तो इसका समाधान यह है कि स्त्रियोंको स्त्रीपर्यायसे मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती इसलिये उन्हें योग्य वस्त्रयुक्त लिंग धारण करनेकी ही आज्ञा है यदि मनुष्य पर्यायसे मनुष्योंके समान उन्हें भी स्त्री पर्यायसे मोक्षकी प्राप्ति होती तो उन्हें भी निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका उपदेश दिया जाता इसलिये स्त्रियोंका निर्ग्रंथ लिंग धारण करना आगमविरुद्ध है ॥४४॥ स्त्रियोंको मोक्षका क्यों निषेध है इसका उत्तर—

प्रमादमयमूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा। प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमादबहुलत्वतः ॥ ४५ ॥
विषादः प्रमदो मूर्छा जुगुप्सा मत्सरो भयं। चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥४६॥

अर्थ–स्त्रियां प्रमादकी मूर्ति हैं इसलिये प्रमादकी प्रचुरतासे उन्हें प्रमदा शब्दसे पुकारा गया है। तथा विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा उनके चित्तपर अंकित रहती है इसलिये उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती। भावार्थ–स्त्रियोंका एक नाम प्रमदा भी बतलाया गया है और वह इसलिये है कि स्त्री प्रमादस्वरूप मूर्ति है उसमें प्रमादकी अधिकता रहती है और हर कार्यमें प्रमाद उत्पन्न करती है यदि यहांपर यह कहा जाय कि मनुष्य भी तो प्रमादी

होते हैं उनका ऐसा नाम क्यों नहिं रक्खा गया ? तो उसका समाधान यह है कि यह बात स्पष्टरूपसे अनुभवमें आती है कि स्त्रीजातिके अंदर जैसी क्रोध आदि प्रमादोंकी अधिकता है वैसी मनुष्योंके अंदर नहीं। तथा जहां विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और मायाका अभाव हो जाता है वहां ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है अन्यत्र नही क्योंकि उनकी मोजूदगी मोक्षकी प्राप्तिमें सर्वथा बाधक है। स्त्रियोंके चित्तपर विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा सवार रहते हैं-वे आर्यिका भी हो जाती हैं तथापि उनके इन दुर्भावोंका अभाव नहिं होता इसलिये स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया गया है ॥ ४५-४६ ॥

न दोषेण विना नार्यो यतः संति कदाचन ।
गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः ॥ ४७ ॥

अर्थ-विना दोषोंके स्त्रियां कभी नहिं हो सकती-सदा वे दोषोंकी पुंज स्वरूप रहती हैं इसलिये उनका शरीर सदा वस्त्रसे ढका रहता है और इसीलिये विरक्त अवस्थामें भी उन्हें वस्त्रविशिष्ट लिंग धारण करनेका उपदेश है। भावार्थ-शंका होती है कि विषाद आदिकी प्रतिसमय विद्यमानता रहनेके कारण स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्ति न हो परंतु उनकेलिये निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेकी क्यों मनाई की गई है तो उसका समाधान यही है कि स्त्रियां अनेक दोषोंकी खानि हैं उनके चित्तमें चंचलता आदि दुर्गुण बहुत जल्दी २ उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये सराग अवस्थामें भी उनका शरीर ढका रहता है और इसीलिये उन्हें वस्त्रयुक्त लिंग धारण करनेका उपदेश है ॥ ४७ ॥

शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं श्रवणं तथा । तासां सूक्ष्ममनुष्याणामुत्पादोऽपि बहुस्तनौ ॥ ४८ ॥
कक्षाश्रोणिस्तनाद्येषु देहदेशेषु जायते । उत्पत्तिः सूक्ष्मजीवानां यतो नो संयमस्ततः ॥ ४९ ॥

अर्थ-स्त्रियोंमें शिथिलता ऋतुधर्म चित्तका चांचल्य और अधिक श्रवण शक्ति होती है। उनके शरीरमें बहुतसी सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है तथा उनके कांख योनि और स्तन आदि शरीरके अवयवोंमें भी बहुतसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनके पूर्ण संयम नहिं पल सकता। भावार्थ-ऊपर कहदिया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधान कारण संयम है जबतक संयम न धारण किया जायगा तबतक कभी मोक्षकी प्राप्ति नहि हो सकती। और स्त्रियोंके

संयमका पालन हो नहिं सकता क्योंकि संयमका अर्थ षट् प्रकारके जीवोंकी रक्षा करना है । स्त्रियोंके शरीरमें बहुत निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा कांख योनि और स्तन आदि स्थानोंपर और भी बहुतसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनका अवश्य विघात होता है तथा जीवोंके विघातके साथ उनमें, संयममें बाधा पहुचानेवाले शिथिलता, ऋतुधर्म, मनकी चंचलता और श्रवणशक्तिकी भी अधिकता है इसलिये उनके पूर्ण संयमका अभाव है और संयमके अभावसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती ॥ ४८–४९ ॥

शशांकामलसम्यक्त्वाः समाचारपरायणाः ।
सचेलतः स्थिता लिंगे तपस्यंति विशुद्धये ॥ ५० ॥

अर्थ–जो स्त्रियां चंद्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वकी धारण करनेवाली हैं और निर्दोष चारित्रके आचरणमें तत्पर हैं वे कर्मोंकी विशुद्धिकेलिये वस्त्रयुक्त लिंग धारणकर तपका आचरण करती हैं। भावार्थ--शंका होती है कि जब स्त्रियोंको निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेकी आज्ञा नहीं और संयमका भी वे पालन नहिं कर सकतीं तब उन्हें वस्त्रयुक्त लिंग धारणकर तप करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान ग्रंथकारने यहां यह दिया है कि यद्यपि स्त्रियां निर्ग्रंथ लिंग और संयम धारण नहिं कर सकतीं तथापि जो निर्मल सम्यक्त्वकी धारक और भलेप्रकार चारित्रके आचरण करनेमें तत्पर हैं वे कर्मोंकी विशुद्धिकेलिये आर्यिकाकी दीक्षा लेकर तपका आराधन करती हैं अर्थात् उनकी यह भावना रहती है कि हमारे कर्मोंकी विशुद्धि हो स्त्रीलिंग नष्ट होकर हमैं पुल्लिंगकी प्राप्ति हो जिससे पुरुष पर्यायमें हम तपका आराधनकर निराकुलतामय मोक्ष सुखका अनुभव करें ॥ ५० ॥

शांतस्तपःक्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु ।
कल्याणांगो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणे मतः ॥ ५१ ॥

अर्थ–जो मनुष्य शांत होगा, तपकेलिये समर्थ, निर्दोष ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमें किसी एकवर्णका और सुन्दर शरीरके अवयवोंका धारक होगा वही निर्ग्रंथ लिंगके ग्रहण करनेमें योग्य है अन्य नहीं । भावार्थ--जो मनुष्य क्रोध आदि कषायोंके वशीभूत होगा, तप करनेकी सामर्थ्य न रखता होगा, निंदित वा ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंका

न होकर शूद्र होगा और सुंदर शरीरके अवयवोंका धारक न होकर अंधा लंगड़ा आदि होगा वह निर्ग्रंथ लिंग नहिं पाल सकता इसलिये वह निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र नहीं किंतु जो मनुष्य उत्तम क्षमाका धारक, तप करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला, निर्दोष, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंमें किसी एक वर्णका धारक, और सुंदर शरीरके अवयवोंसे युक्त होगा वही निर्ग्रंथ लिंगका पालन कर सकैगा इसलिये ऐसा उत्तम पुरुष ही निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र है ॥ ५१ ॥

कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादयः ।
नरस्य कुत्सिता व्यंगास्तदन्ये लिंगयोग्यता ॥ ५२ ॥

अर्थ–मनुष्यके निंदित कुल जाति वय शरीर कर्म बुद्धि और क्रोध आदिक व्यंग–हीनता हैं–निर्ग्रंथ लिंगके धारण करनेमें बाधक हैं और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करनेमें कारण हैं । भावार्थ–यदि मनुष्य नीचकुल और नीच जातिसे उत्पन्न होगा असमर्थ वृद्ध काना लंगड़ा आदि शरीरका धारक कुकर्मी अज्ञानी और क्रोधी मानी मायाचारी आदि होगा तो वह कभी निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र नहिं हो सकता किंतु जो कुल और जातिसे उत्तम होगा, दीक्षाके योग्य वयका धारक और निर्दोष अवयवोंसे युक्त शरीरसे मंडित होगा, उत्तम कार्योंका आचरण करनेवाला ज्ञानवान और क्रोध आदिसे रहित होगा, वही निर्ग्रंथ लिंगके धारण करनेकेलिये योग्य है इसलिये निंदित कुल जाति आदि निर्ग्रंथलिंगके बाधक हैं और उत्तम कुल आदि उसके साधक हैं ॥ ५२ ॥

येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते मुक्तिकारणं ।
स व्यंगो भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने ॥ ५३ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा संयमीके मोक्षका कारण रत्नत्रय नष्ट हो वही मोक्षके साधन तप आदिमें वास्तविक रीतिसे व्यंग बाधक कारण है अन्य नहीं । भावार्थ–पहिले यह कह दिया गया है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्षके मार्ग हैं जब तक इनकी प्राप्ति नहिं होती तब तक कदापि मोक्ष नहिं मिल सकती इसलिये जिसके द्वारा इस मार्गका नाश होता हो वह मोक्षके साधन-तपमें व्यंग-बाधक कारण है । नीच कुल नीच जाति दीक्षाके योग्य शरीरका न

१५३

होना आदिके होते तपका आराधन नहिं हो सकता इसलिये ये व्यंग हैं-तपके आराधनमें बाधक कारण हैं और उत्तम कुल उत्तम जाति योग्य शरीरका होना आदिके होते तपका पूर्णरूपसे आचरण होता है इसलिये ये व्यंग-बाधक कारण नहीं।

यो व्यावहारिको व्यंगो मतो रत्नत्रयग्रहे।
न सोऽपि जायते व्यंगः साधुः सल्लेखनाकृतौ ॥ ५४ ॥

अर्थ-रत्नत्रयके ग्रहण करते समय जो व्यावहारिक व्यंग वतलाया गया है सल्लेखनाके समय भी उस व्यंगको उत्तम नहिं कहा गया है। भावार्थ-मृत्युके समय काय और कषायोंको क्रमसे कृश करते २ धर्मध्यानमें सावधान रहकर प्राणोंके त्यागको सल्लेखना कहते हैं। इसको सन्यासमरण वा उत्तममरण भी कहा गया है। तो जो पहिले रत्नत्रयके ग्रहणमें व्यवहार व्यंग कहा गया है वह सल्लेखना करनेवालेकेलिये भी उत्तम नहीं अर्थात् उत्तमकुल उत्तम जातिसे उत्पन्न, योग्य अवस्था और निर्दोष अवयवोंसे युक्त शरीरका धारक, उत्तम कार्योंका करनेवाला, बुद्धिमान और क्रोध आदिसे रहित ही सल्लेखनाको धारण कर सकता है अन्य नीच कुलमें उत्पन्न आदि नही ॥ ५४ ॥

यस्यैहलौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी।
युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥ ५५ ॥

अर्थ-जिस मुनिके चित्तमें न तो इस लोककी इच्छा है और न परलोककी इच्छा है तथा जिसका आहार विहार युक्त है शास्त्रानुकूल है वह समचित्तका धारक मुनि श्रमण समझा जाता है। भावार्थ-जो मुनि तपसे इस बातकी लालसा रखता है कि मुझै इसलोकमें उत्तम स्त्री आदि पदार्थ और चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त हों और परलोकमें भी उत्तम विभूति आदिकी प्राप्ति हो तथा जिसका आहार विहार अयुक्त होता है वह मुनि चंचल चित्तका धारक कुत्सित समझा जाता है और जो इसलोक और परलोककी इच्छासे रहित होकर तप आराधन करता है और जिसका आहार विहार शास्त्रानुसार है वह समचित्तका धारक मुनि श्रमण होता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे तप करते समय इसलोक परलोक संबंधी इच्छाका सर्वथा निरोध रक्खें और आहार विहार शास्त्रानुसार करैं ॥ ५५ ॥

कषायविकथानिद्राप्रमाक्षार्थपराङ्मुखाः। जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥५६॥

आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामनेषणा। संयताः संत्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥ ५७ ॥

अर्थ–जो योगी कषाय विकथा निद्रा राग और पांचो इंद्रियोंके विषयोंसे पराङ्मुख हैं जीवन मरण शत्रु मित्र और सुख दुःखमें जिनके भाव समान हैं जो आत्माकी ही खोज करते रहते हैं भिक्षामें इच्छारहित हैं और अनाहार हैं वे समचित्तके धारक सच्चे संयमी हैं। भावार्थ–क्रोध मान माया लोभ चार कषाय, स्त्रीकथा राष्ट्रकथा राजकथा और भोजनकथा चार विकथायें, निद्रा, राग और स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच इंद्रियोंके पांच विषय, सब मिलकर पंद्रह प्रमाद हैं। जो योगी इन पंद्रह प्रकारके प्रमादोंसे रहित हैं, जीवन मरण शत्रु मित्र और सुख दुःखमें समान हैं अर्थात् जीवन मरण आदिके उपस्थित हो जानेपर सुखी दुःखी नहिं होते। जिनकी इच्छा सदा आत्माके स्वरूपके जाननेकी रहती है, जो हृदयसे भिक्षाको नहिं चाहते और निराहार रहते हैं वे समचित्तके धारक योगी संयमी कहेजाते हैं ५६-५७

य: स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते।
साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकारविग्रहः ॥ ५८ ॥

अर्थ–जो मुनि केवल शरीररूप परिग्रहका धारक है अपनी शक्तिको छिपा न कर तपका आचरण करता है और अपने शरीरपर उपसर्ग आनेसे किसीप्रकारका प्रतीकार नहीं करता वह सच्चा साधु है। भावार्थ–जो मनुष्य मुनिमुद्रा धारणकर वनवासी होगया है, जिसके सिवाय शरीरके दूसरा कोई परिग्रह नहिं है, जो अपनी शक्तिको न छिपाकर घोर तपका आराधन करता है और जो अन्य पदार्थोंमें ममताकी तो क्या बात ! शरीरमें भी किसीप्रकारकी ममता नहीं रखता-शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होजाने पर भी कुछ प्रतीकार नहीं करता वह सच्चा साधु है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे तप करते समय शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व न करैं और जितनी शक्ति हो उसके अनुसार अवश्य तपका आराधन करै ॥ ५८ ॥

एकासनोदराभुक्तिमांसमध्वादिवर्जिता।
यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेश्मनि ॥ ५९ ॥

अर्थ–तथा पराये घर आहारके मिल जानेपर मुनिगण मांस मधु आदिके संबंधसे रहित और नीरस एक आसनसे

अवमोदर्य–अल्प भोजन करते हैं। भावार्थ–लौकिक ख्याति लाभकी इच्छा न कर संयमकी सिद्धिकेलिये, राग भावोंका नाश और कर्मोंके विनाशकेलिये ध्यान और स्वाध्यायकी सिद्धि एवं इंद्रिय और कामके जीतनेकेलिये मुनिगण जो अल्प अहार करते हैं उसका नाम अवगोदर्य है इसलिये जिससमय मुनिगण भोजनकी वेलामें गृहस्थोंके घर आते हैं उससमय वे स्वादिष्ट वा अस्वादिष्ट जैसा आहार उन्हें मिलजाता है उसमेंसे यह भलेप्रकार जानकर कि यह आहार मांस मधु आदि अपवित्र पदार्थोंके संबंधसे रहित शुद्ध और नीरस है एक आमनसे अवमोदर्य–थोड़ा आहार करलेते हैं।५९।

पक्केऽपक्के सदा मांसे पच्यमाने च संभवः। तज्जातीनां निगोदानां कथ्यते जिनपुंगवैः ॥ ६० ॥
मांसं पक्कमपक्क वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते। अनेकाः कोटयस्तेन हन्यंते किल जन्मिनां ॥ ६१ ॥

अर्थ–भगवान जिनेंद्रका उपदेश है कि मांस पका हुवा कच्चा वा पकता हुआ कैसा भी क्यों न हो उसमें बहुतसे उस जातिके निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है इसलिये जो मनुष्य पके वा कच्चे वा अधपके कैसे भी मासका स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ो जीवोंका प्राणघात करते हैं। भावार्थ–मांसका स्पर्श करना वा खाना हिंसा-अनर्थका मूल कारण है क्योंकि एक तो जो मनुष्य मांसके लोलुपी हैं उनकेलिये पहिले ही जीवोंका विध्वंस होता है इसलिये उन्हें हिंसाका दोष पहिलेसे ही लग जाता है। दूसरे चाहें मांस पका हो चाहें कच्चा हो और चाहें पकरहा हो उसमें अनंते निगोदिया जीवोंकी प्रति समय उत्पत्ति होती रहती है इसलिये इस बातका निश्चय है कि जो मनुष्य पके वा कच्चे मांसका स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ों जीवोंकी हिंसा करते हैं अतः जो पुरुष उत्तम हैं और हिंसाजन्य पापसे वचना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सर्वथा मांसका भक्षण करना छोड़दें और भक्षण करना तो दूर रहो उसका स्पर्श तक भी न करें ॥ ६०–६१ ॥

बहुजीवप्रघातोत्थं बहुजीवोद्भवास्पदं।
असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ–जो महानुभाव असंयमसे भय करनेवाले हैं और चाहते हैं कि हमारे संयममें किसीप्रकारकी बाधा न आवे उन्हें चाहिये कि वे मन वचन कायसे मधुका भी सर्वथा त्याग करदेवें क्योंकि मधु बहुतसे जीवोंके घातसे उत्पन्न होता

है और बहुतसे जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना संयम है जो मनुष्य मधु-शहदके भक्षण करनेवाले हैं वे कभी संयमका पालन नहिं करसकते क्योंकि मधुकी उत्पत्ति बहुतसे जीवोंके घातसे होती है अर्थात् जिस छत्तेके अंदर मधुमक्खियां मधुको इकट्ठा करती हैं उसमें बहुतसे उनके अंडे बच्चे रहते हैं और जो मनुष्य छत्ता तोड़कर मधु निकालते हैं उससमय छत्तेके निचोड़नेके कारण वे अगणित अंडे बच्चे नष्ट हो जाते हैं। तथा यह मधु अनेक जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है-सदा अनंते जीवोंकी इसमें उत्पत्ति होती रहती है इसलिये जो मनुष्य यह चाहते हैं कि हमारे संयममें किसीप्रकारकी बाधा न आवे उन्हें चाहिये कि वे मन वचन कायसे सर्वथा मधुका त्याग करदें-मधुकी ओर झांककर भी न देखें ॥ ६२ ॥

कंदो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृध्नुभिः।
अन्वेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा ॥ ६३ ॥

अर्थ—अगृध्नु-भोजनकी लालसा रहित मुनियोंको चाहिये कि वे कंद मूल फल पत्र और नवनीत-मक्खनके भोजनका मन वचन कायसे सर्वथा त्याग करदें तथा अन्य भी अयोग्य अन्नके आहारको छोड़दें। भावार्थ—कंद मूल फल पत्र नवनीत आदि पदार्थ हिंसाके कारण हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि इनका सर्वथा आहार लेनेका त्याग करदें तथा जो अन्य भी मुनिके योग्य न हो उस अन्न आदिके आहारको गृहण न करें किंतु प्रासुक और शुद्ध आहार ही लें ॥ ६३ ॥

पिंडः पाणिगतोन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुंक्ते चेच्छेदभाग्यतिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—आहार देते समय गृहस्थको चाहिये कि वह जिस मुनिको देनेके लिये हाथमें आहार ले उसे उसी मुनिको दे अन्य मुनिको देना योग्य नहीं यदि कदाचित् अन्यको दे भी दिया जाय तो मुनिको खाना न चाहिये क्योंकि यदि मुनि उसे खालेगा तो वह छेद प्रायश्चित्तका भागी गिना जायगा ॥ ६४ ॥

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधिनिपीडितः।

तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो ॥ ६५ ॥

अर्थ–जो मुनि बालक वृद्ध ग्लान-रोगसे पीडित और तीव्रव्याधिसे पीडित हैं उन्हें भी उसरूपसे चारित्रका आचरण करना चाहिये जिससे उनके मूलगुणोंका छेद न हो। भावार्थ–जो मुनि बालक वृद्ध रोगसे पीडित-ग्लान और तीव्र व्याधिसे पीडित हैं यद्यपि वे घोर तपका आराधन नहिं कर सकते तथापि उन्हें इतना तप तो अवश्य करना चाहिये जिनसे उनके मूल गुणोंका छेद न हो जाय ॥ ६५ ॥

आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमं।
वर्तते यदि विज्ञाय स्वल्पलेपो यतिस्तदा ॥ ६६ ॥

अर्थ–जो मुनि आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रमको भलेप्रकार जानकर चारित्रमें प्रवृत्ति करता है वह यति स्वल्पलेप रहता है अर्थात् उसे बहुत थोड़ा पाप लगता है। भावार्थ-पापोंके नाशकेलिये वा अधिक पापोंका आत्मामें आस्रव न हो इसलिये मुनि निर्ग्रंथ लिंगको धारण करते हैं तथा आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रमोंको जानकर चारित्रमें प्रवृत्ति करनेसे उन्हें थोड़ा पाप लगता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि आहार आदिको भलेप्रकार जानकर चारित्रका पालन करैं ॥ ६६ ॥

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ॥ ६७ ॥

अर्थ–जिस क्रियाके करनेसे संयममें हानि पहुंचै लोकविरोध हो और अधिक कष्ट मालूम पड़े मुनियोंको ऐसी क्रिया कभी न करनी चाहिये। भावार्थ–मुनिको वही कार्य करना चाहिये जिससे उसके पवित्र संयममें किसीप्रकारकी हानि न आवे, कैसा भी लोक विरोध न हो और अधिक क्लेश भी न मालूम पडे किंतु जिस क्रियाके आचरण करनेसे संयममें हानि, लोकविरोध, अधिक क्लेश भोगना पडे, संक्लेश परिणाम हो जांय उस क्रियाका कदापि आचरण न करना चाहिये ॥ ६७ ॥

एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः।

यस्मादागमतस्तस्मात्तस्मिन्नाद्रियतां तरां ॥ ६८ ॥

अर्थ–एकाग्रचित्तके धारक मुनिको आगम–शास्त्रके द्वारा पदार्थोंका विशेष और वास्तविक निश्चय होता है इसलिये उसै चाहिये कि वह शास्त्रका अत्यंत आदर करै। भावार्थ–पदार्थोंके विशेष और वास्तविक ज्ञानका नाम सम्यग्ज्ञान है। जब तक मुनिको यह दिव्यज्ञान प्राप्त नहिं होता तबतक उसै पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोंके द्वारा होता है इसलिये मुनिको चाहिये कि वह एकाग्र चित्तका धारक हो शास्त्रका विशेष आदर करै–अच्छीतरह उसका मनन और परिशीलन करै ॥ ६८ ॥

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परं।
यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः ॥ ६९ ॥

अर्थ–परलोक कोई पदार्थ है इसमें निर्दोष वा पुष्ट प्रमाण प्रायः शास्त्र ही है इसलिये जो पुरुष आसन्नभव्य हैं बहुत शीघ्र जिन्हैं मोक्ष मिलनेवाली है उनका शास्त्रोंमें अत्यंत आदर होता है। भावार्थ–परलोक पदार्थ अतींद्रिय है–इंद्रियां उसै विषय नहिं कर सकतीं इसलिये वह हमसरीखे मनुष्योंके प्रत्यक्ष गोचर हो नहिं सकता। तथापि अनुमान प्रमाणसे परलोककी सिद्धि की जाती है परंतु स्पष्टरूपसे नहीं अर्थात् अनुमानसे कोई परलोक पदार्थ है इसबातको सिद्ध भी कर लें परंतु वह कैसा और किंस्वरूप है ? यह उसका विशेष स्वरूप नहिं जाना जा सकता किंतु आगम प्रमाणसे उसकी विद्यमानता और विशेष स्वरूप स्पष्टरूपसे जानलिये जाते हैं इसलिये जो पुरुष जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और परलोक मोक्ष आदिके स्वरूपको जाननेकी गहरी लालसा रखते हैं वे पूर्णरूपसे शास्त्रोंका आदर करैं ॥ ६९ ॥

उपदेशं विनाप्यंगी पटीयानर्थकामयोः। धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥ ७० ॥
अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणां। धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ॥ ७१ ॥
तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्छास्त्रयत्नो विधीयते। मोहांधकारिते लोके शास्त्रं लोकप्रकाशकं ॥७२॥
मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं द्रव्यनिबंधनं। चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकं ॥ ७३ ॥

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्मक्रियाखिला। अंधलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥ ७४ ॥

अर्थ—उपदेशके विना भी इस जीवकी अर्थ और काममें स्वयं प्रवृत्ति हो जाती है परंतु धर्ममें प्रवृत्ति शास्त्रसे ही होती है इसलिये शास्त्रमें आदर रखना महान हितकारी है। तथा अर्थ और काममें प्रवृत्ति न करनेसे मनुष्योंके उनका ही अभाव होता है परंतु धर्मके न आचरण करनेसे नानाप्रकारके अनर्थ और धर्मका अभाव दोनों होते हैं इसलिये जो पुरुष धर्मार्थी हैं धर्मके आचरण करनेकी अभिलाषा रखते हैं उन्हें सदा शास्त्रमें यत्न करना चाहिये क्योंकि यह शास्त्र मोहरूपी अंधकारसे आच्छन्न इसलोकमें समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, मायारूपी भयंकर व्याधिकेलिये उत्तम औषध है, अर्थका कारण है, समस्त पदार्थोंका दिखानेवाला नेत्र है, और समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। जिस मनुष्यकी ऐसे कल्याणकारी शास्त्रमें भक्ति नहीं उस मनुष्यकी तीव्रकर्मके दोषसे समस्त धर्मक्रियायें अंधे मनुष्यकी क्रियाओंके समान निकृष्ट फलको प्रदान करनेवाली हैं। भावार्थ—यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है कि जब मनुष्य कुछ बड़ा हो समझने लगता है तब उसकी धन कमाने और विषय सेवनमें अपने आप प्रवृत्ति होजाती है इसलिये अर्थ और काममें मनुष्योंकी प्रवृत्तिकेलिये किसीके उपदेशकी आवश्यकता नहिं होती परंतु धर्ममें किसीकी स्वयं प्रवृत्ति नहिं होती, उसमें प्रवृत्ति तो शास्त्रके उपदेशसे ही होती है इसलिये शास्त्रमें प्रेमका करना परम हितकारी है तथा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अर्थ और कामके न सेवनसे तो केवल अर्थ-कामका ही अभाव होगा परंतु यदि धर्मका आचरण न किया जायगा तो धर्मका अभाव होगा सो तो होगा ही नानाप्रकारके अनर्थोंका भी सामना करना पड़ेगा इसलिये जो पुरुष धर्मके इच्छुक हैं उन्हें चाहिये कि वे अच्छीतरह शास्त्रोंका मनन परिशीलन और अभ्यास करें क्योंकि मोहांधकारसे व्याप्त इसलोकमें यह शास्त्र समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, मायारूपी व्याधिकेलिये प्रबल औषध है, धनका कारण है, अतींद्रिय भी पदार्थोंको दिखानेवाला नेत्र है और समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। यदि किसी मनुष्यकी ऐसे कल्याणकारी शास्त्रमें भी भक्ति नहीं तो समझना चाहिये उस मनुष्यकी क्रियायें अंधे मनुष्यकी क्रियाओंके समान निष्फल हैं धर्मके अभावमें तीव्र अशुभ कर्मके बंधको करनेवाली होनेसे निकृष्टफलके देनेवाली हैं ॥ ७०-७४ ॥

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनं।

रागादिदोषदुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥ ७५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार मलिन भी वस्त्र जलसे शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार राग आदि दोषोंसे दुष्ट भी मन शास्त्रसे शुद्ध हो जाता है । भावार्थ–वस्त्र कैसा भी मलिन क्यों न हो यदि वह जलसे धोया जायगा तो अवश्य शुद्ध हो जायगा उसीप्रकार मन भी राग द्वेष आदि दोषोंसे कितना भी दुष्ट क्यों न हो यदि शास्त्रका विचार अभ्यास किया जायगा तो वह अवश्य शुद्ध होजायगा इसलिये जो पुरुष अपने मनको शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इसवातको भलेप्रकार जानकर कि, जिसप्रकार मलिन वस्त्रके शुद्ध करनेमें प्रधान कारण जल है उसीप्रकार राग द्वेष आदि दोषोंसे दूपित मनके शुद्ध करनेमें प्रधान कारण शास्त्र है' अवश्य पूर्णरूपसे शास्त्रका अभ्यास मनन परिशीलन करें ॥ ७५ ॥

आगमे शाश्वती बुद्धिर्मुक्तिस्त्रीशंफली यतः ।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा ॥ ७६ ॥

अर्थ–सदा शास्त्रमें भलेप्रकार लगीहुई बुद्धि मोक्षरूपी स्त्रीकी दूती है इसलिये जो संसारके भयसे भीत भव्य मनुष्य हैं उन्हें चाहिये कि वे वड़े यत्नसे बुद्धिको शास्त्रमें स्थिर रक्खें। भावार्थ–जिसप्रकार दूती अपनी स्वामिनी स्त्रीसे मनुष्यको जल्दी मिला देती है उसीप्रकार सर्वदा शास्त्रमें लगी हुई बुद्धि भी मोक्षको प्राप्त करादेती है इसलिये जो मनुष्य संसारके दुखोंसे भीत हैं उन्हें चाहिये कि वे वड़े यत्नसे शास्त्रमें बुद्धिको स्थिर रक्खें जिससे उन्हें जल्दी मोक्षरमणीका समागम प्राप्त हो जाय ॥ ७६ ॥

कांतारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः । यथांधो नाश्नुते मार्गमिष्टस्थानप्रवेशकं ॥ ७७ ॥
पतितो भवकांतारे कुमार्गापरिहारतः । तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्गं मुक्तिप्रवेशकं ॥ ७८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार दुर्गम वनके अंदर पडेहुये अंधे मनुष्यको खड्डा आदिसे रहित और अभीष्ट स्थान पर पहुंचानेवाला मार्ग नहिं मिलता उसीप्रकार शास्त्रोंको न जानकर जो मनुष्य संसाररूपी वनमें भटकता फिरता है उसे भी कुमार्गसे रहित और मोक्षस्थानमें पहुचानेवाला उत्तम मार्ग नहिं मिलता । भावार्थ–ऊपर कहदिया गया है कि शास्त्र नेत्र है जो पुरुष शास्त्रका ज्ञाता नहीं वह सूझता होकर भी अंधा है क्योंकि जिसप्रकार दैवयोगसे वनमें पहुंचा हुआ

अंधा पुरुष नगरमें अपने इष्ट स्थानपर आना चाहता है परंतु मार्गके न मिलनेसे वह इधर उधर वनके खड्डोंमें गिरता हुआ भटकता फिरता है-नगरमें नहिं आसकता उसीप्रकार जो पुरुष शास्त्रका ज्ञाता नहीं वह कुमार्गोंपर चलनेके कारण संसारमें घूमता रहता है उत्तम मार्ग-मोक्षमार्गपर नहिं आसकता इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे अवश्य शास्त्रोंका अभ्यास मनन और परिशीलन करें क्योंकि जिसप्रकार नेत्रवाला मनुष्य उत्तम मार्गको देखकर अपने अभीष्ट स्थानपर सुखपूर्वक आजाता है उसीप्रकार शास्त्रोंका ज्ञाता मनुष्य भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्ष मार्गपर गमनकर मोक्षस्थान प्राप्त करलेता है ॥ ७७–७८ ॥

यतः समेप्यनुष्ठाने फलभेदोभिसंधितः । स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव ॥ ७९ ॥
वहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः । नानाफलोपभोक्तॄणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः ॥८०॥

भावार्थ–जोतना बोना आदि समानरूपसे कार्योंके करनेपर भी जिस खेतमें योग्य जल दिया जाता है उसीमें धान्यकी उपज अच्छी होती है अन्यमें नहिं होती इसलिये जिसप्रकार खेतीमें जल मुख्य है उसीप्रकार अन्य समस्त कार्योंके समानरूपसे करनेपर भी जैसा अभिप्राय होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है इसलिये अभिप्राय ही मुख्य है और वह अभिप्राय रागरूप द्वेषरूप आदिके भेदसे वा नानाप्रकारके फलोंको भोगनेवाले मनुष्योंकी बुद्धि आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है ॥ ७९–८० ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहास्त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः ।
सर्वकर्माणि भिद्यंते तद्भेदाच्च शरीरिणां ॥ ८१ ॥

अर्थ–पहले श्लोकमें जो बुद्धि आदिके भेदसे अभिप्राय अनेक प्रकारका बतलाया है वहां आदि शब्दसें ज्ञान और असंमोह लिये गये हैं अर्थात् बुद्धि ज्ञान और असंमोह ये तीन भेद अभिप्रायके हैं और इनमें परस्पर भेद होनेसे मनुष्योंके समस्त कार्योंके फलमें भी भेद हो जाता है ॥ ८१ ॥

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकं ।

तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो इंद्रियोंके अवलंबनसे हो वह बुद्धि, आगमकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, और श्रेष्ठ अनुष्ठान सहित वह ज्ञान ही असंमोह है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें बुद्धि ज्ञान और असंमोहका नाम कहा है उनमें इंद्रियोंकी प्रवृत्तिके अनुसार चलनेका अभिप्राय होना बुद्धि, आगमकी आज्ञापूर्वक चलनेका अभिप्राय होना ज्ञान और श्रेष्ठ अनुष्ठानपूर्वक ज्ञान ही असंमोह है ॥ ८२ ॥

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमं।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये ॥ ८३ ॥ (?)

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनूमतां।
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जीवोंके बुद्धिपूर्वक जितने कार्य हैं वे समस्त संसाररूप फलके देनेवाले हैं क्योंकि वे परिणाममें विरस हैं। भावार्थ—पहिले कहा जा चुका है कि इंद्रियविषयोंके अनुसार प्रवृत्ति होनेके भावको बुद्धि कहते हैं। तो जो कार्य इंद्रियोंकी इच्छाके अनुरूप किया जाता है उससे अवश्यही विनाशीक और अंतमें दुखदायी फलकी प्राप्ति होती है दुःखदायी फलकी प्राप्तिसे परिणाम संक्लेशमय रागद्वेषरूप होते हैं राग द्वेषके होनेसे कर्मबंध और कर्मबंधसे संसारमें घूमना पड़ता है ॥ ८३-८४ ॥

तान्येव ज्ञानपूर्वाणि जायंते मुक्तिहेतवे।
अनुबंधः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥ ८५ ॥

अर्थ—तथा यदि वे ही कार्य ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो मोक्षके कारण होते हैं क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। भावार्थ—आगमकी आज्ञानुसार इंद्रियोंकी प्रवृत्ति करनेके—तप तपनेके भावको ज्ञान कहते हैं। तो जो ज्ञान-पूर्वक कार्य किये जाते हैं वे मुक्तिदायक होते हैं। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानपूर्वक कार्योंके करनेसे

तो मुक्ति मिलती नहीं मुक्ति तो शुद्धात्मध्यानसे होती है क्योंकि यहां कारणमें कार्यका उपचार किया गया है अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार प्रवर्त्तनेसे कषायोंका नाश, कषायोंके नाशसे स्वाध्यायकी सिद्धि, स्वाध्यायकी सिद्धिसे आत्मध्यानकी प्राप्ति और आत्मध्यानसे मुक्ति मिलती है इसलिये ज्ञानपूर्वक कार्योंके करनेसे मुक्तिमें साक्षात् हेतु जो आत्मध्यानरूप कार्य, वह सिद्ध होता है अतः उसके कारणरूप ज्ञानपूर्वक कार्योंको भी मुक्तिका हेतु कह दिया है ॥ ८५ ॥

संत्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यंतशुद्धितः ।
निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनां ॥ ८६ ॥

अर्थ–तथा जो कार्य असंमोहपूर्वक होते हैं वे अत्यत शुद्ध होनेके कारण मोक्षमार्गपर गमनकरनेवाले जीवोंको मोक्ष-सुखके प्रदान करनेवाले होते हैं। भावार्थ–जिन कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण असंमोह होता है वे कर्म अत्यंत शुद्ध होते हैं और मोक्षमार्गपर गमनकरनेवाले मनुष्योंको वे निर्वाण कल्याणकी प्राप्ति कराते हैं ॥ ८६ ॥

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमं ।
भवभोगविरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः ॥ ८७ ॥

अर्थ–जिन महानुभावोंका चित्त कर्मजनित भावोंमें निरुत्सुक है-जो कर्मजनित भावोंमें लालसा नहिं रखते और संसार-के भोगोंसे विरक्त हैं वे मोक्षमार्गपर गमन करनेवाले कहे जाते हैं। भावार्थ–स्त्री धन धान्य आदि समस्त पदार्थ कर्म-जनित हैं जैसे जीवके कर्म होते हैं उनके अनुसार उसै पुत्र आदि पदार्थोंकी प्राप्ति होती है । जो महानुभाव स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंको विनाशीक और अहितकारी मान उनकेलिये लालायित नहिं होते और सर्वदा संसारके भोगोंसे विरक्त रहते हैं वे पुरुष भवातीताध्वगामी–मोक्षमार्गपर गमन करनेवाले गिने जाते हैं इसलिये उत्तम पुरुषको चाहिये कि वे पुत्र स्त्री आदि किसी भी सांसारिक पदार्थको न अपनावें ॥ ८७ ॥

एक एव सदा तेषां पंथाः सम्यकपरायिणां ।
व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदोऽपि जायते ॥ ८८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार व्यक्तियोंमें सामान्य–समानताद्योतक धर्म एक होता है तो भी उसकी अवस्थामें विशेपत्वकी

अपेक्षा भेद होजाता है उसीप्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं उनका सामान्यरूपसे तो मार्ग-मोक्षका मार्ग एक ही है तो भी कथंचित् विशेषत्वकी अपेक्षा उसकी दशामें भेद हो जाता है इसलिये भिन्न भी है। भावार्थ—जिसप्रकार समस्त मनुष्य आदि मनुष्यत्व आदिकी अपेक्षा एक हैं तो भी क्षत्रियत्व, ब्राह्मणत्व आदि वा कृष्णत्व गौरत्व आदिकी अपेक्षा उनकी अवस्थामें भेद होनेसे भिन्न हैं उसीप्रकार समस्त मोक्षगामियोंका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्ष-मार्ग तो एक ही है परंतु क्षायोपशमिक आदिके भेदसे कथंचित् भिन्न भी है अर्थात् कोई सम्यग्दृष्टि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन आदि रूप मोक्षमार्गपर गमन कर रहा है कोई औपशमिक रूपपर और कोई क्षायिकरूपपर । इसलिये तो तीनों भिन्न २ मार्गानुगामी हैं परंतु वे सब ही सम्यग्दर्शन आदि रूप मार्गपर गमन कर रहे हैं इसलिये एक मार्गानुगामी भी हैं

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणं ।
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ ८९ ॥

अर्थ—मोक्ष निर्वाण आदि शब्दोंके भेद होनेपर भी वास्तविकरूपसे निर्वाण नामका तत्त्व एक ही है और उसका स्वरूप संसारसे रहितपना है। भावार्थ—मोक्षके सिद्धि निर्वाण अव्याबाधस्थान निर्वृति आदि अनेक नाम हैं तथा एक मनुष्य यदि उसके स्वरूपका सिद्धिके नामसे वर्णन करता है तो दूसरा मनुष्य उसके स्वरूपका मोक्षके नामसे और तीसरा निर्वाणके नामसे वर्णन करता है परतु यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो ये सब एक ही पदार्थके पर्याय हैं क्योंकि निर्वाण निर्वृति आदि अनेक नामोंके कहनेपर भी उसके मूलतत्त्व-मोक्षके स्वरूपमें कुछ भेद नहीं है इसलिये निश्चयनयसे तो उसका नाम एक ही है और व्यवहारसे उसके बहुतसे नाम हैं तथा उस मोक्षका शुद्ध स्वरूप संसारसे रहितपना है अर्थात् जिससमय यह जीवात्मा संसारके दुःखोंसे रहित होकर निराकुलतामय अचिंत्य सुखका अनुभव करता है उससमय मोक्षस्वरूप कहा जाता है ॥ ८९ ॥

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माऽभवः शिवः ।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥ ९० ॥

अर्थ—विमुक्त निर्वृत सिद्ध परंब्रह्मा अभव और शिव ये सब शब्द अन्वर्थ-समान अर्थके वाचक हैं इसलिये शब्दोंके

भेद होनेपर भी परमात्मामें भेद नहीं- ये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं। भावार्थ–जिसने समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष प्राप्त करली हो वह विमुक्त है, निर्वृतिको प्राप्त करनेवाला निर्वृत, सिद्धिको प्राप्त करनेवाला सिद्ध, विशुद्ध आत्माका धारक परंब्रह्म, जन्म मरणसे रहित अभव और कल्याणस्वरूप शिव कहा जाता है। यद्यपि यहांपर परमात्माके नामोंमें भेद है परंतु मूल एक ही है अर्थात् जो परमात्मा विमुक्त है वही निर्वृत सिद्ध परंब्रह्म अभव और शिव है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे नामोंके भेदसे परमात्मामें भेद न मानें और समस्त कर्मोंसे रहित एवं ज्ञान आदि गुणोंके भंडार उस परमात्माका विमुक्त आदि किसी भी नामसे आराधन करें ॥ ९० ॥

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषं।
कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः ॥ ९१ ॥

अर्थ–जो महानुभाव मोक्षके लक्षणमें विसंवादरहित हैं-मोक्षका जो लक्षण है वह जिन्हें यथार्थ मालूम है वे उसे निराबाध-बाधारहित निराकुलतामय सुखका भंडार, अकल्मष-ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंसे रहित और जन्म मरणसे रहित होनेकेकारण कार्यकारणपनेसे रहित कहते हैं। भावार्थ–मोक्षस्थान समस्तप्रकारकी बाधाओंसे रहित निराकुलतामय है, समस्त कर्म और उनके भेद प्रभेदोंसे रहित है, और जन्म मरणसे रहित होनेके कारण कार्यरूप और कारणरूप भी नहीं है ऐसा, जिन पुरुषोंको निर्दोष मोक्षका लक्षण मालूम है, वे उसे कहते हैं ॥ ९१ ॥

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः। मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते ॥ ९२ ॥
सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः। प्रांजलोयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते ॥ ९३ ॥

अर्थ–जो पुरुष मुमुक्षु हैं-मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं वे जिससमय निर्भ्रांत हो वास्तविक रूपसे मोक्षका पूर्वोक्त स्वरूप जानलेते हैं उससमय उन्हें मोक्षकी युक्तियोंके विषयमें किसीप्रकारका विवाद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह मोक्षका मार्ग भगवान सर्वज्ञने देखा है इसलिये निर्दोष है और कभी उसमें भेद नहिं हो सकता। भावार्थ–जबतक मोक्षका वास्तविक स्वरूप नहिं जाना जाता तबतक उसके ज्ञानमें अनेकप्रकारके वाद विवाद उपस्थित हो जाते हैं किंतु जिससमय निर्भ्रांत हो मोक्षके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होजाता है उससमय उसके विषयमें जरा भी कोई विवाद नहिं उपस्थित होता क्योंकि भगवान सर्वज्ञके बतलाये हुये मार्गमें रंचमात्र भी फर्क नहि आसकता ॥ ९२–९३ ॥

विचित्रा देशना तत्र भव्यचित्तानुरोधतः ।
कुर्वंति सूरयो वैद्या यथा व्याध्यनुरोधतः ॥ ९४ ॥

अर्थ—तथा जिसप्रकार वैद्य व्याधिके अनुकूल औषध करते हैं उसीप्रकार आचार्य भी भव्योंके चित्तके अनुसार नानाप्रकारके ग्रंथोंका निर्माणकर उपदेश करते हैं। भावार्थ—जिससमय वैद्य रोगीके रोगको देखता है उससमय उसी रोगके अनुकूल औषध प्रदानकर उसै आराम कर देता है उसीप्रकार आचार्य भी भव्योंकी जैसी रुचि देखते हैं उसीके अनुसार ग्रंथोंका निर्माणकर भव्योंके चित्तको निर्दोष बना देते हैं-भव्योंको उपदेश देनेमें वे किसीप्रकारकी वंचना नहिं करते इसलिये विद्वानोंको इसबातका गाढ़ विश्वास रखना चाहिये कि आचार्योंद्वारा बनाये गये ग्रंथोंमें जो कुछ मोक्ष आदिके स्वरूप आदि वर्णन कियेगये हैं वे सब यथार्थ हैं भिन्न २ नयोंकी अपेक्षासे हैं उनमें रत्तीभर भी फर्क नहीं क्योंकि आचार्यगण भगवान सर्वज्ञ वीतरागके मार्गके अनुगामी होते हैं और राग द्वेषकी कालिमासे रहित होनेकेकारण उनका वंचक उपदेश नहिं होता ॥ ९४ ॥

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः ।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थत : ॥ ९५ ॥

अर्थ—व्यवहारसे तो मोक्षका कारण उपर्युक्त-अर्थात् व्यवहार चारित्र है और निश्चयनयसे विविक्तचेतनध्यान-निश्चयचारित्र मोक्षका कारण है। भावार्थ—तप व्रत आदिका आचरण करना व्यवहारचारित्र है और जिसमें केवल आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान हो उसै निश्चयचारित्र कहते हैं। व्यवहारनयसे व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण है और निश्चयनयसे निश्चयचारित्रको मोक्षका कारण कहा है ॥ ९५ ॥

यो व्यावहारिकः पंथा स भेदद्वयसंगतः । अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥ ९६ ॥
निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिनभाषितं । संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं परभाषितं ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो व्यवहार मार्ग बताया है उसके दो भेद हैं और उनमें एक भेद (एक मार्ग) मोक्षके अनुकूल है और दूसरा

संसारके अनुकूल है। जिस चारित्रका भगवान जिनेंद्रने प्रतिपादन किया है वह तो मोक्षका अनुकूल मार्ग है और जिस चारित्रका प्रतिपादन दूसरोंने किया हैं वह संसारके अनुकूल मार्ग है । भावार्थ—तप व्रत आदिका आचरण करना जो व्यवहार चारित्र बतलाया है वह दो प्रकारका है—एक तो जिनभाषित और दूसरा परभाषित । उसमें जिनभाषित चारित्रके आचरणसे ही मोक्ष मिलती है क्योंकि वह सर्वज्ञके द्वारा देखा जानेकेकारण सत्य है और जो परभाषित चारित्र है उससे संसारमें ही घूमना पड़ता है क्योंकि वह रागी द्वेषियोंद्वारा प्रतिपादित होनेसे मिथ्या है । इसलिये जिनभाषित चारित्रका आचरण ही श्रेयस्कर है ॥ ९६--९७ ॥

चारित्रं चरतः साधोः कषायेंद्रियनिर्जयः ।
स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥ ९८ ॥

अर्थ--जो साधु, भगवान जिनेंद्रद्वारा प्रतिपादित चारित्रका आचरण करता है उसके कषाय और इद्रियोंका विजय होता है । कषाय और इद्रियोंके विजयसे स्वाध्यायमें चित्त लगता है । स्वाध्यायमें चित्त लगनेसे ध्यानमें प्रवृत्ति होती है और ध्यानके करनेसे निर्वाणका समागम मिलता है-मोक्षकी प्राप्ति होती है । भावार्थ—कषाय और इंद्रियोंका वश न करना दु:खकी जड़ है जबतक कषाय और इंद्रियोंका दमन नहिं किया जाता तबतक संसारमें घूमना पडता है और नानाप्रकारके क्लेश भोगने पड़ते हैं किंतु जो साधुगण वीतराग भगवानद्वारा प्रतिपादित निर्दोष चारित्रका आराधन करते हैं वे क्रोध आदि कषाय और इद्रियोंको जीत लेते हैं । कषाय और इंद्रियोंके वश हो जानेपर उनका चित्त स्वाध्यायकी ओर ऋजु होता है। स्वाध्यायसे वास्तविक आत्मस्वरूपका ज्ञान और उसके होजानेसे ध्यानमें प्रवृत्ति होती है तथा ध्यानमें प्रवृत्ति होनेसे समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है--उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य निर्दोष चारित्रका आराधन करै ॥ ९८ ॥

इदं चरित्रं विधिना विधीयते ततः शुभध्यानविरोधिरोधकं ।
विविक्तमात्मानमनंतमीशते न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः ॥ ९९ ॥

अर्थ—सम्यक्चारित्र शुभध्यानके विरोधी जो कार्य हैं उनका रोकनेवाला है और इसके विना आराधन किये साधु-

गण समस्तकर्मोंसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान नहिं कर सकते इसलिये सम्यक्चारित्रका अवश्य विधिपूर्वक आचरण किया जाता है । भावार्थ–जबतक शुद्धध्यानकी प्रगटता आत्माके अंदर नहिं होती तबतक कर्मोंसे रहित विशुद्ध आत्माका ध्यान नहिं होता, शुद्धध्यानकी प्रगटता उसीसमय हो सकती है जब कि उसके विरोधी कारणोंका निरोध हो जाता है और उसके विरोधी कारणोंका निरोध सम्यक्चारित्रसे होता है इसलिये विशुद्ध आत्माके ध्यानके प्रेमियोंको चाहिये कि वे अवश्य सम्यक्चारित्रका आराधन करैं ॥ ९९ ॥

रागद्वेषप्रपंचभ्रममदमदनक्रोधलोभव्यपेतो
यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः ।
स ध्यात्वात्मस्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं
त्यक्त्वा कर्मारिचक्रं परमसुखमयं सिद्धिसद्म प्रयाति ॥ १०० ॥

अर्थ--राग द्वेष प्रपंच (छल छिद्र कपट) भ्रम (मिथ्याज्ञान अहंकार) काम क्रोध और लोभ आदिसे रहित, संसारके परिभ्रमणकी इच्छासे विमुख जो बुद्धिमान पुरुष पवित्र चारित्रका आचरण करता है वह समस्तप्रकारके पापोंसे रहित, अविनाशी, और अध्यात्मज्ञानके विषयभूत आत्माके स्वभावका ध्यानकर एवं कर्मरूपी वैरियोंका सर्वथा नाशकर परम सुखस्वरूप मोक्षमहलमें प्रवेश करता है । भावार्थ–जो मनुष्य राग द्वेष छल छिद्र कपट मिथ्याज्ञान अहंकार काम क्रोध लोभ आदिसे रहित और संसारके परिभ्रमणसे विमुख होकर सम्यक्चारित्रका आराधन करता है वही समस्त प्रकारके पापोंसे रहित, अविनाशी और अध्यात्मज्ञानके विषयभूत आत्माके स्वभावका ध्यान करसकता है उसीके कर्म नष्ट हो सकते हैं और वही निराकुलतामय सुखके स्थान मोक्षमहलमें निवास करता है इसलिये जिस-महानुभावको विशुद्ध अविनाशी आत्माके स्वभावके ध्यानकी इच्छा है–जो समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षमहलमें विराजना चाहता है उसे चाहिये कि वह राग द्वेष आदिसे मुख मोडे और भलेप्रकार सम्यक्चारित्रका आचरण करै ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रथमें चारित्राधिकार समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानंदोस्ति निर्वृतः ।
न चैतन्यस्वभावस्य नाशो नाशप्रसंगतः ॥ १ ॥

अर्थ--मुक्तात्मा-सिद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप स्वभावके धारक हैं सदानंदमय हैं-सर्वदा निराकुलतामय आनंदके भोगनेवाले हैं उनके चैतन्य स्वभावका नाश नहिं होता क्योंकि यदि सम्यग्दर्शन आदि चैतन्य स्वभावोंका नाश स्वीकार करलिया जायगा तो मुक्तात्माका ही नाश हो जायगा। भावार्थ--पहिले कह दिया गया है कि बहुतसे सिद्धांतकारोंका यह सिद्धांत है कि जिससमय जीवात्माकी मोक्ष होजाती है उससमय उसके ज्ञान आदि चैतन्य गुणोंका नाश हो जाता है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे गुण गुणीमें अभेद है जो गुणी है वह गुण हैं और जो गुण हैं वह गुणी है यदि मोक्ष अवस्थामें चैतन्य गुणोंका नाश माना जायगा तो गुणी आत्मा ही न स्थिर रह सकैगा। यदि यह कहा जाय कि गुण गुणीका अभेद है ही नहीं, तो यह भी बात मिथ्या है क्योंकि गहरी दृष्टिसे विचारनेपर स्पष्टरूपसे विद्वानोंको गुण गुणीका अभेद मालूम पड़ जाता है इसलिये मोक्ष अवस्थामें चैतन्यस्वभावोंका नाश हो जाता है यह बात सर्वथा मिथ्या है किंतु मुक्तात्मा सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनस्वरूप और अनुपम आनंदका भोगनेवाला सम्यक्चारित्रस्वरूप है ॥ १ ॥

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकं ।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः ॥ २ ॥

अर्थ--चैतन्य आत्माका निरर्थक-कर्मजनित वैभाविक गुण नहीं है क्योंकि वह कर्मका स्वभाव है वा विभाव है यह विचार ही युक्तियुक्त नहीं ठहरता। भावार्थ--पहिले श्लोकमें मुक्त जीवके ज्ञानादि चेतनगुण नहीं नष्ट होते इस विषयमें यह उत्तर दे आये हैं कि वे ज्ञानादि जीवके स्वभाव हैं और स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता इसलिये वे सर्वदा बने रहते हैं। यदि वहां कोई यह शंका करै कि-अच्छा ! हम ज्ञानादिको जीवका स्वभाव न मानकर विभाव मानेंगे तब तो उनका नाश होना चाहिये। तो उसका ग्रथकारने इस श्लोकसे यह समाधान दिया है कि-ज्ञानादिको जीवका स्वभाव न मानकर यदि विभाव मानोगे तो यह बतलाओ कि--यह कर्मका स्वभाव है या विभाव ? यदि स्वभाव है तब तो

कर्म चेतन ठहरते हैं और यह बात ठीक नहीं। यदि विभाव है तो फिर स्वभाव किसका ? इसलिये जीवके कर्मजनित विभाव पर्याय ज्ञानादि गुण हैं यह विचार युक्त नहीं ठहरता ॥ २ ॥

निरर्थकस्वभावत्वे ज्ञानभावानुषंगतः। न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वानुषंगतः ॥ ३ ॥

प्रकृतेश्चेतनत्वं स्यादात्मत्वं दुर्निवारणं। ज्ञानात्मके न चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते ॥ ४ ॥

अर्थ–यदि चैतन्यको आत्माका निरर्थकस्वभाव–कर्मजनित विभावपर्याय माना जायगा तो कर्मोंमें ज्ञानत्व भी मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है परंतु ज्ञान कर्मका धर्म नहीं है। यदि ज्ञानको कर्मका धर्म भी मान लोगे तो उसे चेतन भी मानना पड़ेगा क्योंकि ज्ञान, चैतन्यस्वरूप है। और यदि कर्मको चेतन भी मान लोगे तो फिर उस–कर्ममें और आत्मामें कोई भेद ही न रह जायगा–कर्म और आत्मा एक ही पदार्थ होजा-यगे इसलिये ज्ञानात्मक आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभाव–विभावपर्याय कभी नहीं हो सक्ता ॥ ३–४ ॥

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः। विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः ॥५॥

यथा चंद्रे स्थिता कांतिर्निर्मले निर्मला सदा। प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः ॥ ६ ॥

तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा। प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः ॥ ७ ॥

जीमूतापगमे चंद्रे यथा स्फुटति चंद्रिका। दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥ ८ ॥

अर्थ–विद्यमान पदार्थका कभी भी नाश नहिं होता इसलिये मोक्ष अवस्थामें आत्माका अभाव नहिं कहा जा सक-ता। जिसप्रकार निर्मल चंद्रमामें निर्मल कांति विद्यमान रहती है और उसकी प्रकृति एवं विकृतिमें कारण मेघ हैं उसीप्रकार निर्मल आत्मामें निर्मल ज्ञानकी विद्यमानता रहती है और उसके प्रकार वा विकार कर्मजनित हैं-कर्मोसे उत्पन्न हुये हैं तथा जिसप्रकार मेघके नाश हो जानेपर चंद्रमाकी कांति स्फुटरूपसे प्रकाशमान हो जाती है उसीप्रकार जिससमय आत्मासे कर्मका संबंध छूट जाता है उससमय देदीप्यमान शुद्ध ज्ञान विकसित हो जाता है। भावार्थ–बौद्धोंका सिद्धांत है कि मोक्ष अवस्थामें आत्माका अभाव हो जाता है क्योंकि उन्होंने समस्त पदार्थोंको क्षणिक माना है उनके मतमें पदार्थ हरएक क्षणमें नष्ट होता रहता है और जो पदार्थ नष्ट होता है वह अपना संस्कार दूसरेमें डालता जाता

१७१

है इसलिये उस पदार्थकी संतान बनी रहती है एवं इसीयुक्तिसे उन्होंने दीपकके बुझनेके समान आत्माके बुझनेको मोक्ष माना है अर्थात् उनका सिद्धांत है कि जिसप्रकार दीपककी लो प्रतिमसय निकलती रहती हैं किंतु जिससमय वे समाप्त हो जाती हैं उससमय दीपक बुझ जाता है उसीप्रकार आत्मसंतान--ज्ञानसंतान भी प्रतिसमय पलटती रहती है और जिससमय वह नष्ट होजाती है उससमय आत्माकी मोक्ष हो जाती है-मोक्ष अवस्थामें आत्मा कोई पदार्थ नहिं रहता। परंतु यह सिद्धांत ठीक नहीं। क्योंकि प्रथमतो कोई संतान पदार्थ है यही बात अप्रमाणीक है क्योंकि संतानकी सिद्धिमें कोई निर्दोष प्रमाण नहीं। दूसरे-यह नियम है कि जो पदार्थ विद्यमान रहता है उसका कभी नाश नहि होता। आत्मा पदार्थ विद्यमान है इस कारण उसका भी कभी नाश नहिं हो सकता इसलिये मोक्ष अवस्थामें आत्माकी नास्ति नहि हो सकती। तथा नैयायिक आदि मोक्षमें ज्ञानकी मोजूदगी नहिं मानते परंतु यह सिद्धांत भी ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार निर्मल चंद्रमामें उसकी निर्मल कांति विद्यमान रहती है और मेघके कारण उसका भेद वा विकार हो जाता है अर्थात् वह कहीं भदमेली कहीं स्वच्छ दीख पड़ती है उसीप्रकार विशुद्ध आत्मामें विशुद्धज्ञान विद्यमान रहता है और ज्ञानावरण आदि कर्मके संबंधके कारण उस ज्ञानके मतिज्ञान आदि भेद वा विकार उत्पन्न हो जाते हैं एवं जिसप्रकार मेघ पटलके नष्ट हो जानेपर चंद्रमाकी कांति स्फुटरूपसे छटकने लगती है उसीप्रकार जिससमय कर्मावरणका नाश हो जाता है उससमय शुद्ध ज्ञानकी छटा आत्माके अंदर पूर्ण छटकने लगती है इसलिये इसबातको अच्छीतरहसे जान लेना चाहिये कि विद्यमान पदार्थका कभी नाश नहिं होता--आत्मा विद्यमान पदार्थ है इसलिये उसका कभी नाश नहिं हो सकता तथा ज्ञान भी विद्यमान पदार्थ है इसलिये मोक्ष अवस्थामें उसका भी नाश नहि हो सकता किंतु विरोधी कर्मके नाश हो जानेपर मोक्ष अवस्थामें ज्ञानका असली स्वच्छ स्वरूप प्रकट हो जाता है ॥ ५-८ ॥

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि।
मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥ ९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार तीव्रगतिसे चलता हुआ पवन सूर्यपरसे मेघमंडलको हटादेता है उसीप्रकार योगी भी अपने शुद्धध्यानद्वारा क्षणभरमें आत्मासे कर्मावरणोंको हटादेता है। भावार्थ--सूर्य अत्यंत देदीप्यमान पदार्थ है किंतु जिससमय वह मेघमंडलसे आच्छन्न हो जाता है उससमय उसका प्रकाश ढक जाता है उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञान आदि देदी-

ध्यमान गुणोंका धारक है किंतु कर्मोंसे आच्छन्न होनेके कारण इसके असली ज्ञान आदि गुण व्यक्त नहिं होते परंतु तीव्र गतिसे चलनेवाले पवनसे मेघ पटलके नष्ट होजानेपर जिसप्रकार सूर्य अपनी अखंड दीप्तिसे चमचमा निकलता है उसीप्रकार जिससमय योगीगण अपने तीव्र योग-ध्यानसे कर्मावरणोंको नष्ट करदेते हैं उससमय उनकी आत्माके ज्ञानादि गुण व्यक्त होजाते हैं और उनसे वह जगमगा निकलता है ॥ ९ ॥

विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥ १० ॥

अर्थ–जिस योगके द्वारा कर्मावरणोंसे विविक्त आत्माका ज्ञान हो वही योग प्रशंसनीय है ऐसा, योगके द्वारा समस्त पातकोंका नाश करनेवाले योगियोंका मत है । भावार्थ–योगका समान्य अर्थ ध्यान है और वह आर्त रौद्र आदि भेदसे चारप्रकारका है परंतु यहांपर वही उत्तम ध्यान समझा गया है जिसकेद्वारा समस्त कर्मावरणोंसे रहित शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जाय तथा वे ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं इसलिये योगियोंने इन्ही ध्यानोंको उत्तम और उपादेय ध्यान माना है आर्त रौद्र ध्यानको उत्तम नहिं बतलाया ॥ १० ॥

निरस्तमन्मथातंकं योगजं सुखमुत्तमं ।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहं ॥ ११ ॥

अर्थ–जो सुख उत्तम ध्यानसे उत्पन्न है वही सुख उत्तम है क्योंकि वह कामदेवरूपी यमराजका नाश करनेवाला है, शांतिस्वरूप है, स्थिर है, आत्मिक है, एवं जन्म और बुढ़ापाका नाश करनेवाला है। भावार्थ–जिससुखमें कामदेवका मालिकपना न हो, जो उत्तम, शांतिस्वरूप, स्थिर, आत्मिक, और जन्म मरण एवं बुढ़ापासे रहित हो वही वास्तविक सुख है किंतु इस सुखसे भिन्न सुख नहीं सुखाभास है तथा ऐसा सुख उत्तम ध्यानसे ही प्राप्त होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे अनुपम सुखकेलिये अवश्य उत्तम ध्यानका आराधन करें ॥ ११ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं ।

वदंतीति समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १२ ॥

अर्थ-जो पराधीन हो वह दुःख है और जो स्वाधीन हो वह सुख है इसप्रकार यह संक्षेपसे सुख दुःखका लक्षण है ॥ १२ ॥

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः ।
सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशं ततः ॥ १३ ॥

अर्थ-इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो पुण्यसे उत्पन्न भोग हैं वे पराधीन होनेसे दुःख हैं और जो योगसे उत्पन्न ज्ञान है वह आत्माका स्वरूप और स्वाधीन होनेसे सुख है। भावार्थ-बहुतसे लोग पुण्यसे उत्पन्न विषय भोगोंको ही सुख मानते हैं परंतु वह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे पराधीन-इंद्रिय आदिके अधीन होनेके कारण दुःखस्वरूप हैं सुख तो योगसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है क्योंकि वह आत्मिक और स्वाधीन है ॥ १३ ॥

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरं ।
हेमं क्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ॥ १४ ॥

अर्थ-जिसप्रकार हेम कीट कालिमा आदि मैलके दूर होजानेपर कल्याण शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार मनुष्योंका ध्यान भी निर्मल और स्थिर ज्ञान होजाता है। भावार्थ-यहांपर अशुद्ध सुवर्णको हेम माना है तो जिसप्रकार अशुद्ध सुवर्ण कीट कालिमा आदि मैलसे रहित होजानेपर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार मनुष्यका ध्यान जिससमय शुद्ध चैतन्य अवस्थाको धारण करलेता है उससमय विशुद्ध ज्ञान हो जाता है क्योंकि ध्यानकी दो पर्याय हैं और दोनों चैतन्यस्वरूप हैं ॥ १४ ॥

गंधर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवं ।
स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यते मुग्धबुद्धयः ॥ १५ ॥

अर्थ-जो पुरुष मुग्धबुद्धि हैं स्त्री पुत्र आदिकी ममतामें फसे हुये हैं वे गंधर्वनगरके समान रंग विरंगे विनाशीक और अवस्तुस्वरूप भोगको स्थिर और वास्तव मानते हैं। भावार्थ-जिसप्रकार इंद्रजालियों द्वारा दिखाया गया गंधर्वनगर

रंग विरंगा, विनाशीक और अवस्तुस्वरूप होता है परंतु उसे मूर्ख लोग सच्चा मानते हैं उसीप्रकार भोग भी चित्र विचित्र विनाशीक और अवस्तुस्वरूप हैं परंतु मोहसे मूढ पुरुष उन्हें स्थिर और वास्तविक मानते हैं ॥ १५ ॥

संसारोयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ॥ १६ ॥

चित्तभ्रमकरस्तीव्ररागद्वेषादिवेदनः । यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयं ॥ १७ ॥

अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः ।

अर्थ–यह संसार चित्तको भ्रांत करनेवाला है, तीव्र रागद्वेष आदिका भुगानेवाला है, अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे युक्त है, नाना प्रकारकी जन्म मरण आदि विक्रियाओंका धारक है, अनादि है, अमुख्य है, नाना प्रकारके कर्मोंमें कारण है और समस्त जीवोंकी अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय दो इंद्रिय आदि पर्यायस्वरूप है । भावार्थ–यह संसार सर्वथा दुःखका ही घर है क्योंकि इसमें रहनेवाले मनुष्योंका चित्त सदा भ्रांत रहता है, तीव्र राग द्वेष आदिकी वेदना भोगनी पड़ती अनेक प्रकारकी व्याधि और जन्म मरण आदि दुःखोंका सामना करना पड़ता है। तथा यह अनादि है, अप्रधान है-जी-वका मुख्यस्वरूप नहीं है, नानाप्रकारके कर्मोंका प्रदान करनेवाला है और इसमें रहनेवाले जीव कभी एकेंद्रिय कभी दो इंद्रिय आदि पर्यायोंका धारण करते हैं इसलिये जीवोंकी अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय आदि पर्यायोंका धारक है ॥१६--१७॥

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः ।

न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा ॥ १८ ॥

अर्थ--जिससमय समस्त जन्मविकारोंका और संसारका नाश हो जाता है उससमय जो वास्तविकरूपसे मुक्त हो जाता है वह अमुक्त नहिं होता जो मुख्य-उत्तम हो चुका वह अनुत्तम और जो अखंड ज्ञानस्वरूप हो चुका वह अ-ज्ञान वा अल्पज्ञान स्वरूप नहि होता। भावार्थ–जबतक जीवके जन्म आदिके विकार और संसारका संबंध रहता है तबतक वह मुक्त नहि कहा जाता किंतु जिससमय जन्म आदि विकारोंका संबंध और संसारका नाश हो जाता है उससमय जीव मुक्त उत्कृष्ट और अखंड ज्ञानस्वरूप हो जाता है इसलिये उससमय वह मुक्त हो जानेपर अमुक्त-संसारी, उत्कृष्ट हो जानेपर अनुत्कृष्ट और अखंड ज्ञानस्वरूप होनेपर अल्पज्ञानस्वरूप नहिं होता सदा वह मुक्त उत्कृष्ट और अखंडज्ञानस्वरूप ही रहता है ॥ १८ ॥

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परं।
तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परं ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार व्याधिसे रहित पुरुषको व्याधि नहिं रहती वह स्वस्थ नीरोग हो रहता है उसीप्रकार जो पुरुष पापोंसे मुक्त है उसै संसारमें नहिं घूमना पड़ता सदा वह स्वस्वरूपमें ही लीन रहता है। भावार्थ—जबतक मनुष्य रोगी रहता है तब तक उसके रोग विद्यमान रहता है और जिससमय वह नीरोग हो जाता है उससमय उसके रोग नहिं रहता वह स्वास्थ्यलाभ करलेता है उसीप्रकार जबतक जीव कर्मोंसे संयुक्त रहता है तबतक वह संसारमें घूमता रहता है और जिससमय उसके कर्मावरण नष्ट होजाते हैं उससमय उसे संसारमें नहिं घूमना पड़ता वह स्वस्वरूपमें लीन हो निराकुलतामय मोक्षसुखका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टिते।
यस्य तस्याग्रहाभावान्न भोगा भवहेतवः ॥ २० ॥

अर्थ—अन्य भोग भोगना आदि कार्योंके करनेपर भी जिसका मन शुद्ध ज्ञानमें लीन है उस मनुष्यके आसक्तिके अभावसे भोग संसारके कारण नहिं होते। भावार्थ—जो मनुष्य शुद्ध ज्ञानमें मन न लगाकर बडी लालसासे विषय भोगोंको भोगता है उसे उन भोगोंके भोगनेसे संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है किंतु जो विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होकर अपने मनको शुद्ध ज्ञानमें लीन रखता है उसै संसारमें परिभ्रमण नहिं करना पड़ता ॥२०॥

मायांभो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः। अनुद्विग्नो निराशंकस्तन्मध्ये स न गच्छति ॥
मायातोयोपमा भोगा दृश्यंते येन वस्तुतः। स भुंजानोपि निस्संगः प्रयाति परमं पदं ॥२२॥

अर्थ—जिसप्रकार बुद्धिमान् मृगतृष्णाको वास्तविकरूपसे असत्य समझता है इसलिये किसीप्रकारका उद्वेग और संदेह न कर उसमें नहिं फंसता उसीप्रकार जो पुरुष भोगोंको मृगतृष्णाके समान मिथ्या जानते हैं वे भोगनेपर भी उनमें लिप्त नहिं होते इसलिये निराकुलतामय पदको प्राप्त करलेते हैं। भावार्थ—बालूके स्थानपर जो जलके रूपमें चमकती हुई बालू दीख पड़ती है उसै मृगतृष्णा कहते हैं प्रायः मूर्ख लोग जब प्याससे घबड़ा जाते हैं उससमय प्यासकी बाधा और

किंतु जो बुद्धिमान होते हैं जलकी शकासे मृगतृष्णाकी ओर दोड़ते हैं और जल न मिलनेपर अत्यंत दुःखित होते हैं वे मृगतृष्णाका असली स्वरूप जानकर प्यासे होनेपर भी न कुछ चित्तमें घबड़ाहट लाते हैं और न उन्हें उसमें जलकी शंका होती है इसलिये वे मृगतृष्णाकी ओर दोड़ धूप नहिं करते उसीप्रकार जो मनुष्य भोगोंको अच्छा समझते हैं वे तो उनमें लिप्त रहनेके कारण संसारमें घूमते और अनत दुःख भोगते हैं किंतु जिन बुद्धिमान पुरुषोंको यह ज्ञान है कि भोग मृगतृष्णाके समान असार हैं-कभी उनमें आसक्त होनेसे सुख नहिं मिल सकता इसलिये किसी कारणसे उन्हें भोगते हुये भी उनमें लिप्त नहि होते वे थोड़े ही कालमें कर्मोंके नष्ट होजानेपर आनंदमय स्थान मोक्षकी प्राप्ति करलेते हैं ॥ २१-२२ ॥

भोगांस्तत्त्वाधिया पश्यन्नाभ्येति भवसागरं।
मायांभो जानता सत्यं गम्यते तेन नाध्वना ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मृगतृष्णाका सत्यस्वरूप समझकर मनुष्य उसकी ओर नहिं दोड़ता उसीप्रकार जो पुरुष भोगोंका वास्तविक स्वरूप जानता है वह भी संसाररूपी समुद्रकी ओर नहि झुकता। भावार्थ—जो मनुष्य मृगतृष्णाका स्वरूप नहिं समझता वह तो प्याससे व्याकुल हो मृगतृष्णाकी ओर दोड़ता हैं और जो इसवातको जानता है कि मृगतृष्णा जलका स्थान नहीं वह उसकी ओर झांकता तक भी नहीं उसीप्रकार जो मनुष्य भोगोंको हितकारी मानता हैं वह तो उनकी ओर झुकता और संसारमें परिभ्रमण करता है किंतु जिसको भोगोंका वास्तविक स्वरूप मालूम पड़ जाता है और यह ज्ञान हो जाता है कि भोग महादुःखदायी हैं वह उनकी ओर जरा भी ऋजु नहिं होता एवं उनकी ओर ऋजु न होनेके कारण उसे संसारमें परिभ्रमण भी नहिं करना पड़ता ॥ २३ ॥ तथा—

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शंकितः।
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि भोगमायाविमोहितः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मृगतृष्णाके स्वरूपको ही संदिग्ध रीतिसे जाननेवाला पुरुष जब दूरसे मृगतृष्णाको देखता है तो यह मृगतृष्णा है वा जलस्थान है? ऐसा संदिग्ध होकर 'यदि वहां जल न मिला तो व्यर्थ हैरानगति होगी' इस-

प्रकार हैरानगतिके भयसे उद्विग्न चित्त हो जाता है उसीप्रकार जो पुरुष यह वास्तविक मोक्ष मार्ग है या नहीं ? इसप्रकार मोक्षमार्गमें शंकित है वह भी 'यदि कठिन चारित्र आदिका आचरण किया और मोक्ष न प्राप्त हुई तो व्यर्थ क्लेश भोगना पड़ेगा' इसप्रकारके भयसे उद्विग्न होकर भोगमायामें मूढ़ हो जाता है ॥ २४ ॥

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःखपरंपरां ।
चंदनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किं ॥ २५ ॥

अर्थ--जिसप्रकार चंदनसे उत्पन्न भी अग्नि अवश्य जलाती है उसीप्रकार धर्मसे उत्पन्न भी भोग अवश्य दुःखोंको प्रदान करता है। भावार्थ--यद्यपि चंदन शीतल पदार्थ है क्योंकि यदि शरीरमें किसीप्रकारका संताप होजाय तो उसके लेपसे वह तत्काल दूर हो जाता है इसलिये उसके कार्यसे भी शांति मिलनी चाहिये परंतु देखते हैं जब चंदन अग्निमें डाल दिया जाता है अर्थात् चंदन जलाकर अग्नि की जाती है तो वह चंदनकी कार्य भी अग्नि अपना जलाना स्वभाव नहिं छोड़ती-वह अवश्य जलाने लगती है उसीप्रकार धर्म यद्यपि दुःखोंको दूर करनेवाला है और उससे उत्पन्न हुये कार्योंसे सुख मिलना चाहिये परंतु धर्मसे उत्पन्न हुये भोगोंके भोगनेसे अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये भोग कैसे भी सुखदायी नहिं हो सकते ॥ २५ ॥

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानंदाय विपश्चितां ।
न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे ॥ २६ ॥

अर्थ--जिसप्रकार आपत्तिकी सखी लक्ष्मी विद्वानोंको सुखी नहिं बनाती उसीप्रकार पापका मित्र भोग भी मनुष्योंको कल्याणका करनेवाला नहिं होता। भावार्थ--जिसप्रकार लक्ष्मी पासमें रहनेसे अल्प सुख और उसके रक्षणादिसे उत्पन्न महान् दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये उसकी प्राप्तिसे विद्वान आनंद नही मनाते उसीप्रकार भोग अल्प सुखदायी और महान् दुखःके कारण पापके उत्पन्न करनेवाले होनेसे महादुखदायी होते हैं इसलिये वे भी कल्याणदायक नहीं होते अतएव ऐसे पापके कारण भोगोंका न भोगना ही अच्छा है ॥ २६ ॥

भोगसंसारनिर्वेदो जायते पारमार्थिकः ।

सम्यग्ज्ञानप्रदीपेन तन्नैर्गुण्यावलोकने ॥ २७ ॥

अर्थ–जिससमय सम्यग्ज्ञानरूपी दीपकसे भोगोंकी निर्गुणता मालूम पड़ जाती है अर्थात् भोग जरा भी गुणकारी नही यह बात अचलरूपसे हृदयपर अंकित होजाती है उसीसमय वास्तविक भोग और संसारसे वैराग्य होता है। भावार्थ–जबतक संसार और भोगोंका असली स्वरूप नहीं जाना जाता तबतक उनके भोगनेकी लालसा बनी रहती है और उनसे कभी वास्तविक वैराग्य नहिं होता किंतु जिससमय सम्यग्ज्ञानद्वारा उनका असली स्वरूप मालूम पड़ जाता है अर्थात् यह जान लिया जाता है कि भोगोंके भोगनेसे जराभी किसी गुणकी प्राप्ति नहिं होती उससमय वास्तविक वैराग्य हो जाता है इसलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि भोग और संसारसे हमें असली वैराग्य हो जाय उन्हें चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञानका सहारा लें ॥ २७ ॥

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तग्दुणं परं। चित्रदुःखमहावीजे नष्टे सति विपर्यये ॥ २८ ॥
ज्ञानवंतः सदा बाह्यप्रत्याख्यानविशारदाः। ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते परमार्थतः ॥ २९ ॥

अर्थ–जिससमय नानाप्रकारके दुःखोंका प्रधान कारण मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है-उससे सर्वथा विमुखता हो जाती है, उससमय मोक्षके गुणोंका ज्ञान होजानेसे मनुष्यकी मोक्षमें परम भक्ति होजाती है इसलिये जो पुरुष ज्ञानी और बाह्य पदार्थोंके त्यागमें प्रवीण हैं वे वास्तविक रूपसे मिथ्याज्ञानका त्याग करदेते हैं। भावार्थ–इस संसारमें मिथ्याज्ञान नानाप्रकारके दुःखोंका कारण है जबतक यह आत्मामें विद्यमान रहता है तबतक इस संसारका नाश नहिं होता और अपना असली स्वरूप मालूम नहिं पड़ता इसलिये जो ज्ञानवान पुरुष अपनेसे बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेमें प्रवीण हैं वे अनंत दुःखदायी और अपनेसे बाह्यस्वरूप अज्ञानका भी त्याग करदेते हैं ॥ २८–२९ ॥

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः।
विषयैर्विध्यते ज्ञानं न सन्नद्धः शरैरिव ॥ ३० ॥

अर्थ–जिसप्रकार सूर्य अंधकारसे लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानी भी पापोंसे लिप्त नहिं होता तथा जिसप्रकार कवच (वख्तर) पहिना हुआ मनुष्य बाणोंसे वेधा नहिं जाता उसीप्रकार ज्ञान भी विषयोंसे नष्ट नहिं होता। भावार्थ–जिसप्रकार

तेजस्वी सूर्यको मलिन अंधकार नहीं दवा सक्ता उसीप्रकार पाप भी ज्ञानीको लिप्त नहिं कर सकता अर्थात् अज्ञानसे होनेवाला कर्मबंध ज्ञानीके नहीं होता तथा जिससमय मनुष्य संग्रामके अंदर कवच पहिन लेता है उससमय तीक्ष्ण भी वाण जिसप्रकार उसके शरीरको वेध नहि सकते उसीप्रकार जिससमय मनुष्यको दृढ आत्मज्ञान हो जाता है उससमय वलवान भी विषयभोग उस ज्ञानको नष्ट नहि कर सकते ॥ ३० ॥

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहं ।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृतिसाधनं ॥ ३१ ॥

अर्थ–तथा वह ज्ञान अनुष्ठानका स्थान है, मोहरूपी अंधकारका नाश करनेवाला है पुरुषार्थका करनेवाला और मोक्षका कारण है। भावार्थ–ज्ञानपूर्वक कियेगये पूजन आदि कार्य उत्तम फलके देनेवाले होते हैं अज्ञानपूर्वक नहीं इसलिये ज्ञान, पूजन आदि अनुष्ठानोंका स्थान है, मोहरूपी अंधकारका नाशक है, चारों पुरुषार्थकी सिद्धि करनेवाला है और मोक्षका कारण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छंति चिंतिते । तत्तत्त्वं तत्त्वतश्चिंत्यं चिंतांतरनिराशिभिः ॥ ३२ ॥
विविक्तमांतरं ज्योतिर्निराबाधमनामयं । यदेतत्तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥ ३३ ॥

अर्थ–अन्य चिंताओंको न करनेवाले विद्वानोंको चाहिये कि वे वास्तविक रूपसे उसी तत्त्वका विचार करै जिस तत्त्वके चिंतवन करनेसे विकार निर्विकारपनेको प्राप्त हो जांय और वह तत्त्व अंतरंग ज्योति है जो कि विविक्त-समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियोंसे रहित निर्मल है, निराबाध-समस्त प्रकारकी बाधाओंसे मुक्त निराकुलतामय सुखका भंडार है, और अनामय-समस्त प्रकारके रोग आदि दुःखोंसे रहित उत्कृष्ट है एव उससे अन्य समस्त तत्त्व तत्त्व नहीं, दुःख हैं अर्थात् शुद्ध आत्मज्योतिको छोड़कर अन्य तत्त्वके अवलंबनसे अनंत दुःखोंका सामना करना पड़ता है। भावार्थ–यद्यपि संसारमें बहुतसे तत्त्व हैं परंतु उत्तम तत्त्व शुद्ध आत्मा ही है क्योंकि शुद्ध आत्मतत्त्वके आराधन करनेसे काम क्रोध मान आदि विकार सर्वथा नष्ट होजाते हैं इसलिये यह समस्त विकारोंका नाश करनेवाला है तथा समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियोंसे रहित होनेके कारण निर्मल है, निराकुलतामय सुखका भंडार और रोग आदि दुःखोंसे रहित है इसलिये जो उत्तम पुरुष वास्तविक

तत्त्वका स्वरूप चिंतवन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अन्य समस्त प्रकारकी चिंताओंसे रहित होकर इसी परम त-
त्त्वका चिंतवन करै, अन्य तत्त्वकी ओर झांककर भी न देखें क्योंकि अन्य तत्त्व दुःखस्वरूप हैं उनके आराधनसे नानाप्रका-
रके दुःखोंका सामना करना पड़ता है ॥ ३२-३३ ॥

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः ।
निर्वाणं साध्यते यस्मात्समस्ताग्रहवर्जितैः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पुरुष मोक्षभिलाषी हैं—निराकुलतामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसी भी तत्त्वमें आग्रह न
करना चाहिये क्योंकि जो पुरुष समस्त प्रकारके आग्रहोंसे रहित हैं वे ही मोक्ष सिद्ध कर सकते हैं अन्य नहीं। भावार्थ-आ-
ग्रहका अर्थ विवाद है वह विवाद चाहैं शुभ पदार्थमें हो चाहैं अशुभ पदार्थमें हो, मोक्षकी प्राप्तिका सर्वथा प्रतिबंधक है इ-
सलिये जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसी पदार्थमें विवाद न करना चाहिये. क्योंकि समस्त प्रकारके विवा-
दोंसे रहित मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

कर्ताहं निर्वृतेः कृत्ये ज्ञानं हेतुः सुखं फलं ।
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥ ३५ ॥

अर्थ—मैं कर्ता हूं मोक्ष कार्य है, ज्ञान कारण है और सुख, फल है इत्यादि कल्पना मोक्ष तत्त्वमें नहीं क्योंकि वह वि-
कल्पातीत है-समस्तप्रकारके विकल्पोंसे रहित है। भावार्थ—जबतक मोक्ष प्राप्त नहिं होती तबतक मैं मोक्षरूपी कार्यको
करता हूं इसलिये मैं कर्ता और मोक्ष कार्य है। उसकी ज्ञानसे उत्पत्ति होती है इसलिये ज्ञान कारण और सुख फल-कार्य है
इत्यादि कल्पना मोजूद रहती हैं परंतु जिससमय मोक्ष प्राप्त हो जाती है उससमय कर्ता कार्य आदिकी कल्पना नहि रहती
क्योंकि वह विकल्पातीत अवस्था है-भेद कल्पना उसमें रहती ही नहीं ॥ ३५ ॥

आत्मव्यवस्थिता यांति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः ।
व्योमरूपत्वमायांति व्योमस्था किमु पुद्गलाः ॥ ३६ ॥

अर्थ-जिसप्रकार आकाशमें स्थित पुद्गलपरमाणु आकाशस्वरूप नहिं होते उसीप्रकार जो कर्मवर्गणायें आत्मामें स्थित

हैं वे भी आत्मस्वरूप परिणत नहिं होतीं। भावार्थ–भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक पदार्थ चाहैं किसीप्रकार भी आपसमें संबद्ध होजाय कभी वे अपने अपने स्वभावको छोड़कर दूसरेके स्वभावस्वरूप नहिं होते। देखो! जिसप्रकार पुद्गलके परमाणु मूर्तिक हैं और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये अधाराधेय भावसे संबंद्ध होने पर भी वे आकाशके रूप अमूर्तिक नहिं होते उसीप्रकार यद्यपि बहुतसे कर्म आत्माके साथ संबद्ध हैं परंतु वे आत्मस्वरूप परिणत नहिं होते अर्थात् आत्माका जैसा चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव है वैसा कर्मोंका चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव नहि होता–वे तो हरएक अवस्थामें जड़ और मूर्तिक ही रहते हैं ॥ ३६ ॥

स्थावराः कार्मणाः संति विकारास्तेऽपि नात्मनः।
शश्वच्छुद्धस्वभावस्य सूर्यस्येव घनादिजाः ॥ ३७ ॥

अर्थ–जिसप्रकार निरंतर शुद्ध तेजस्वभावके धारक सूर्यके मेघ आदिसे उत्पन्न विकार आत्मिक नहि गिने जाते उसीप्रकार पृथिवी आदि स्थावर कर्मजनित विकार हैं वे आत्माके नहीं गिने जाते। भावार्थ–सूर्य प्रचंड दीप्तिका धारक अत्यंत शुद्ध पदार्थ है और उसमें मेघ आदिके कारण बहुतसे विकार उत्पन्न होते हैं परंतु जिसप्रकार वे सूर्यके न गिने जाकर मेघ आदिके गिने जाते हैं उसीप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पति-रूप स्थावर कर्मोंके विकार हैं इसलिये वे आत्माके विकार नहिं हो सकते ॥ ३७ ॥

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः।
जीवस्य स्फटिकस्येव पुष्पोपाधिभवा मताः ॥ ३८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार निर्मल स्फटिकमें राग-लाल पीले आदि विकार पुष्पकी उपाधिसे उत्पन्न हैं उसीप्रकार जीवके भी राग आदि परिणाम कल्मष-पापरूप उपाधिसे उत्पन्न हैं। भावार्थ–स्फटिक रत्न अत्यंत स्वच्छ पदार्थ है उसमें लाल पीला आदि कोई विकार नहीं परंतु जिससमय उसके सामने हरे पीले आदि पुष्प रखदिये जाते हैं तो वह हरे पीले पुष्पोंके संबंधसे हरा पीला रूप परिणत हो जाता है उसीप्रकार आत्मा अत्यंत शुद्ध पदार्थ है उसमें कैसा भी राग आदि विकार नही परंतु उसमें जो पापरूप उपाधि विद्यमान है उससे वह राग द्वेष आदि स्वरूप परिणत होजाता है ॥३८॥

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनां ।
मृत्पिंडेनेव कुंभाद्या जन्यंते कर्मणाऽखिलाः ॥ ३९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार मिट्टीके पिंडसे घट शरावा आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार कषाय आदि परिणाम भी चेतनाके निमित्तसे कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं। भावार्थ--जिसप्रकार घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी और चाक कुंभार आदि निमित्त कारण हैं उसीप्रकार आत्मामें जो क्रोध आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती हैं उनका उपादान कारण कर्म है और चेतना निमित्त कारण है इसलिये क्रोध आदि आत्माके कार्य नहीं, कर्मोंके कार्य हैं ॥ ३९ ॥

आत्मनो ये परीणामाः मलतः संति कश्मलाः ।
सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ॥ ४० ॥

अर्थ--जिसप्रकार जलमें कल्लोल उत्पन्न होतीं हैं उसीप्रकार कर्मके उदयसे जो आत्मामें मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे कषाय हैं। भावार्थ--जिसप्रकार पवनके द्वारा जलमें कल्लोल उदित होतीहैं और जलको खलवला डालतीं हैं उसीप्रकार कर्मके उदयसे जो आत्मामें मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे भी आत्माको उसके स्वस्वरूपसे विचलित कर खलवला देते हैं और उन मलिन परिणामोंका ही नाम कषाय है ॥ ४० ॥

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः ।
एकनाशे द्वयोर्नाशः स्याद्बीजांकुरयोरिव ॥ ४१ ॥

अर्थ--कालुष्यके अभावसे कर्मोंका अभाव होता है और कर्मसे कालुष्यकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार बीज और अंकुरके समान एकके नाशसे दोनोंका नाश हो जाता है। भावार्थ--जिसप्रकार बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी उत्पत्ति होती है तथा अंकुरके अभावमें बीजका अभाव और बीजके अभावमें अंकुरका अभाव हो जाता है उसीप्रकार कालुष्यसे कर्म, कर्मसे कालुष्य होते हैं इसलिये कालुष्यके अभावमें कर्मोंका अभाव और कर्मोंके अभावमें कालुष्यका अभाव हो जाता है ॥४१॥

यदास्ति कलुषाभावो जीवस्य परिणामिनः ।

परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥ ४२ ॥

अर्थ—परिणमन स्वभावके धारक इस जीवके जिससमय कालुष्यका अभाव हो जाता है उससमय सुवर्णके समान उत्तरोत्तर इसके परिणाम शुद्ध होते चले जाते हैं। भावार्थ—स्वभावसे शुद्ध भी सुवर्ण जिसप्रकार कीट कालिमा आदिके संबंधसे मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों उसकी कीट कालिमा आदि दूर होते जाते हैं त्यों त्यों वह उत्तरोत्तर शुद्ध होता चला जाता है और जिससमय उससे कीट कालिमा आदि सर्वथा जुदे होजाते हैं उससमय वह सर्वथा शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार स्वभावसे विशुद्ध भी आत्मा कालुष्यके संबंधसे मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों इसके कालुष्यका नाश होता जाता है त्यों त्यों यह भी विशुद्ध होता जाता है तथा जिससमय कालुष्यका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय यह सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः।
निर्वातनिस्तरंगाब्धिसमानत्वं प्रपद्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिससमय यह जीव कालुष्यसे रहित होता है उससमय यह निर्विकार और निश्चल हो जाता है इसलिये पवनके अभावमें तरंगरहित शांत समुद्रकी उपमा धारण करता है। भावार्थ—जिससमय पवन चलता है उससमय उसके तीव्र झकोरोंसे समुद्रका जल उथल पुथल हो निकलता है और उससे समुद्र खलबला उठता है उसीप्रकार जबतक आत्मामें क्रोध आदि दुर्भावोंकी विद्यमानता रहती है तबतक उसमें राग द्वेष आदि नानाप्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते हैं और उनसे वह सदा चंचल बना रहता है किंतु जिससमय इसके क्रोध आदि दुर्भाव नष्ट होजाते हैं उससमय इस आत्मामें किसीप्रकारका विकार उत्पन्न नहिं होता और विकारोंके अभावमें यह विनिश्चल अवस्थाको धारण करलेता है।

अक्षज्ञानार्थतो भिन्नं यदंतरवभासते।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययं ॥ ४४ ॥

अर्थ—इंद्रियज्ञानसे भिन्न जो ज्ञान अंतरंगमें प्रतिभासमान मालूम पड़ता है वही अभ्रांत आत्माका स्वरूप है और उसै ज्ञानवान मनुष्य ही जान सकते हैं। भावार्थ—ऊपर कहदिया गया है कि ज्ञान आत्माका वास्तविक स्वरूप है वहांपर

शंका होती है कि किस ज्ञानको आत्माका स्वरूप मानना चाहिये क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञान और आत्मिकज्ञानके भेदसे ज्ञान दो प्रकारका माना है उसका खुलासा यहां ग्रंथकारने किया है कि जो ज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञानसे भिन्न हो, संशय विपर्यय और अनध्यवसाय दोषोंसे रहित और अंतरंगमें प्रतिभासमान हो वही ज्ञान आत्माका वास्तविक स्वरूप है अन्य नहीं ॥ ४४ ॥

यत्रासत्यखिलं ध्वांतमुद्योतः सति चाखिलः ।
अस्त्यपि ध्वांतमुद्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जिसप्रकाशके अभावमें समस्त अंधकार ही अंधकार और जिसकी विद्यमानतामें सब प्रकाश ही प्रकाश प्रतीत होता है और अंधकार भी प्रकाशस्वरूप मालूम पड़ता है वह प्रकाश परमात्माका है । भावार्थ–संसारमें यद्यपि सूर्य आदिके प्रकाश मोजूद हैं परंतु जैसा उत्तम प्रकाश (ज्ञान) परमात्माका है वैसा किसीका भी नहिं है क्योंकि जबतक यह परमात्मप्रकाश–दिव्यज्ञान आत्मामें प्रकट नहिं होता तबतक सब ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होता है–स्पष्टरूपसे किसी भी अर्थका ज्ञान नहिं होता किंतु जिससमय यह प्रकट हो जाता है उससमय सब ओर प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगोचर हो जाता है अर्थात् मूर्तिक अमूर्तिक सब पदार्थ झलकने लगते हैं तथा जो पदार्थ पहिले नहिं जान पड़ते थे उन्हें भी जानलिया जाता है ॥ ४५ ॥

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः । न शक्यंतेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ॥४६॥
नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः । आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥ ४७ ॥

अर्थ–समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने स्वरूपमें स्थित हैं वे कभी परपदार्थसे अन्यथा रूप नहिं किये जासकते अर्थात् कभी परपदार्थ उन्हें अपने रूपमें परिणत नहिं करसकता । आत्मा आकाशके समान निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी है इसलिये परस्परमें संबद्ध हुये भी परद्रव्योंसे कभी वह अन्यथा रूप नहिं किया जासकता अर्थात् जड़ कर्मरूप द्रव्यके संबंधसे वह कभी जड़स्वरूप परिणत नहि होसकता । भावार्थ–पदार्थोंके स्वभाव जुदे २ होते हैं और सब पदार्थ अपने अपने स्वभावोंमें स्थित रहते हैं इसलिये ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो दूसरेके स्वरूपको अपने स्वरूपमें परिणत क-

रले। आकाश निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है उसमें बहुतसे परपदार्थ पुद्गलके परमाणु आदि विद्यमान रहते हैं परंतु वे आकाशको अपने स्वरूप परिणत नहिं करसकते अर्थात् पुद्गलका जैसा मूर्तिक स्वभाव है वैसा आकाशका नहिं होता उसीप्रकार आत्मा भी निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है तथा उससे अनंती कर्मवर्गणाओंका संबंध रहता है परंतु वे आत्माको अपने स्वरूप परिणत नहि करसकतीं अर्थात् कर्मोंका जो मूर्तिक स्वभाव है वैसा आत्माका नहि हो सकता ॥ ४६--४७ ॥

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलंभतः।
इंद्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥ ४८ ॥

अर्थ—शरीर और आत्माका ज्ञान भिन्न २ ज्ञानोंसे होता है इसलिये शरीर और आत्माका आपसमें वास्तविक भेद है क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञानसे शरीर जाना जाता है और स्वसंवेदन-स्वानुभव ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है। भावार्थ—बहुतसे मनुष्योंका सिद्धांत है कि शरीर ही आत्मा है, शरीरसे भिन्न आत्मा कोई पदार्थ नहीं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि शरीर जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतन पदार्थ है वे कभी एक नहिं हो सकते तथा इनके स्वरूपका ज्ञान भी भिन्न २ ज्ञानोंसे होता है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञानसे शरीर जाना जाता है और अहं अहं—मैं मैं इस स्वसंवेदन ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है इसलिये ये दोनों भिन्न हैं क्योंकि यदि दोनों एक होते तो एक ही प्रकारके ज्ञानसे दोनोंका ज्ञान हो सकता था ॥ ४८ ॥

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
बध्यघातकभावोऽस्ति नान्योन्यं जीवकर्मणोः ॥ ४९ ॥

अर्थ—न तो कर्म जीवके गुणोंको नष्ट करता है और न जीव ही कर्मके गुणोंको नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्मका आपसमें बध्यघातक संबंध नहीं। भावार्थ—न्यायशास्त्रमें बध्यघातकभाव, सहानवस्थानलक्षण[1] और प्रतिबध्य-

---

१ एक फलमें एक स्थानपर दो प्रकारके रूप नहिं रह सकते इसलिये एक जगह न रहनेवाले दो रूपोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध है।

२ चन्द्रकातमणिके सामने आते ही अग्निका जलना बंद हो जाता है इसलिये चन्द्रकातमणि और अग्निका आपसमें प्रतिबध्यप्रतिबंधनभाव विरोध है।

प्रतिबंधकभाव ये तीन प्रकारके विरोध माने गये हैं। बध्यघातक विरोधमें बध्यका अर्थ मरनेवाला और घातकका अर्थ मारनेवाला है यह विरोध अहि नकुल, अग्नि जल आदिमें देखनेमें आता है अर्थात् नौला सर्पको मार देता है इसलिये सर्प बध्य और नौला घातक कहा जाता है तथा जल अग्निको बुझा देता है इसलिये अग्नि बध्य और जल घातक होता है यहांपर जीव और कर्ममें यह विरोध देखनेमें नहिं आता क्योंकि यदि कर्म, जीवके गुणोंको नष्टकर करता अथवा जीव कर्मके गुणोंको नष्ट करता तब तो जीव और कर्ममें बध्यघातकभाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्ममें बध्यघातकभाव विरोध नहिं होसकता ॥ ४९ ॥

यदा प्रति परीणामं विद्यते न निमित्तता ।
परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ॥ ५० ॥

अर्थ–जिससमय एक दूसरेके परिणामके प्रति एक दूसरेकी निमित्तता नहिं रहती उससमय उन दोनोंकी जो सर्वथा जुदाई है उसका नाम मोक्ष है। भावार्थ–पुद्गलके ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि परिणामोंमें आत्माके राग आदि परिणाम निमित्त कारण हैं और आत्माके राग आदि परिणामोंमें पुद्गलके ज्ञानावरण आदि परिणाम निमित्त कारण हैं तो जिससमय पुद्गल आत्माके परिणामोंमें कारण नहिं पड़ता और आत्मा पुद्गलके परिणामोंमें कारण नहिं पड़ता अर्थात् जब कि पुद्गल और आत्माकी सर्वथा जुदाई हो जाती है उससमय मोक्ष होती है ॥ ५० ॥

येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ ५१ ॥

अर्थ–आत्माके जैसे २ भाव होते हैं उन्हींके अनुकूल वह परिणत होता जाता है जैसा कि स्फटिकमणि। भावार्थ–स्फटिकमणिके सामने जैसा हरा पीला पुष्प वा अन्य कोई पदार्थ आजाता है तो वह जिसप्रकार उसीके रूप परिणत हो जाता है अर्थात् हरे पुष्प आदि पदार्थके संबंधसे हरा और पीले पुष्प आदि पदार्थके संबंधसे पीला हो जाता है उसीप्रकार इस आत्माके भी जैसे २ शुभ अशुभ परिणाम होते हैं उन परिणामोंके अनुसार यह भी परिणत होता चला जाता है अर्थात् यदि आत्माके परिणाम शुभ रूप होते हैं तो शुभरूप परिणत होजाता है और यदि इसके अशुभ रूप परिणाम होते हैं तो अशुभरूप परिणत होजाता है ॥ ५१ ॥ इसलिये–

येनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपाश्चिता ।
तेनात्ममयतां याति निर्वृत्याऽपरभावतः ॥ ५२ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं- अपने हित अहितको भले प्रकार समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्माको आत्मस्वरूपकी भावनाके अभ्यासमें लगावें जिससे परपदार्थोंसे हटकर उनकी आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त हो जाय । भावार्थ–स्फटिक मणिके समान जब कि आत्मा जैसी भावनाकर परिणमाया जाता है वैसा ही परिणत होजाता है तब विद्वानोंको यह अवश्य चाहिये कि वे उसे अपने शुद्धस्वरूपकी ओर परिणमावें और परपदार्थोंकी तरफ कुछ भी ख्याल न करें जिससे उनकी आत्मा शुद्ध हो जाय ॥ ५२ ॥

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः ।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः कीटेन युज्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार एकवार अग्निकी ज्वाला द्वारा कीट कालिमा आदिसे सर्वथा रहित किया हुआ सुवर्ण फिरसे कीट कालिमासे युक्त नहिं होता उसीप्रकार जो आत्मा कर्मोंसे एकवार रहित हो चुका है वह पुनः कर्मोंसे संयुक्त नहिं होता। भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि आत्माकी मलिनतामें कारण राग द्वेप आदि भाव हैं जब तक आत्मामें इनकी मोजूदगी रहती है तबतक कभी वह शुद्ध नहिं होता और उनके अभावमें शुद्ध हो जाता है एवं जिसप्रकार कीट कालिमा आदिसे सर्वथा रहित होजाने पर सुवर्ण फिर उससे संयुक्त नहिं होता सर्वथा शुद्ध ही बना रहता है उसीप्रकार वह शुद्ध आत्मा भी राग द्वेपरूप कारणोंके अभावमें फिर कर्ममलोंसे मलिन नहिं होता ॥ ५३ ॥

दंडचक्रकुलालादिसामग्रीसंभवेऽपि नो । संपद्यते यथा कुंभो विनोपादानकारणं ॥ ५४ ॥
मनोवचोवपुःकर्मसामग्रीसंभवेऽपि नो । संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणं ॥ ५५ ॥
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणं । मृद्द्रव्यमिव कुंभस्य जायमानस्य योगिभिः ॥५६॥

अर्थ–दंड चाक और कुंभकार आदि सामग्री-कारणोंके रहनेपर भी जिसप्रकार विना उपदान कारणके घट उत्पन्न नहिं हो सकता उसीप्रकार मन वचन कायकी क्रियारूप समग्रीके रहनेपर भी विना उपादानकारणके कर्म भी नहिं

उत्पन्न हो सकते तथा जिसप्रकार उत्पन्न होनेवाले कुंभकी उपादान कारण मिट्टी है उसीप्रकार कर्मका उपादान कारण कालुष्य है। भावार्थ-हरएक कार्यकी उत्पत्तिमें दो प्रकारके कारण माने हैं एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त-कारण। निमित्त कारण तो वाह्य कारण है और उपादानकारण अंतरंग कारण है। घटकी उत्पत्तिमें दंड चाक और कुंभकार आदि निमित्तकारण हैं और मिट्टी उपादान कारण है उसीप्रकार कर्मकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण मन वचन कायकी क्रिया है और कालुष्य उपादान कारण है तथा जिसप्रकार दंड चाक कुंभकार आदि निमित्तकारणोंके मोजूद रहते भी उपादानकारण मिट्टीके विना घट नहिं उत्पन्न होता उसीप्रकार मन वचन और कायकी क्रियाके होनेपर भी जबतक उपादान कारण कालुष्य नहिं रहता तबतक कर्मोंकी उत्पत्ति नहिं होती ॥ ५४-५६ ॥

यथा कुंभमयो जातु कुंभकारो न जायते। सहकारितया कुंभं कुर्वाणोऽपि कथंचन ॥ ५७ ॥
कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन। कुर्वाणोऽपि कषायादीन्, सहकारितया तथा ॥५८॥

अर्थ-जिसप्रकार कथंचित् सहकारी स्वरूपसे घटको करता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहि होता उसीप्रकार सहकारीरूपसे कषाय आदिको करता हुआ भी जीव कषायादिस्वरूप परिणत नहिं होता। भावार्थ-यह नियम है कि उपादान कारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं। घटकी उत्पत्तिमें जिसप्रकार निमित्त कारण कुंभकार है उसीप्रकार कषाय आदि दुर्भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण आत्मा है तथा जिसप्रकार घटकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण होकर घटको बनाता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहिं होता उसीप्रकार कषाय आदि दुर्भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होकर कषाय आदि दुर्भावोंको करता हुआ भी आत्मा कषायस्वरूप परिणत नहिं होता ॥

यः कर्म मन्यते कर्माऽकर्म वाऽकर्म सर्वथा।
स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते ॥ ५९ ॥

अर्थ-जो बुद्धिमान पुरुष सर्वथा कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म मानता है वह समस्त कर्मोंका कर्ता-उपार्जन करनेवाला भी उनका निराकर्ता-नाश करनेवाला होता है। भावार्थ-जो मनुष्य वस्तुके असली स्वरूपको जानता है वह यदि किसी समय हेय पदार्थको अपना भी डाले तो कुछ समय बाद उसके स्वरूपके ज्ञानके रहनेके कारण

उसको छोड़ भी देता है किंतु जिसको उसका स्वरूप ही नहिं मालूम है वह उसको ग्रहणकर उसै अहितकारी न समझनेके कारण कैसे छोड़ सकता है ? जो पुरुष कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म समझता है वह यदि कर्मोंका उपार्जन करता है तो कुछ समयके बाद उन्हें दुःखकारी समझ छोड़ भी देता है किंतु जिस पुरुषको यह ज्ञान ही नहीं कि कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ? वह कर्मोंको उपार्जन करता हुआ भी उन्हें दुःखदायी न समझनेके कारण कैसे छोड़ सकता है ? इसलिये विद्वानोंको कर्म वा अकर्मका स्वरूप भलेप्रकार समझना चाहिये, और कर्मोंसे मुक्त होनेका उपाय करते रहना चाहिये ॥ ५९ ॥

विषयैर्विषयस्थोपि निरासंगो न लिप्यते ।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥ ६० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कीचड़में पड़ा हुआ भी स्फटिकमणि कीचड़से लिप्त नहिं होता-कीचड़स्वरूप परिणत नहिं होता उसीप्रकार विषय भोग करता हुआ भी विशुद्धात्मा ममत्वरहित होनेके कारण विषयोंसे लिप्त नहिं होता । भावार्थ—स्फटिकमणिका स्वभाव स्वच्छ है उसै चाहे कैसी भी गाढ़ कीचड़में क्यों न पटक दिया जाय कीचड़ उसके स्वरूपको नष्ट नहिं कर सकती उसीप्रकार जो पुरुष विशुद्धात्मा है-कुछ २ कर्ममलोंके नाशसे जिसकी आत्मा निर्मल बन चुकी है वह यद्यपि किसी कारणसे विषय भोगोंको भोगता है परंतु मनमें लालसा न रखनेके कारण विषयोंसे लिप्त नहिं होता—उसकी आत्मा विशुद्धकी विशुद्ध ही बनी रहती है ॥ ६० ॥

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः ।
न संगो जायते तस्य विषयेषु कदाचन ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिस महानुभावको शरीर और चेतनका वास्तविक भेद मालूम पड़ जाता है उस महानुभावकी कभी विषयोंमें लालसा नहिं होती । भावार्थ—जबतक शरीर और चेतनका भेदविज्ञान नहिं होता—शरीरको ही आत्मा मानलिया जाता है तबतक शरीरको सुखदेनेकेलिये रात दिन विषयभोगोंके भोगनेमें लालसा बनी रहती है किंतु जिससमय यह ज्ञान होजाता है कि शरीर पृथ्वी आदि भूतोंका कार्य जड़ है और आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूपका धारक है

इसलिये दोनों कभी एक नहिं हो सकते उससमय विषय भोगोंमें जरा भी लालसा नहिं होती किंतु उनसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है ॥ ६१ ॥

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते ।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरेव कारणं ॥ ६२ ॥

अर्थ–शुभ अशुभ और शुद्ध भावोंके भेदसे जीवके भाव तीन प्रकारके हैं और वे क्रमसे पुण्य पाप और मोक्षके कारण हैं अर्थात् शुभ भावोंसे पुण्य, अशुभ भावोंसे पाप और शुद्ध भावोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–जिनेंद्रका पूजन, मुनियोंको दान, जीवोंकी रक्षा, शास्त्रका स्वाध्याय, आदि करना शुभ भाव हैं। चोरी करना, जुआ खेलना जीवोंको पीड़ा देना, परद्रव्यको हजम करनेका भाव रखना आदि अशुभ भाव हैं और समस्त कर्ममलोंसे रहित शुद्ध आत्माका विचार करना शुद्ध भाव है। जो जीव अपने भाव शुभ रखते हैं उन्हें पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे चक्रवर्ती आदि पदोंके मिलनेके कारण नानाप्रकारके सुख भोगनेमें आते हैं। जो जीव अपने भाव अशुभ रखते हैं उनके पापका संचय होता है और पापसे वे तिर्यंच आदि कुगतियोंमें जाकर तीव्र दुःख भोगते हैं तथा जिन जीवोंके परिणाम शुद्ध रहते हैं-जो सदा शुद्धात्माका ध्यान करते रहते हैं उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है अर्थात् वे समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशकर मोक्ष प्राप्त करलेते हैं और वहांपर निराकुलतामय सुखका आस्वादन करते हैं ॥ ६२ ॥ इसलिये–

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः ।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः ॥ ६३ ॥

अर्थ–जो योगी शुभ अशुभ भावोंका सर्वथा त्यागकर शुद्ध भावोंको धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका आगमन रुक जाता है और वह मुक्ति प्राप्त करलेता है। भावार्थ–अशुभ परिणाम तो सर्वथा दुःखकारक हैं अर्थात् जिन मनुष्योंके परिणाम अशुभ रहते हैं उन्हें कभी सुख नहिं मिलता। शुभ परिणाम यद्यपि कुछ अच्छे हैं परंतु निराकुलतामय सुख वे भी प्रदान नहिं करते अर्थात् शुभ परिणामोंसे यद्यपि पुण्यकी उत्पत्ति होती है और पुण्यसे चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पद मिलते हैं किंतु जिससमय पुण्य क्षीण होजाता है उससमय नरक आदि गतियोंमें घूमना पड़ता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं अतः शुद्ध परिणाम ही सर्वोत्कृष्ट हैं क्योंकि उनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इस-

लिये जो योगिगण समस्त कर्मोंसे रहित होना चाहते हैं और निराकुलतामय सुखका भोग करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे शुभ अशुभ दोनों प्रकारके परिणामोंका सर्वथा त्यागकर शुद्ध परिणामोंको धारण करैं जिससे उन्हें निराकुलतामय मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय ॥ ६३ ॥

विनिवृत्यार्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलं ।
न किंचिच्चिंतयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः ॥ ६४ ॥

अर्थ–समस्त कल्मषोंका नाश करनेवाला योगी सांसारिक पदार्थोंसे अपना चित्त हटाकर निश्चलरूपसे अपनी आत्मामें लगावे और 'शुद्धात्माके स्वरूपके सिवाय' कुछ भी विचार न करै। भावार्थ–जिससमय स्त्री पुत्र आदि वाह्य पदार्थोंसे हटकर चित्त आत्मामें निश्चलरूपसे लग जाता है और सिवाय शुद्धात्माके स्वरूपके कुछ भी विचार नहिं किया जाता उससमय समस्त कल्मषोंका नाश हो जाता है इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे सिवाय शुद्ध आत्माके स्वरूपके किसी भी अन्य स्वरूपका विचार न करैं ॥ ६४ ॥

स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु दृढस्मृतिः ।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोकद्वयविलोपकः ॥ ६५ ॥

अर्थ–जिसकी आत्मा परमार्थसे विमुख है और जो विषयोंका दृढरूपसे स्मरण करता रहता है वह सदा दुःखी और दोनों लोकोंका नाश करनेवाला होता है। भावार्थ–जो मनुष्य परमार्थ-निराकुलतामय मोक्षसुखसे विमुख होकर विषयोंका स्मरण करता रहता है वह कभी सुखी और उन्नत नहिं हो सकता, दुःखी और दीन ही रहता है तथा उसका न यह लोक सुधरता है न परलोक। किंतु जो पुरुष परमार्थके आराधक हैं और विषयोंकी ओर जरा भी नहिं झांकते वे सदा सुखी और उन्नत रहते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे विषयोंसे सर्वथा विमुख होकर परार्थकी ओर अपनी दृष्टिको लगावें ॥ ६५ ॥

भोगं कश्चिदभुंजानो भोगार्थं कुरुते क्रियां ।
भोगमन्यस्तु भुंजानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ॥ ६६ ॥

अर्थ–बहुतसे मनुष्य संसारमें ऐसे हैं जो भोगोंको न भी भोगते हुये भोगोंके भोगनेकेलिये क्रिया करते हैं और

बहुतसे बुद्धिमान मनुष्य ऐसे हैं जो भोग तो भोगते रहते हैं परंतु प्रयत्न उनके नाशके लिये ही करते रहते हैं। भावार्थ--जो पुरुष अज्ञानी हैं और भोगांतराय कर्मके तीव्र उदयसे जिनको अभीष्ट भोगोंकी प्राप्ति नहिं हुई है वे यद्यपि विषय भोग नहिं करते परंतु उनके भोगनेकी तीव्र लालसा रहनेके कारण सदा उनकेलिये प्रयत्न करते रहते हैं किंतु जो पुरुष विशुद्ध आत्माके धारक ज्ञानी हैं और शुभ कर्मके उदयसे जिन्हें उत्तमोत्तम भोग प्राप्त हैं वे उन्हें भोगते हुये भी परिणाममें दुःखदायी मान उनके छोड़नेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं ॥ ६६ ॥

स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि निरुद्धविषयस्मृतिः ।
सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते ॥ ६७ ॥

अर्थ--जिस पुरुषकी आत्मा परमार्थसे विमुख रहनेपर भी विषयोंकी स्मृतिसे रहित है वह पुरुष इसलोक परलोक दोनों लोकोंमें सुखी रहता है। भावार्थ--संसारमें विषयभोग बडेही दु:खकारी हैं जो मनुष्य इनके फंदमें फसा रहता है वह दोनों लोकमें दु:खी रहता है किंतु जो इनसे सर्वथा विरक्त रहता है वह परमार्थकी ओर दृष्टिको न भी लगाता हुआ सर्वत्र सदा सुख पाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये वे विषयभोगोंकी ओर जरा भी ऋजु न हों ॥ ६७ ॥

रागी भोगमभुंजानो बध्यते कर्मभिः स्फुटं ।
विरागः कर्मभिर्भोगं भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ ६८ ॥

अर्थ--जो पुरुष रागी हैं वे विषयभोगोंके न भोगनेपर भी कर्मोंसे बंधते हैं किंतु जो विरागी हैं-किसी भी पदार्थमें रागभाव नहिं रखते वे विषयभोगोंको भोगते हुये भी कर्मोंसे नहिं बंधते। भावार्थ--ऊपर कहदिया गया है कि कर्मोंके बंधमें प्रधान कारण राग और द्वेष है जबतक इनकी विद्यमानता आत्मामें रहती है तबतक सदा कर्मोंका बंध होता रहता है इसलिये जो पुरुष विषयभोगोंको तो भोगते नहीं परंतु उनमें सदा रागभाव रखते हैं अर्थात् सदा जिनका यह विचार रहता है कि कब विषयभोग मिलै और कब उन्हें भोगें उनके सदा कर्मबंध होता रहता है और जो पुरुष विरागी हैं-विषयभोगोंके भोगनेमें जरा भी राग नहिं करते उनके कर्मोंका बंध नहिं होता इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि भोगोंमें किसी प्रकारका राग न करैं ॥ ६८ ॥

विषयं पंचधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते ।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा ॥ ६९ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष पांचो प्रकारके विषयोंको जानता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बंधता यदि ज्ञानी भी कर्मोंसे बंधेगा तो तीन लोकको जाननेवाले भगवान केवलीके भी कर्मबंध मानना पड़ेगा । भावार्थ—कर्मबंधमें ज्ञान कारण नहीं, राग-द्वेष आदि विभाव भाव कारण हैं इसलिये स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द पांचो प्रकारके विषयोंको जानकर भी ज्ञानी पुरुष कर्मोंसे नहिं बंधता । कहोगे कर्मबंधमें कारण ज्ञान भी है जितना जितना पदार्थोंका विशेष २ ज्ञान होता जाता है उतना २ कर्मबंध भी बढ़ता जाता है सो ठीक नहीं क्योंकि इसरूपसे भगवान केवलीके भी कर्मबंध स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वे विशेषज्ञानी हैं-संसारके जितने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ हैं वे समस्त उनके ज्ञानमें सदा प्रतिभासित होते रहते हैं इसलिये मानना पड़ेगा कि जिसको स्पर्श आदि विषयोंका ज्ञान है किंतु उनमें राग नहीं उसके कर्मबंध नहिं होता और जिसके ज्ञान नहीं परंतु राग है उसके कर्मबंध होता है ॥ ६९ ॥

विमूढो नूनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि बध्यते ।
एकाक्षाद्या निबध्यंते विषयाग्रहिणो न किं ॥ ७० ॥

अर्थ—जो पुरुष मूढ़ है-मोहसे मत्त हो रहा है वह इंद्रिय विषयोंको न भी ग्रहण करै तथापि कर्मोंसे बंधता है क्योंकि विषयोंको न भोगने वाले भी एकेंद्रिय आदि जीवोंके कर्मोंका बंध होता है । भावार्थ—इंद्रियोंके पांचभेद हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र । इनमेंसे किसी जीवके केवल एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, किसीके स्पर्शन और रसना ये दो ही । किसीके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन, किसीके स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु ये चार और किसीके पांचों ही । तो जिसप्रकार जिस जीवके केवल एकही इंद्रिय है उसके शेष चारों इंद्रियोंका और जिसके दो आदि इंद्रियां हैं उसके तीन आदि इंद्रियोंका अभाव होनेसे उन इंद्रियोंका विषयभोग तो नहीं होता परंतु कर्मबंध अवश्य होता है उ-सीप्रकार जो मिथ्यात्वी अज्ञानी है उसके इंद्रिय विषयोंका भोग न होनेपर भी कर्मबंध अवश्य होता है ॥ ७० ॥

रागद्वेषनिवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ।

रागद्वेषप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ॥ ७१ ॥

अर्थ–जो पुरुष राग और द्वेषसे रहित हैं उनकेलिये प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं और जो पुरुष राग और द्वेष आदिसे युक्त हैं उनकेलिये भी प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं। भावार्थ–व्रत तप आदि जितनी शुभ क्रियाओंका आराधन किया जाता है वह राग द्वेषकी निवृत्तिकेलिये किया जाता है इसलिये जिसके राग और द्वेषका अभाव है उसके प्रत्याख्यान आदिका करना व्यर्थ है और जो पुरुष राग द्वेषसे पूर्ण है सदा जिसकी आत्मा रागी और द्वेषी बनी रहती है उसकेलिये भी प्रत्याख्यान-व्रत आदिका आचरण करना व्यर्थ है क्योंकि राग द्वेषकी मोजूदगीमें व्रत तप आदिका पालन कार्यकारी नहीं, उनसे मुक्ति न होकर संसार ही होता है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं व्रत तप आदि आचरण कर अपनी आत्माको शुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य राग द्वेषका सर्वथा त्याग करदें ॥ ७१ ॥

सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते ।
प्रत्याख्यानादतिक्रांतः स दोषाणामशेषतः ॥ ७२ ॥

अर्थ–जो महानुभाव सर्वत्र उदासीन भाव रखता है तथा न किसी पदार्थमें द्वेष करता है और न राग, वह महानुभाव प्रत्याख्यानके द्वारा समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है। भावार्थ–स्त्री पुत्र धन धान्य आदि समस्त पदार्थोंमें उदासीन भाव रख, इष्ट पादर्थोंमें राग और अनिष्टपदार्थोंमें द्वेष न कर जो महानुभाव व्रत तप आदि प्रत्याख्यानका पालन करता है वह मनुष्य समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है ॥ ७२ ॥

रागिणः सर्वदा दोषाः संति संसारहेतवः ।
ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥ ७३ ॥

अर्थ–जो पुरुष रागी हैं उनके सदा संसारके कारण दोष उत्पन्न होते रहते हैं और जो वीतराग ज्ञानी हैं उनके कोई दोष उत्पन्न नहिं होता। भावार्थ–संसारके कारण राग द्वेष आदि भाव हैं इसलिये वे सदा जिसके हुआ करते हैं उसै सदा संसारमें ही घूमना पड़ता है और जो पुरुष ज्ञानवान वीतराग हैं उनके राग आदि दोष उत्पन्न नहिं होते इसलिये उन्हें संसारमें नहिं घूमना पड़ता किंतु समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश कर वे निर्वाण धाममें जा विराजते हैं और वहां पर निराकुलतामय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ७३ ॥

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बंधकारणं ।
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥ ७४ ॥

अर्थ--जीवके समस्त औदयिक भाव कर्म बंधके कारण हैं और परिणामिक भाव मोक्षके कारण हैं । भावार्थ--जो भाव कर्मोंके उदयसे हों उन्हें औदयिक कहते हैं तथा वे मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंच गति ये चार गति, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, स्त्रीलिंग पुंलिंग नपुंसक लिंग ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन अज्ञान और असंयत इसप्रकार इकीस हैं जब तक इन कर्मोंका जीवके उदय रहता है तब तक सदा इसके कर्मोंका बंध होता रहता है परंतु अभव्यत्वको छोड़कर जीवत्व भव्यत्व आदि जो जीवके परिणामिक भाव हैं वे कर्मोंकी उदय आदिकी उपेक्षा नहिं रखते उनसे कर्मबंध नहिं होता वे मोक्षके कारण हैं ॥ ७४ ॥

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमांतरं ।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥ ७५ ॥

अर्थ--जो सुख विषयजन्य है वह बाह्य सुख है और आत्माके अनुभवसे जन्य है वह अंतरंग सुख है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे बाह्य सुखका सर्वथा त्याग कर अंतरंग सुखमें स्थिति करैं । भावार्थ--सुख दो प्रकारका है एक बाह्य, दूसरा अंतरंग । जिस सुखकी उत्पत्ति स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके भोगोंके भोगनेसे होती है वह बाह्य सुख है और जो विशुद्ध आत्माके अनुभवसे प्राप्त होता है वह आत्मिक-अंतरंग सुख है । इनमें बाह्य सुख दुःखकारी है क्योंकि उसके पीछे अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं और विनाशीक है इसलिये वह त्यागने योग्य है तथा अंतरंग सुख अविनाशी है और उस सुखकी प्राप्तिसे आत्मा सुखमय होजाती है इसलिये वह ग्रहण करनेके योग्य है ॥ ७५ ॥

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतं ।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः ॥ ७६ ॥

अर्थ--जो ज्ञान वैषयिक है-इन्द्रियजन्य है वह समस्त पौद्गलिक है और जो ज्ञान विषयोंसे परावृत्त है-इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है वह आत्मिक ज्ञान है । भावार्थ--यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान चैतन्यस्वरूप है वह पुद्गलस्वरूप नहिं

हो सकता तथापि ज्ञानकी वैभाविक परिणति होनेके कारण और उसकी उत्पत्तिमें-पुद्गलरूप इंद्रियां कारण हैं इसलिये उसे व्यवहारसे पुद्गलस्वरूप कह दिया है जैनसिद्धांतमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे ज्ञान-सम्यग्ज्ञान पांच प्रकारका माना गया है उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रियजनित हैं इसलिये ये कथंचित्-व्यवहार नयसे पौद्गलिक हैं। अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान आत्मसापेक्षी हैं-उनमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहिं करनी पडती इसलिये ये आत्मिक ज्ञान हैं। उनमें भी वास्तविक आत्मिकज्ञान केवलज्ञान है क्योंकि अवधि और मनःपर्ययज्ञानका विषय विकल है-सीमाको लिये हुये है और केवलज्ञानका विषय सकल है स्थूल सूक्ष्म यावत् पदार्थ केवलज्ञानसे जान लियेजाते हैं ॥ ७६ ॥

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते ।
पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ—गौओंके आपसमें भेद रहनेपर भी, जिसप्रकार दूधमें भेद नहि रहता-काली पीली सब गायोंका दूध श्वेत और मिष्ट ही होता है उसीप्रकार पुरुषोंके भेद रहनेपर भी ज्ञानमें भेद नहीं-सदा उसका जानना स्वभाव स्थिर ही रहता है। भावार्थ-यद्यपि गौ काली पीली खंडी मुडी आदि अनेक प्रकारकी होती हैं परंतु उन सबका दूध श्वेत और मिष्ट रहता है यह कभी नहिं होता कि उनका दूध भी काला पीला लाला होजाय उसीप्रकार पुरुष भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदिके भेदसे वा काना कुवड़ा बूचा आदिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं परंतु उनके ज्ञानोंमें भेद नहिं आता सबके ज्ञानोंमें जाननारूप शक्ति विद्यमान रहती है ॥ ७७ ॥

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते। विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते ॥ ७८ ॥
स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेशमव्ययं । तत्र ज्ञेयं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि जिसप्रकार दीपकसे पदार्थको जानकर उसका (दीपकका) त्याग करदिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थको जानकर ज्ञानका भी त्याग कर दिया जाता है तथापि जो ज्ञान आत्माका स्वरूप सूक्ष्म व्यपदेशरहित और अविनाशी है वह तो आत्मामें विद्यमान रहता है और जो वैकारिक ज्ञान है इंद्रियोंके साहाय्यसे उत्पन्न होता है उस-

का त्याग करदिया जाता है। भावार्थ—एक तो शुद्ध ज्ञान रहता है और दूसरी उसकी पर्यायें होती हैं। जो शुद्ध ज्ञान होता है वह आत्माका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म भेदरहित अर्थात् सिवाय अखंड ज्ञानके जिसका कोई अन्य भेद नहिं हो सकता ऐसा और अविनाशी है तथा सदा वह आत्मामें विद्यमान रहता है इसलिये जिसप्रकार दीपकसे पदार्थोंका ज्ञान कर उसे छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर जिस ज्ञानको छोड़ा जाता है वह यह ज्ञान नहीं किंतु जो ज्ञान इंद्रिय आदिकी सहायतासे होनेवाला विकृत है वह ज्ञान है। अर्थात् विकृतज्ञानसे पदार्थोंको जानकर जिससमय स्वस्वरूपज्ञानका अवलंबन करते हैं उससमय विकृतज्ञान छूट जाता है ॥ ७८-७९ ॥

स्कंधच्छेदे पल्लवाः संति भूयो मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो।
देशच्छेदे संति भूयो विकारा मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसप्रकार वृक्षके स्कंधभागके नष्ट हो जानेपर फिर पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं किंतु मूलसे उसके नष्ट हो जानेपर फिर पल्लव नहिं होते उसीप्रकार संसारके एक देशरूपसे नष्ट होनेपर तो फिर विकार उत्पन्न हो जाते हैं परंतु जिससमय संसारका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय कोई विकार उत्पन्न नहिं होता। भावार्थ—देखनेमें आता है कि वृक्षका बीचसे स्कंध काट देनेपर फिर उसमें पल्लव ऊग आते हैं और बढ़ते बढ़ते वे इतने बढ़जाते हैं कि किसीसमय पूर्ववृक्षके समानही विशालरूप धारण करलेते हैं उसीप्रकार संसारके एक देशको नष्ट भी करदिया अर्थात् शुभकर्मके उपार्जन करनेवाले तप आदिके करनेसे अशुभ पर्यायका नाशकर मनुष्य आदि उत्तम गति और उत्तम गोत्र आदिमें जन्म भी धारण करलिया तो भी वहां पापवर्धक क्रियाओंके आचरण करनेसे फिर अनेक गतियोंमें घूमना पड़ता है और अनेकप्रकारके घोरसे घोर दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये शुभ अशुभ दोनोंका नाश करना कार्यकारी है ॥ ८० ॥

देशच्छेदे ?(दश्च) चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे ?(दो) विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपं।
विज्ञायेत्थं विचिंत्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमंतः समर्घ्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यांति मार्गं ॥ ८१ ॥

अर्थ—आत्मध्यानसे भिन्न चारित्रके आचरण करनेसे जीवके संसारकी परंपराका देशच्छेद—एकदेश नाश होता है

और आकाशके समान निर्मल कर्ममलसे रहित आत्मस्वरूपका ध्यान करनेसे उस संसारका मूलच्छेद–सर्वथा नाश हो जाता है ऐसा विचारकर जो श्रेष्ठ ज्ञानके धारक महानुभाव हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने अंतरंगमें ही विराजमान आत्मतत्त्वका ध्यान करैं क्योंकि जिन महापुरुषोंको अपने अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिका सुलभ सन्निकट मार्ग मिल जाता है वे अन्य मार्गपर गमन नहीं करते। भावार्थ–पहिले श्लोकमें यह बात बतला आये हैं कि देशच्छेद होनेपर तो फिर ज्योंका त्यों संसार हो जाता है और मूलच्छेद होनेपर सर्वथा नहीं होता। अब इस श्लोकमें देशच्छेदमें कारण तो चित्ररूप चारित्र कहा है और मूलच्छेदमें शुद्धात्मध्यान बतलाया है इसलिये जिसप्रकार समीपका सीधा सच्चा मार्ग मिल जानेसे कोई क्लिष्ट दूरके झूंठे मार्गपर नहीं जाता उसीप्रकार अपने अंतरंगमें ही विराजमान आत्माके स्वरूपका ध्यानकरनेसे ही जब संसारका नाश करनेवाला मोक्षमार्ग मिलजाता है तब अन्य चारित्रका विद्वानोंको आचरण न कर आत्मध्यान करना चाहिये॥

दृष्ट्वा वाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं ये संसारमहोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलं।
तीर्त्वा यांति शिवास्पदं शिवमयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं तेषां जन्म च जीवितंचसफलंस्वार्थैकनिष्ठात्मनां

अर्थ–जो महानुभाव विषय आदि समस्त वाह्य पदार्थोंको अनात्मस्वरूप, इंद्रजालकी मायाके समान झूठे और विनाशीक देखकर क्रोध आदि नानाप्रकारके नाकोंसे व्याप्त संसाररूपी महासमुद्रको तरकर और निश्चल विशुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यानकर कल्याणमय मोक्षस्थानको प्राप्त करते हैं उन्हीं स्वस्वरूपमें स्थिति रखनेवालोंका जन्म और जीवन सफल है अन्यका नहीं। भावार्थ–जबतक विषय आदि वाह्य पदार्थोंमें यह ज्ञान नहि होता कि वे निज नहीं, पर हैं इंद्रजालसे बनाये हुये नगर आदिके समान झूठे और विनाशीक हैं तबतक संसारसे उदासीनता नहि होती। जबतक संसारसे उदासीनता नहि होती तबतक क्रोधादि कषायोंके जीतनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। जबतक क्रोधादि नहीं जीते जाते तबतक आत्माके शुद्धस्वरूपका चिंतवन नहिं किया जासक्ता और विना शुद्धात्माके स्वरूपके चिंतवनके निराकुलतामय मोक्षसुख नहिं प्राप्त हो सक्ता इसलिये जो महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपके भक्त हैं अपनी आत्माको समस्तकर्मोंसे रहित विशुद्ध बनाना चाहते हैं और अपना जीवन सफल करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे विषय आदि वाह्य पदार्थोंको पर, झूठे, और विनाशीक मानकर, क्रोध आदि दुर्भावोंके स्थान संसारका सर्वथा त्यागकर दें और विशुद्ध आत्मतत्त्वका भलेमकार चिंतवन करैं॥ ८२॥

ऐसा अवसर मिलता तो हम सबको गटकजाते। बस! इसी कषायसे उन्हें नरक जाना पड़ता है इसी आशयको लेकर ग्रंथकारने यहां यह बात बतलाई है कि छोटे मत्स्योंको न भी खानेवाले केवल उनकी लालसासे प्रेरित शालिसिक्थ आदि मत्स्य जिसप्रकार कषायसे नरक जाते हैं उसीप्रकार अप्रासुक द्रव्योंके न भी खानेवाले किंतु उनमें लालसा रखनेवाले मनुष्यके रागके उदयसे अवश्य कर्मबंध होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे रागको सर्वथा छोड़ दें ॥१८॥

ज्ञानी विषयसंगेऽपि विषयैर्नैव लिप्यते।
कनकं मलमध्येऽपि न मलैरुपलिप्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्ण कीचड़में पड़ा हुआ भी कीचड़से लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानी विषय भोग करता हुआ भी विषयोंमें लिप्त नहीं होता। भावार्थ—सुवर्णका कीचड़ आदि स्वरूप नहीं उसका स्वभाव चाकचिक्य आदि है इसलिये जिसप्रकार कीचड़से वह लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानीभी विषयोंसे लिप्त नहिं होता क्योंकि वह समझता है कि विषय मेरे स्वरूप नहीं, ये कर्म जनित उपाधियां हैं परंतु मैं असमर्थताके कारण उनका सेवन करता हूं ॥ १९ ॥

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः।
तदर्थं वध्यते योगी नीरागो न कदाचन ॥ २० ॥

अर्थ—जो योगी अपनेलिये दूसरेसे आहार आदि कराता है वा करते हुयेकी 'वाह! बहुत अच्छा करते हो' ऐसी अनुमोदना करता है अथवा स्वयं बनाता है उसके कर्मोंका बंध होता है परंतु जो योगी रागरहित है आहार आदिको न कराता न करता और न उसकी अनुमोदना करता है उसके कर्मोंका बंध नहिं होता। भावार्थ—जो मनुष्य समस्त परिग्रहोंका त्यागकर दिगंबर मुनि हो जाते हैं उन्हें संयमके साधन शरीरकी स्थिरताकेलिये आहार आदि करना पड़ता है परंतु वे उसमें निस्पृह रहते हैं इसलिये उन्हें आहारादि कार्योंमें होनेवाली हिंसाका पाप नहिं लगता है। यदि उनका भोजन आदिमें राग होगा तो अवश्य उनके पाप बंध होगा यही बात इस श्लोकसे ग्रंथकारने यहां बतलाई है कि जो योगी रागके वशीभूत हो दूसरोंसे आहार आदि कराते हैं करतेहुयेकी अनुमोदना करते हैं वा स्वय बनाते हैं उनके अवश्य पापका बंध होता है किंतु जिनका आहारादिमें राग नहीं इसलिये न दूसरोंसे कराते हैं न अनुमोदना करते हैं और न स्वय बनाते हैं उनके पापबंध नहिं होता ॥ २० ॥

परद्रव्यैर्गतैर्दोषैर्नीरागो यदि बध्यते ।
तदानीं जायते शुद्धिः कस्य कुत्र कुतः कदा ॥ २१ ॥

अर्थ–जो पुरुष नीराग-रागसे रहित है यदि वह भी परपदार्थके दोषोंसे बंधको प्राप्त होगा तब कहां, किससमय, कैसे, और किस मनुष्यकी शुद्धि होगी ? भावार्थ–यह नियम है कि जो मनुष्य दोषोंको करता है उसीके उन दोषोंके निमित्तसे कर्मबंध होता है किंतु यह वात नहिं हो सकती कि दोष करै दूसरा और वंधै दूसरा । यदि यह भी विपरीत नियम स्वीकार कर लिया जायगा कि दूसरेके दोष करनेपर दूसरा भी बंध जाता है तब कहीं किसी कालमें कोई शुद्ध ही न कहा जा सकेगा तथा इसरीतिसे जो सिद्ध शिलामें विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं वे भी दोषी मानने पड़ेंगे क्योंकि उक्त नियमके स्वीकार करनेपर हमारे दोषोंसे वे भी अवश्य दोषी होंगे इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि रागोंके सद्भावमें होनेवाले कर्मबंधसे रागोंके अभावमें आत्मा बद्ध नहीं होसक्ती ॥ २१ ॥

नीरागो विषयं योगी बुध्यमानो न बध्यते ।
परथा बध्यते किं न केवली विश्ववेदकः ॥ २२ ॥

अर्थ–तथा नीराग–रागसे रहित योगी विषयोंको जानता हुआ भी कर्मबंधको प्राप्त नहिं होता यदि विषयोंके ज्ञाताके भी कर्मबंध हो जायगा तो केवलीके भी विषयज्ञानसे कर्मबंध होना चाहिये क्योंकि वे विश्ववेदी-समस्त पदार्थोंके जानकार हैं । भावार्थ–विषयोंका ज्ञान कर्मबंधमें कारण नहीं है क्योंकि विरागी पुरुष विषयोंका ज्ञानी होकर भी उनका सेवन नहिं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहिं होता । यदि यह मानलिया जायगा कि विषयोंके ज्ञानसे भी कर्मबंध होता है तो केवली भगवानके भी विषयजन्य कर्मबंध स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि केवली सर्व पदार्थोंके ज्ञाता होते हैं इसलिये मानना पडेगा विषयोंका ज्ञान कर्मबंधमें कारण नहीं उनके भोगनेकी लालसा ही कर्मबंधमें कारण है ॥२२॥

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च । अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च ॥ २३ ॥
यथावस्तुपरिज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते । रागद्वेषमदक्रोधैः सहितं वेदनं पुनः ॥ २४ ॥

अर्थ–जो मनुष्य ज्ञानी है-स्वपरपदार्थोंका यथार्थ ज्ञान रखता है वह सब पदार्थोंको जानता ही है अनुभव नहिं

करता, किंतु जो पुरुष अज्ञानी है-स्वपरका जरा भी भेद नहिं जानता वह समस्त पदार्थोंका अनुभव करता है उन्हें पूर्णरूपसे जानता नहीं क्योंकि जो मनुष्य ज्ञानवान हैं उन्होंने जो वस्तु जैसी है उसे उसीरूपसे जानना ज्ञान कहा है और उनमें राग द्वेष मद और क्रोध आदि करना अनुभव बतलाया है। भावार्थ-यदि कोई ऐसी शंका करे कि जो ज्ञानी होता है वह अनुभवी भी होता है इसलिये उसके भी कर्मबंध होना चाहिये उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि जो मनुष्य ज्ञानी होता है वह केवल समस्त द्रव्योंके स्वरूपको जानता ही है, विषय आदि निकृष्ट पदार्थोंको अकल्याणकारी जान उनका सेवन नहिं करता किंतु जो अज्ञानी है उसे हेय उपादेयके ज्ञानके अभावसे पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान नहिं होता इसलिये वह सब बातका अनुभव करता है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसाही जानना सम्यग्ज्ञान है और उनमें राग द्वेष अहंकार क्रोध आदि करना वेदन है। ज्ञानी जो जैसा है उसे वैसाही जानता है राग द्वेष आदि नहिं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहिं होता और अज्ञानी उनमें राग द्वेष आदि करता है और उनके असली स्वरूपको नहिं समझता इसलिये उसके कर्मबंध अवश्य होता है ॥ २३–२४ ॥

नाज्ञाने ज्ञानपर्याया ज्ञाने नाज्ञानपर्ययाः ।
न लोहे स्वर्णपर्याया न स्वर्णे लोहपर्ययाः ॥ २५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार लोहेमें सोनेकी पर्यायें और सोनेमें लोहकी पर्यायें नहिं होती उसीप्रकार अज्ञानमें ज्ञानकी पर्यायें और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्यायें नहिं होतीं। भावार्थ–पर्याय पर्यायीका निश्चयनयसे अभेदसंबंध है जो एक पदार्थकी पर्याय हैं वे दूसरे पदार्थकी कभी नहिं हो सकतीं–कढ़ाई करछी आदि लोहेकी पर्याय हैं, कड़ा कुंडल आदि सुवर्णकी पर्याय हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि सम्यग्ज्ञानकी पर्याय हैं और कुमति कुश्रुति आदि अज्ञानकी पर्याय हैं तो जिसप्रकार लोहमें सुवर्णकी पर्याय नहिं रहतीं और सुवर्णमें लोहकी पर्याय नहिं रहतीं उसीप्रकार अज्ञानमें ज्ञानकी पर्याय नहिं रह सकतीं और ज्ञानमें अज्ञानकी पर्याय नहिं रह सकतीं किंतु जिसप्रकार लोहकी पर्याय लोहमें ही और सुवर्णकी सुवर्णमें ही रहती हैं उसीप्रकार ज्ञानकी पर्याय ज्ञानमें ही और अज्ञानकी अज्ञानमें ही रहती हैं इसलिये अज्ञानसे होनेवाला कर्मबंध सम्यग्ज्ञानके होनेसे नहिं हो सक्ता ॥ २५ ॥

ज्ञानीति ज्ञानपर्यायी कल्मषानामबंधकः ।

अज्ञश्चाज्ञानपर्यायी तेषां भवति वंधकः ॥ २६ ॥

अर्थ—ज्ञानवान पुरुष ज्ञानकी पर्यायोंका धारक है इसलिये उसके पापोंका बंध नहिं होता और जो मनुष्य अज्ञानी वा अज्ञानस्वरूप पर्यायोंका धारक है उसके पापोंका बंध होता है। भावार्थ—यह बात पहिले भी कहदी जा चुकी है कि पापवंधमें कारण ज्ञान नहिं अज्ञान है इसलिये अज्ञानीके ही पापवंध होता है ज्ञानीके नहीं ॥ २६ ॥

दीयमानं सुखं दुःखं कर्मणा पाकमीयुषा ।
ज्ञानी वेत्ति परो भुंक्ते बंधकाबंधकौ ततः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिससमय कर्म उदयमें आते हैं और सुख दुःखरूप फलको देते हैं उससमय ज्ञानी मनुष्य उनके स्वरूपको जानता है अनुभव नहि करता परंतु अज्ञानी उनका अनुभव करता है-सुखी दुखी होता है इसलिये अज्ञानीके तो कर्मबंध होता है और ज्ञानीके नहीं। भावार्थ—सुख दुःख आदि कर्मोंके फल हैं। जिससमय ज्ञानीके कर्म उदयमें आते हैं सुख दुःख आदि देते हैं उससमय ज्ञानी मनुष्य यह समझकर कि "सुख दुःख देना कर्मोंका स्वभाव है-सदा ये सुख दुःख दिया ही करते हैं तथा ये सुख दुःख शरीरको होते हैं और शरीर जड़ एवं मुझसे भिन्न है। मैं तो चिदानंद चैतन्यस्वरूप हूं। मुझे सुख दुःख नहिं हो सकता" सुखी दुखी नहि होता। परंतु अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानता है इसलिये जब उसके कर्मोंका उदय होता है और जब वे सुख दुःख देते हैं उससमय वह सुखी दुःखी होने लगता है इसलिये ज्ञानवान होनेसे रागादि परिणामोंके अभावमें ज्ञानीके कर्मबंध नहिं होता और अज्ञानीके अज्ञानसे कषायरूपपरिणाम होनेके कारण कर्मबंध होता है ॥ २७ ॥

कर्म गृह्णाति संसारी कषायपरिणामतः ।
सुगतिं दुर्गतिं याति जीवः कर्मविपाकतः ॥ २८ ॥

अर्थ—यह संसारी जीव क्रोध आदि कषायरूप परिणामोंसे कर्मोंका ग्रहण करता है और जिससमय कर्मोंका विपाक शुभ किं वा अशुभ होता है उससमय वह शुभसे शुभगति और अशुभसे अशुभगतिको जाता है। भावार्थ—गति मनुष्य आदिके भेदसे चार तरहकी है उसमें जो उत्तम है उसका नाम सुगति और जो हीन है उसका नाम दुर्गति है

तथा शुभ कर्मसे सुगतिकी प्राप्ति और अशुभ कर्मसे दुर्गतिकी प्राप्ति होती है। यह संसारी जीव सदा क्रोधादि कषाय और राग आदिसे कलुषित रहता है इसलिये सदा इसके कर्मोंका ग्रहण हुआ करता है और उससे इसे शुभ किंवा अशुभ गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २८ ॥

सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः स्वीकरोति कलेवरं। तत्रेंद्रियाणि जायंते गृह्णाति विषयांस्ततः ॥२९॥
ततो भवंति रागाद्यास्तेभ्यो दुरितसंग्रहः। तस्माद् भ्रमति संसारे ततो दुःखमनेकधा ॥३०॥
दुःखतो बिभ्यता त्याज्याः कषाया ज्ञानशालिना। ततो दुरितविच्छेदस्ततो निर्वृतिसंगमः॥

अर्थ–जिससमय यह जीव सुगति दुर्गतिमें जाता है उससमय वहां इसके शरीर उत्पन्न होता है। शरीरमें इंद्रियोंकी उत्पत्ति और उनसे विषयोंको ग्रहण करता है। विषयोंसे राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति होती है। राग आदिसे पापोंका संचय, पापोंसे संसारमें घूमना और फिर अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो मनुष्य ज्ञानवान हैं और दुःखोंसे भय करते हैं उन्हें कषायोंका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये क्योंकि कषायोंसे पापका नाश और पापोंके नाशसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ–यहांपर ग्रंथकारने यह बात बतलाई है कि यदि आत्माको हानि पहुंचाते हैं तो कषाय पहुचाते हैं और यदि उसे कल्याणकी प्राप्ति होती है तो कषायोंके अभावसे ही होती है। क्योंकि आयु बांधते समय जैसे इस जीवके कषाय विद्यमान रहते हैं उनकेअनुसार ही इसे नरक आदि गतियोंकी प्राप्ति होती है। सुगति वा दुर्गतिमें इसको नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। शरीरके साथ इद्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इंद्रियोंके द्वारा यह इष्ट अनिष्ट विषयोंको ग्रहण करता है। विषयोंके ग्रहणसे इसकी आत्मामें राग द्वेष आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती है उनसे पापोंका संचय और पापोंसे संसारमें घूमना पड़ता है तथा वहां नानाप्रकारके क्लेश भोगने पड़ते हैं इसलिये संसारकी दशासे भयभीत जो ज्ञानवान पुरुष कषायोंका सर्वथा त्याग करदेता है-राग द्वेष क्रोध आदिको अपने पासभी नहिं फटकने देता उसके कर्मोंका नाश हो जाता है और जिससमय वह समस्त कर्मोंका नाश करदेता है उससमय उसके परम पावन मोक्ष धामकी प्राप्ति होती है और वहां वह निराकुलतामय सुखका अनंत कालतक आस्वादन करता है ॥२९-३०-३१॥

संति रागादयो यस्य सचित्ताचित्तवस्तुषु। प्रशस्तो वाऽप्रशस्तो वा परिणामोऽस्य जायते ॥३२॥

प्रशस्तो भण्यते तत्र पुण्यं पापं पुनः परः। द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं सुखदुःखवितारकं ॥ ३३ ॥

अर्थ–जिस मनुष्यके सचित्त वा अचित्त पदार्थोंमें राग द्वेष आदि होते हैं उसके प्रशस्त वा अप्रशस्त परिणाम होते हैं। उनमें प्रशस्त परिणामोंका नाम पुण्य है और अप्रशस्त परिणामोंको पाप कहते हैं। ये दोनों ही पुण्य और पाप पौद्गलिक हैं-पुद्गलके विकार हैं इसलिये मूर्तिक हैं और सुख दुःख देनेवाले हैं अर्थात् पुण्य और पापके निमित्तसे जीवोंको सुख दुःख भोगना पड़ता है। भावार्थ–संसारी जीवोंका यह एक प्रकारका स्वभाव सरीखा पड़ रहा है कि वे पुत्र मित्र स्त्री आदि सचित्त पदार्थोंमें वा उत्तम वस्त्र सुवर्ण धन आदि अचित्त पदार्थोंमें राग करते हैं और शत्रु सर्प आदि वा कांटा कंकड़ आदि पदार्थोंमें द्वेष करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि इनके राग और द्वेषके निमित्तसे पुण्य और पापोंका वध होता है और उनसे चिरकालतक ये सुख दुःखका भोग करते हुये इस संसारमें रुलते रहते हैं।

मूर्त्तो भवति भुंजानः सुखदुःखफलं तयोः।
मूर्तकर्मफलं मूर्तं नामूर्तेन हि भुज्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ–जिससमय यह आत्मा पुण्य और पापके सुख दुःखरूप फलका भोग करता है उससमय यह अमूर्त रहनेपर भी मूर्त हो जाता है क्योंकि मूर्तिक कर्मका फल भी मूर्तिक होता है और अमूर्त, मूर्तफलको भोग नहिं सकता। भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि कर्म, पुद्गल हैं इसलिये रूप रस आदि मूर्तियोंके धारक होनेसे वे मूर्त हैं तथा जिनका उपादान कारण जैसा होता है वे कार्य भी वैसे ही होते हैं। सुख दुःखके उपादान कारण मूर्तिक कर्म हैं इसलिये सुख दुःखरूप फल भी मूर्तिक हैं। तथा जो पदार्थ मूर्तिक होता है वही मूर्तिक फलको भोग सकता है अमूर्तिक पदार्थ, मूर्तिक फलका भोग नहिं कर सकता इसलिये यह वात पूर्ण रूपसे निश्चित है कि जिससमय आत्मा मूर्तिक कर्मके फल सुख दुःखका उपभोग करता है अर्थात् जवतक संसारी रहता है तवतक कथंचित् मूर्तिक भी रहता है ॥ ३४ ॥ तथा–

मूर्त्तो भवत्यमूर्तोऽपि पुण्यपापवशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्याममूर्तोऽस्ति तदा पुनः ॥ ३५ ॥

अर्थ–अमूर्त भी यह आत्मा जवतक पुण्य पापके आधीन रहता है तवतक मूर्त वना रहता है किंतु जिससमय

यह पुण्य और पापोंसे सर्वथा रहित हो जाता है उससमय फिर यह वैसाका वैसा ही अमूर्त हो जाता है ॥३५॥ क्योंकि-

विकारं नीयमानोऽपि कर्मभिः स विकारिभिः।
मेघैरिव नभो याति स्वस्वभावं तदत्यये ॥ ३६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार विकार करनेवाले मेघोंसे विकृत बना हुआ आकाश मेघोंके नष्ट होनेपर फिर अपने स्वभावको धारण कर लेता है-ज्योंका त्यों स्वच्छ अमूर्तिक हो जाता है उसीप्रकार विकार करनेवाले कर्मोंसे विकृत भी यह आत्मा कर्मोंके नष्ट हो जानेपर फिर अपने स्वभावको धारण करलेता है-ज्योंका त्यों अमूर्तिक हो जाता है । भावार्थ–यदि देखा जाय तो आकाश स्वभावसे स्वच्छ अमूर्तिक है परंतु जिससमय उसके साथ मेघोंका संबंध हो जाता है उससमय तो वह विकृत हो जाता है और जब मेघोंका नाश हो जाता है उससमय फिर ज्योंका त्यों स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार चिदानंद चैतन्य स्वरूपका धारक यह आत्मा भी स्वभावसे अमूर्तिक है परंतु जिससमय इसके साथ कर्मोंका संबंध हो जाता है उससमय इसका असली स्वभाव ढक जाता है और यह मूर्तिक हो जाता है किंतु जिससमय कर्मोंका संबंध नष्ट हो जाता है उससमय इसका असली स्वभाव प्रकट हो जाता है और यह अमूर्तिक हो जाता है ॥ ३६ ॥ तथा–

आर्हदादौ परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजंतुषु। पावने चरणे रागः पुण्यबंधनिबंधनं ॥ ३७ ॥
निंदकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजंतुषु। निंदिते चरणे रागः पापबंधविधायकः ॥ ३८ ॥

अर्थ–अर्हंत सिद्ध आदि पांचो परमेष्ठियोंमें भक्ति, समस्त जीवोंपर करुणा और पवित्र चारित्रमें प्रीति करनेसे तो पुण्य बंध होता है तथा अर्हंत आदि पूज्य पुरुषोंकी निंदा करना समस्तजीवोंमें निर्दयभाव रखना और निंदित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि पाप बंधका कारण है। भावार्थ–अच्छे कार्योंके करनेसे पुण्यबंध और बुरे कार्योंके करनेसे पापबंध होता है। अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओंमें भक्तिभाव रखना समस्त जीवोंमें दयाभाव और पवित्र चारित्रमें प्रेम, आदि अच्छे कार्य हैं तथा पूज्य पुरुषोंकी निंदा करना सब जीवोंमें निर्दयभाव रखना और निंदित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि बुरे कार्य हैं ॥ ३७ ३८ ॥

सुखदुःखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः। नित्यं सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मुग्धबुद्धिभिः ॥ ३९ ॥

पश्यंतो जन्मकांतारे प्रवेशं पुण्यपापतः। विशेषं प्रतिपद्यंते न तयोः शुद्धबुद्धयः॥ ४० ॥

अर्थ–जो पुरुष मूढबुद्धि हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुखके ज्ञानसे वंचित हैं, वे तो सुख दुःख रूप कार्यके भेदसे पुण्य और पापमें विशेष मानते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि पुण्यसे सुख मिलता है इसलिये पुण्य उत्तम है और पापोंसे दुःख होता है इसलिये पाप बुरे हैं परंतु जो मनुष्य शुद्धबुद्धिके धारक हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुखके भलेप्रकार ज्ञाता हैं वे यह समझ कर कि पुण्य पाप दोनोंसे ही संसारमें भ्रमण करना पड़ता है उन दोनोंको ही दुःखदायी मानते हैं। भावार्थ–जो सुख निराकुलतामय और अविनाशी हो वह तो वास्तविक सुख है किंतु जिस सुखमें आकुलता हो और जो परिणाममें विनाशीक हो वह सुख नहीं दुःख ही है। यद्यपि पुण्यसे संसारमें चक्रवर्ती कामदेव तीर्थंकर आदि पदोंमें उत्तमोत्तम सुख मिलते हैं परंतु वे भी विनाशीक होनेसे दुख ही माने गये हैं। खैर! मान भी लिया जाय कि पुण्यसे सुख मिलता है तो भी जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब पापका उदय होता है और उससे नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं एवं अनंतकाल तक संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये जो पुरुष विद्वान पूर्णरूपसे आत्मस्वरूपके जानकार हैं वे यह समझकर कि पुण्य पाप दोनोंसे ही संसारमें घूमना पड़ता है पुण्यको उत्तम और पापको बुरा नहि कहते किंतु जो मनुष्य भोले भाले हैं-जरासे सुखसे सुखी और जरासे दुःखसे दुखी हो जाते हैं वे पुण्यसे कुछ सुख मिलता देख उसे उत्तम मानते हैं और पापसे दुःख मिलता देख उसे बुरा कहते हैं और आत्माके स्वरूपको न जाननेकी कोशिश कर उनकेही प्राप्त करनेकी कोशिश करते हैं॥ ३९–४० ॥

विषयसुखतो व्यावृत्य स्वस्वरूपमवस्थितस्त्यजति धिषणां धर्माधर्मप्रबंधनिबंधनीं।
जननगहने दुःखव्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं कलिलविकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिं॥ ४१ ॥

अर्थ–जो मनुष्य विषयसुखसे रहित होकर अपने स्वरूपमें निश्चलरूपसे स्थित होता है और दुःखरूपी बाघसे युक्त संसाररूपी वनमें घुमानेवाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धिको सर्वथा छोड़ देता है वह समस्त कर्मोंसे रहित निष्कलंक आत्मस्वरूपको प्राप्त कर अविनाशी निर्वाण धाममें जा विराजता है। भावार्थ–जब तक मनुष्य विषयसुखसे मुख न मोड़ेगा तब तक वह अपने आत्मिक स्वरूपमें निश्चलरूपसे स्थित नहिं होसकता क्योंकि विषयसुखके सेवनसे चित्तमें चंचलता रहती

है और जिससमय परिणाम निश्चल रहते हैं उससमय स्वस्वरूपमें स्थिति होती है तथा जब तक मनुष्य स्वस्वरूपमें स्थित न होगा तब तक अनंतकाल पर्यंत अनेक प्रकारके दुःखोंसे जटिल संसारमें घुमानेवाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धिका त्याग न कर सकैगा। जब तक पुण्य पाप संबंधी बुद्धिका नाश न होगा तब तक सदा कर्मोंका बंध होता रहेगा और जब तक कर्मोंका नाश न होगा तब तक मोक्ष धामकी प्राप्ति न हो सकैगी जो कि जीवोंको अचिंत्य शांति प्रदान करनेवाली है इसलिये जो मनुष्य मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले अपना मुख विषयोंसे मोड़ें पश्चात् स्वस्वरूपमें स्थित हों, स्वस्वरूपमें स्थित होकर पुण्य पापकी वासनाको छोड़ें और फिर समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षसुखका अनुभव करै ॥ ४१ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें बंधाधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अथ संवराधिकार ॥ ५ ॥

कल्मषागमनद्वारनिरोधः संवरो मतः। भावद्रव्यविभेदेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥ १ ॥
रोधस्तत्र कषायाणां कथ्यते भावसंवरः। दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्यसंवरः ॥ २ ॥

अर्थ--जिन द्वारोंसे कषायोंका आस्रव होता है उन द्वारोंका रुकजाना संवर है और वह संवरके धारक केवली महात्माने भावसंवर और द्रव्यसंवरके भेदसे दो प्रकारका बतलाया है। उनमें कषायोंका रुकना तो भावसंवर है और कषायोंके रुकजानेपर जो कर्मास्रवका रुकजाना है वह द्रव्यसंवर है। भावार्थ--पहिले तो कहदिया गया है कि शुभ अशुभ मन वचन कायके व्यापारों द्वारा जो कर्मोंका आना है उसका नाम आस्रव है और यहां जिन द्वारोंसे कर्म आते हैं उन द्वारोंका रुकजानारूप संवर कहा है तथा यह संवर दो प्रकारका है एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर। जो भावरूप कषायोंका रुकना है वह तो भावसंवर है और उन कषायोंके रुकजानेपर द्रव्यरूप कर्मोंका जो आना बंद होजाना है वह द्रव्यसंवर बतलाया है ॥ १-२ ॥

कषायेभ्यो यतः कर्म कषायाः संति कर्मतः।

ततो द्वितयविच्छेदे शुद्धिः संपद्यते परा ॥ ३ ॥

अर्थ--क्योंकि कषायोंसे कर्मकी उत्पत्ति और कर्मसे कषायोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये जिससमय कर्म और कषाय दोनोंका नाश हो जाता है उससमय उत्कृष्ट शुद्धिकी प्राप्ति होती है। भावार्थ--यहांपर कषाय शब्दसे भावकर्मोंका और कर्मशब्दसे द्रव्यकर्मोंका ग्रहण ग्रंथकारको अभिमत है इन दोनोंका अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्मोंका आपसमें बीज वृक्षके समान अन्योन्याश्रय संबंध है क्योंकि जिसप्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीजकी उत्पत्ति होती है यह कोई नहिं कह सकता कि बीज पहिले था वा वृक्ष। उसीप्रकार कषाय-भावकर्मोंसे द्रव्यकर्मोंकी उत्पत्ति होती है और द्रव्यकर्मोंसे भावकर्मोंकी उत्पत्ति होती है यहांपर भी यह नहिं कहा जा सकता कि कषाय पहिले थे या द्रव्यकर्म। तथा जिसप्रकार बीज वा वृक्षके सर्वथा नष्ट करदेनेपर आगे परंपरा नहिं चलती उसीप्रकार कषाय वा द्रव्य कर्मके नष्ट हो जानेपर 'कषायसे कर्म और कर्मसे कषाय' यह परंपरा भी नष्ट हो जाती है तथा जिससमय यह परंपरा नष्ट हो जाती है उससमय आत्मामें विशेष शुद्धि प्रकट हो जाती है ॥ ३ ॥ तथा-

कषायाकुलितो जीवः परद्रव्ये प्रवर्तते। परद्रव्यप्रवृत्तस्य स्वात्मबोधः प्रहीयते ॥ ४ ॥
प्रहीणस्वात्मबोधस्य मिथ्यात्वं वर्धते यतः। कारणं कर्मबंधस्य कषायस्त्यज्यते ततः ॥ ५ ॥

अर्थ-कषायसे कलुषित यह जीव परद्रव्योंमें प्रवृत्ति करता है-उन्हें अपनाता है परद्रव्योंमें प्रवृत्ति करनेसे इसका स्वात्मबोध-स्वस्वरूप ज्ञान नष्ट होता है। जब स्वात्मबोध नष्ट हो जाता है उससमय इसके मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है-यह परपदार्थोंमें विपरीत श्रद्धान कर उन्हें अपना समझने लगता है और परपदार्थोंको अपना समझनेसे कर्मबंध होता है इसलिये कर्मबंधके प्रधान कारण कषायोंको मान उनका त्याग किया जाता है। भावार्थ-यह नियम है जब तक यह आत्मा कर्मबंधनोंसे बंधा रहेगा तबतक कभी इसै शांतिकी प्राप्ति नहिं हो सकती और कर्मबंधनोंमें कारण कषाय हैं क्योंकि जिससमय यह क्रोध आदि कषायोंसे कलुषित होता है उससमय परद्रव्य-स्त्री पुत्र आदिमें कभी राग कभी द्वेष कभी मोह आदि करता है। परद्रव्योंमें राग आदि करनेसे इसका स्वाधीनबोध नष्ट हो जाता है। स्वाधीनबोधके नष्ट होजानेपर इसके मिथ्यात्वकी वृद्धि होती है जिससे इसका सब श्रद्धान विपरीत हो जाता है और उस विपरीत श्रद्धान

के द्वारा इसके निरंतर कर्मोंका आस्रव और बंध होता रहता है इसलिये कर्मोंके आस्रव वा बंधमें कषाय ही कारण हैं ऐसा जानकर विद्वान लोग कषायोंका सर्वथा त्याग करदेते हैं ॥ ४–५ ॥

कषायोंका नाश कौन कर सकता है यह बतलाते हैं—

निष्कषायो निरारंभः स्वान्यद्रव्यविवेचकः । धर्माधर्मनिराकांक्षो लोकाचारनिरुत्सुकः ॥६॥
विशुद्धदर्शनज्ञानचारित्रमयमुज्ज्वलं । यो ध्यायत्यात्मनात्मानं कषायं क्षपयत्यसौ ॥ ७ ॥

अर्थ–जो महात्मा कषाय और आरंभोंसे रहित है, स्व और परका पूर्णरूपसे भेद जानता है, पुण्य पापमें आकांक्षा रहित है, लोकके व्यवहारोंमें उदासीन है और अपनी आत्मासे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप निर्दोष अपनी आत्माका ध्यान करता है वह अवश्य ही समस्त कषायोंका नाशकर देता है। भावार्थ–जबतक कषाय और आरंभोंमें प्रवृत्ति होगी, अपना पराया भेद न जाना जायगा, पुण्य और पापमें अभिलाषा बनी रहेगी, लोक व्यवहारमें भी परिणति फँसी रहेगी और विशुद्ध सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप अपनी आत्माका अपनेसे ध्यान न किया जायगा तबतक कदापि कषायोंका क्षय नहिं हो सकता इसलिये जो महात्मा यह चाहते हैं कि हमारे कषायोंका नाश हो जाय उन्हें चाहिये कि वे कषाय और आरंभका त्याग करें, अपने और परपदार्थोंके स्वरूपको समझें, पुण्य पापरूप वासनाओंमें किसीप्रकारकी आकांक्षा न रक्खें, लोकके जितने व्यवहार हैं उनसे उदसीन रहें और विशुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप अपनी अत्माका ध्यानकरें ॥ ६–७ ॥ तथा—

वर्णगंधरसस्पर्शशब्दयुक्तैः शुभाशुभैः । चेतनाचेतनैर्मूर्तैरमूर्तैः पुद्गलैरयं ॥ ८ ॥
शक्यो नेतुं सुखं दुःखं संबंधाभावतः कथं । रागद्वेषौ यतस्तत्र क्रियेते मूढमानसैः ॥ ९ ॥
निग्रहानुग्रहौ कर्तुं कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः । रोषतोषौ न कुत्रापि कर्तव्याविति तात्त्विकैः ॥

अर्थ–यह पुद्गल वर्ण गंध रस स्पर्श और शब्दोंसे युक्त है, शुभ अशुभ-पुण्य पापस्वरूप है, चेतन अचेतन और मूर्तिक अमूर्तिक है इसलिये न इसके द्वारा जीवको सुख पहुंच सकता है और न दुःख। क्योंकि इसके साथ जीवका कोई संबंध नहीं। परंतु ये मनुष्य इतने मूढ-अज्ञानी हो रहे हैं कि वृथा रूप रस गंध आदिमें राग द्वेष करते हैं इसलिये जो

पुरुष भलेप्रकार तत्त्वोंके जानकार हैं उन्हें यह समझकर कि इस चिदानंद चैतन्यस्वरूप आत्माको न कोई सुखी बना सकता है और न कोई दुःखी, किसीमें राग और द्वेष न करना चाहिये। भावार्थ–जिसमें मिलना विछुड़ना होता है उसमें नियमसे रूप आदि गुण विद्यमान रहते हैं पुद्गलमें मिलने विछुड़नेकी शक्ति मोजूद है इसलिये वह रूप रस आदि गुणोंसे युक्त है, शुभ और अशुभ है अर्थात् किसी जातिके पुद्गल परमाणु शुभ कहलाते हैं और किसी जातिके अशुभ, चेतनस्वरूप और अचेतनस्वरूप है अर्थात् जो पुद्गल परमाणु राग द्वेष क्रोध मान आदि भावकर्म रूप परिणत हो जाते हैं वे चेतनस्वरूप और अन्य अचेतनस्वरूप कहे जाते हैं एवं वह मूर्तिक और अमूर्तिक स्वरूप भी है अर्थात् राग द्वेष पुद्गलकी पर्याय आत्माके विभाव परिणाम कहे जाते हैं इसलिये उन्हें अमूर्तिक भी कहदेते हैं और उनसे भिन्न मूर्तिक है। ऐसे पुद्गलके साथ जीवका कोई संबंध नहीं क्योंकि जीवका स्वरूप भिन्न है और पुद्गलका भिन्न। तथापि ये मूढ़ मनुष्य व्यर्थही उत्तम रूप उत्तम रस उत्तम गंध आदिमें राग और निंदितरूप निंदितरस और दुर्गंध आदिमें द्वेष करते हैं इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं-स्वपरका वास्तविक भेद समझते हैं उन्हें यह जानकर कि आत्माको कोई सुखी दुःखी नहिं बना सकता जराभी किसी पदार्थमें राग द्वेष नहिं करना चाहिये किंतु मध्यस्थ हो अपनी आत्माको विशुद्ध बनानेका उपाय करना चाहिये ॥ ८–९–१० ॥

परस्याचेतनं गात्रं दृश्यते न तु चेतनः ।
उपकारेऽपकारे क रज्यते क विरज्यते ॥ ११ ॥

अर्थ–विद्वान मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि अन्य मनुष्यका अचेतन शरीर दीखता है चेतन आत्मा नहीं इसलिये उससे कुछ उपकार होनेपर राग करना और अपकार होनेपर द्वेष करना वृथा है ॥ ११ ॥ तथा—

शत्रवः पितरो दाराः स्वजना भ्रातरोऽगजाः ।
निगृह्णंत्यनुगृह्णंति शरीरं चेतनं न मे ॥ १२ ॥

अर्थ–वैरी पिता स्त्रियां परिवारके लोग भाई और पुत्र मेरे शरीरका ही उपकार अपकार कर सकते हैं किंतु मेरे आत्माका नहीं। भावार्थ–बहुतसे मूढ़ मनुष्योंका यह विचार रहता है कि वैरी पिता स्त्रियां आदि हमारे उपकारी और

अपकारी हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे यदि उपकार वा अपकार करते हैं तो अचेतन शरीरका ही करते हैं आत्माका नहीं क्योंकि वह चिदानंद चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है और मूर्तिकसे अमूर्तिकका उपकार नहीं हो सक्ता १२

मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं चेतनात्तदचेतनं ।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं युक्तौ तेषु कथं मम ॥ १३ ॥

अर्थ–मैं चेतनस्वरूप हूं और शरीर अचेतनस्वरूप है इसलिये वह मुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा जानकर भी यदि मैं शत्रु मित्र आदिमें राग द्वेष करूं तो वह मेरा कैसे युक्त हो सकता है? अर्थात् शत्रु मित्र आदि द्वारा शरीरमें उपकार अपकार होनेपर उनमें मेरा राग द्वेष करना सर्वथा व्यर्थ है । भावार्थ–जो अपना हो यदि उसका कोई उपकार अपकार करै तब अवश्य राग द्वेष करना चाहिये परंतु यह शरीर तो अपना है नहीं। यह तो आत्मासे सर्वथा भिन्न है इसलिये यदि शत्रु मित्र द्वारा उसका उपकार अपकार होता है तो उससे कदापि राग द्वेष न करना चाहिये ॥ १३ ॥ तथा—

पश्याम्यचेतनं गात्रं यतो न पुनरात्मनः ।
निग्रहानुग्रहौ तेषां ततोहं विदधे कथं ॥ १४ ॥

अर्थ–मुझे जो शत्रु मित्र आदि दीखरहे हैं सो उनके अचेतन शरीर दीखरहे हैं वे (उनकी आत्मा) नहीं इसलिये यदि मैं उनका कुछ अपकार वा उपकार करना चाहूं तो व्यर्थ है अर्थात् शत्रु मित्र आदिके शरीरोंके उपकार अपकारसे उनका (उनकी आत्माका) उपकार अपकार नहिं हो सकता क्योंकि शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है ॥ १४ ॥

स्वदेहोपि न मे यस्य निग्रहानुग्रहे क्षमः ।
निग्रहानुग्रहौ तस्य कुर्वन् मन्ये वृथामतिः ॥ १५ ॥

अर्थ–जब मेरा शरीर भी मेरे उपकार वा अपकार करनेमें समर्थ नहीं तब मेरा दूसरा उपकार वा अपकार करता है यह मेरा विचार निरर्थक है। भावार्थ–यदि अपना शरीर भी अपना उपकार अपकार करता तो कथंचित् यह कह दिया जाता कि अन्य भी मेरा उपकार अपकार करसक्ता है परंतु जब अपना शरीर भी मेरा उपकार अपकार कर नहिं सकता तब दूसरा मनुष्य उपकार अपकार कैसे कर सक्ता है इसलिये ऐसा माननेवाला पुरुष कि मैं इसका उपकार वा अपकार करता हूं मूढबुद्धि है ॥ १५ ॥

शक्यंते न गुणाः कर्तुं हर्तुमन्येन मे यतः । कर्तुं हर्तुं परस्यापि न पार्यंते गुणा मया ॥ १६ ॥
मयान्यस्य ममान्येन क्रियतेऽक्रियते गुणाः । मिथ्यैषा कल्पना सर्वा क्रियते मोहिभिस्ततः १७

अर्थ—न कोई मेरे गुणोंका कर्ता हर्ता है और न मैं किसीके गुणोंका कर्ता हर्ता हूं इसलिये मूढ़ पुरुष जो यह कल्पना करते हैं मैं दूसरेके गुणकी उत्पत्ति वा नाश करदेता हूं और दूसरा मेरे गुणको उत्पन्न वा नष्ट कर देता है यह बुद्धि सर्वथा मिथ्या है । भावार्थ—गुण आत्माके स्वभाव हैं और जो स्वभाव होते हैं उनका कभी नाश नहिं हो सकता इसलिये न तो कोई मेरे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि अविनाशी गुणोंको उत्पन्न वा नष्ट कर सकता है और न मैं ही दूसरेके गुण उत्पन्न वा नष्ट कर सकता हूं इसलिये जो मैं दूसरेके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको उत्पन्न और नष्ट कर देता हूं और दूसरा मेरे उन गुणोंकी उत्पत्ति वा नास्ति कर देता है यह विचार स्वपरके भेदसे सर्वथा विमुख अज्ञानी जीवोंका है गुण पदार्थका कभी नष्ट हो ही नहीं सकता ॥ १६–१७ ॥

ज्ञानदृष्टिचरित्राणि ह्रियते नाक्षगोचरैः । क्रियंते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥ १८ ॥
उत्पद्यंते विनश्यंति जीवस्य परिणामिनः । ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥१९॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन और चारित्रका न तो इंद्रियोंके विषयोंसे हरण होता है और न गुरुओंकी निरंतर सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है किंतु इस जीवके परिणमन शील होनेसे प्रतिसमय इसके गुणोंकी पर्याय पलटतीं हैं--मतिज्ञान आदिकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये मतिज्ञान आदिका उत्पाद विनाश न तो स्वयं जीवही कर सकता है और न कभी परपदार्थसे ही उनका उत्पाद विनाश हो सकता है । भावार्थ—यहांपर ग्रंथकारने आत्माका गुण चैतन्य माना है और ज्ञान दर्शन आदिको पर्यायकी कोटिमें ग्रहण किया है किंतु अन्य शास्त्रोंमें ज्ञान दर्शनको भी गुण ही माना है इसलिये कोई यदि यहांपर यह शंका करै कि इंद्रियोंके विषयोंसे ज्ञान दर्शन और चारित्रका नाश होता अनुभवमें आता है और गुरु आदिकी सेवासे उनकी उत्पत्ति हुई देखी जाती है फिर उनके उत्पाद और व्ययका निषेध क्यों ? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने दिया है कि तुम जो यह मानते हो कि इंद्रियोंके विषयोंमें फस जानेसे ज्ञान आदिका नाश और गुरु आदिकी सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है यह भ्रम है क्योंकि यह आत्मा

परिणामशाली है इसलिये उसके गुणोंका स्वयं परिणमन हुआ करता है कभी ज्ञान मतिज्ञानरूप परिणत हो जाता है और कभी श्रुतज्ञान आदिरूप, ऐसा नहीं कि वे गुण तो थे नहीं और उत्पन्न हो गये ॥ १८–१९ ॥

शरीरमिंद्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः । ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वतः ॥ २० ॥
तत्त्वतो यदि जायंते तस्य ते न तदा भिदा । दृश्यंते दृश्यते चासौ ततस्तस्य न ते मताः २१

अर्थ–शरीर इंद्रिय द्रव्य विषय ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं यह बात व्यवहारसे कहदी जाती है निश्चयनयसे नहीं। यदि निश्चयनयसे भी यह बात मानली जाय शरीर आदि आत्माके हैं तब शरीर आदि और आत्मामें भेद न होना चाहिये और भेद तो देखनेमें आता है–शरीर आदि जुदे दीख पड़ते हैं और आत्मा जुदा दीखता है इसलिये शरीर आदि आत्माके नहीं। भावार्थ–यहांपर यदि कोई ऐसी शंका करै कि संसारमें यह व्यवहार देखनेमें आता है कि शरीर मेरा है स्पर्शन आदि इद्रियां, सुवर्ण चांदी आदि द्रव्य, रूप रस गंध आदि इद्रियोंके विषय, भांति भांतिके ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं । इसलिये ये आत्माके ही हैं तो उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि उपर्युक्त वातें व्यवहार नयसे है निश्चय नयसे नहीं यदि उनको निश्चय नयसे भी मानलिया जायगा तो शरीर आदि और आत्मामें जो भेद देखनेमें आता है वह भेद न दीखना चाहिये इसलिये यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि शरीर आदि आत्मा के नहीं वे उससे भिन्न हैं ॥ २०–२१ ॥

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं परं स्वं मन्यते सदा ।
आत्मतत्त्वरतो योगी विदधाति स संवरं ॥ २२ ॥

अर्थ–जो योगी इसप्रकार आत्मा और परपदार्थोंके स्वरूपको भलेप्रकार पहिचानकर परको पर और स्वको स्व मानता है एवं आत्मतत्त्वमें लीन होता है उसी योगीके संवर होता है । भावार्थ–जबतक वास्तविक रूपसे द्रव्योंके स्वरूपका ज्ञान नहिं होता तबतक परपदार्थ क्या है ? और स्व क्या है ? यह बोध नहिं हो सकता और जबतक स्वपरका वास्तविक ज्ञान नहीं, तबतक स्व-आत्मतत्त्वमें लीनता नहीं होती और जबतक आत्मतत्त्वमें लीनता नहीं होती तबतक संवरकी प्राप्ति नहि हो सकती इसलिये जो योगी संवर करना चाहता है उसे चाहिये कि वह पूर्वोक्त रीतिसे स्व परका ज्ञान कर आत्मतत्त्वमें लीन हो ॥ २२ ॥

विद्धाति परो जीवः किंचित्कर्म शुभाशुभं। पर्यायापेक्षया भुंक्ते फलं तस्य पुनः परः ॥२३॥
य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीवः शुभाशुभं। स एव भजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलं ॥२४॥
मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलं। आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलं ॥ २५ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा जीव शुभ अशुभ कर्मको उपार्जन करता है और दूसरा उसके शुभ अशुभ फलको भोगता है किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जो जीव शुभ अशुभ कर्मोंका उपार्जन करता है वही उसके फलको भोगता है क्योंकि अनुभवमें आता है कि पर्यायार्थिक नयसे मनुष्य पुण्यका संचय करता है और जब वह मरकर देव होता है उससमय वह पुण्यके फलको भोगता है परंतु द्रव्यार्थिकनयसे जो कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है अर्थात् देव आदि गतियोंमें भी आत्मा पहिला ही है वह नवीन उत्पन्न नहिं हुआ। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे मूलनय दो प्रकारका है। जो नय पर्यायोंको विषय न कर केवल द्रव्यको विषय करता है वह द्रव्यार्थिक है और जो द्रव्यको न विषयकर केवल पर्यायोंको विषय करता है वह पर्यायार्थिक है। जिससमय आत्माके साथ पर्यायार्थिक नयका संबंध किया जाता है उससमय वह एक भी अनेक प्रकारका कह दिया जाता है अर्थात् वह कभी मनुष्य कभी देव कभी नारकी आदि होता है इसलिये पर्यायोंके भेदसे उसके भी भेद होजाते हैं किंतु जिससमय द्रव्यार्थिक नयका संबंध किया जाता है उससमय वह एक ही कहा जाता है अर्थात् मनुष्य आदि स्वरूप होनेपर भी उसकी आत्मा द्रव्य एक ही रहती है इसलिये यहां यह कहा गया है कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा शुभ अशुभ कर्मोंका संचय करता है और दूसरा उसके फलको भोगता है जैसे कि-मनुष्य कर्मोंका उपार्जन करता है और देव उसके फलको भोगता है क्योंकि मनुष्य पर्यायसे देव पर्याय भिन्न है परंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जो कर्मोंका उपार्जन करता है वही उसके फलको भोगता है जैसे कि जो आत्मा मनुष्य अवस्थामें कर्मोंका संचय करता है वही देव अवस्थामें उसके फलको भोगता है क्योंकि मनुष्य अवस्था वा देव अवस्थामें एकही आत्मा है इसलिये जो मनुष्य यह कहते हैं दूसरा आत्मा कर्मोंका उपार्जन करता है और दूसरा उसके फलको भोगता है वह कथन सर्वथा तो असत्य है और कथंचित्-उपर्युक्त रीतिसे सत्य भी है ॥ २३–२५ ॥

नित्यानित्यात्मके जीवे तत्सर्वमुपपद्यते ।
न किंचिद्घटते तत्र नित्येऽनित्ये च सर्वथा ॥ २६ ॥

अर्थ–जब जीवको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य स्वीकार किया जायगा उससमय ऊपर कही हुई सब वातें ठीक हो सकती हैं और यदि उसे सर्वथा नित्य किं वा अनित्य ही माना जायगा तब वे वातें उपपन्न नहिं हो सकतीं भावार्थ–जैनसिद्धांत अनेकांत सिद्धांत है–एकांतरूपसे उसमें कोई वात नहिं मानी इसलिये उसमें सब पदार्थोंको नित्य अनित्य उभयस्वरूप भी माना गया है अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब अनित्य हैं । आत्मा भी पदार्थ है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अर्थात् कभी यह देव अवस्थासे मरकर मनुष्य और कभी मनुष्य अवस्थासे मरकर देव होता है इत्यादि नई पुरानी पर्यायोंके धारण करनेसे अनित्य है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वह नित्य है अर्थात् चाहैं कैसी भी पर्यायको धारण करले उसका नाश नहिं हो सकता-समस्त पर्यायोंमें वह अविनाशी आत्मा बना ही रहता है। यदि सर्वथा आत्माको नित्य मानलिया जायगा तो दूसरा (मनुष्य) कर्मोंका उपार्जन करता है और दूसरा (देव) उनके फलोंको भोगता है यह वात न वन सकैगी और यदि सर्वथा अनित्य मान लिया जायगा तो वही कर्मोंको उपार्जन करता है और वही फलोंको भोगता है यह वात न वन सकैगी तथा अनुभवमें आत्माकी नित्यता अनित्यता दोनों अवस्थायें आती हैं इसलिये जो आत्माको सर्वथा नित्य किंवा अनित्य ही मानते हैं उन्हैं चाहिये कि वे कथंचित् अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य और कथंचित् अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य मानें ॥ २६ ॥

चेतनः कुरुते भुंक्ते भावैरौदयिकैरयं ।
न विधत्ते न वा भुंक्ते किंचित्कर्म तदत्यये ॥ २७ ॥

अर्थ–जिससमय इस आत्मामें औदयिक भावोंका उदय होता है उससमय उनके द्वारा यह शुभ अशुभ कर्मोंको करता है और उनके फलको भोगता है किंतु जिससमय वे औदयिक भाव नष्ट हो जाते हैं उससमय यह न किसी प्रकारके कर्मोंका संचय करता है न उनके फलको भोगता है । भावार्थ–गति कषाय आदि इकीस प्रकारके औदयिक भाव

पहिले बतला दिये हैं, यह आत्मा जब कर्मोंका उपार्जन करता है उससमय औदयिक भाव निमित्त कारण होते हैं इसलिये जिससमय इस आत्मामें नरक तिर्यंच आदि गति, क्रोध मान आदि कषाय, पुल्लिंग आदि लिंग और मिथ्यादर्शन आदि औदयिक भावोंका उदय होता है उससमय यह शुभ अशुभ कर्मोंका उपार्जन करता है और उनके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है किंतु जिससमय औदयिक भावोंका नाश हो जाता है आत्मामें इनकी सत्ता विद्यमान नहिं रहती उससमय न यह किसीप्रकारके कर्मोंका उपार्जन करता है और न उनके फलको ही भोगता है ॥ २७ ॥ तथा—

पंचाक्षविषयाः किंचिन्नास्य कुर्वंत्यचेतनाः ।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दुःखदा मम ॥ २८ ॥

अर्थ—रूप आदि पांचों इद्रियोंके विषय इस आत्माका कुछ नहिं करसकते क्योंकि वे अचेतन हैं परंतु यह जीव विकल्पसे अर्थात् मोहसे उत्पन्न हुये भावोंसे यह मान लेता है कि वे मुझे सुख देनेवाले वा दुःख देनेवाले हैं। भावार्थ—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः और श्रोत्रके भेदसे इंद्रियां पांच हैं और उनके स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच क्रमसे विषय हैं एवं ये सब अचेतन हैं इसलिये न इस जीवको सुखी बनाते हैं न दुःखी परंतु यह मूढ़ जीव मोह आदिके विकल्पोंसे ऐसा समझ लेता हैं कि इंद्रियोंके विषय मुझे सुखदायी दुखःदायी हैं ॥ २८ ॥

न द्रव्यगुणपर्यायाः संप्राप्ता बुद्धिगोचरं ।
इष्टानिष्टाय जायंते संकल्पेन विना कृताः ॥ २९ ॥

अर्थ—केवल बुद्धिसे गम्य द्रव्यके गुण और पर्याय भी विना संकल्पके आत्माका इष्ट अनिष्ट नहिं कर सकते। भावार्थ—यदि यहांपर कोई ऐसी शंका कर बैठे कि जीवके बुद्धिगोचर गुण और पर्यायोंसे ही जीवका इष्ट वा अनिष्ट होता है तो उसका समाधान ग्रंथकारने किया है कि विना संकल्पके गुण पर्याय भी जीवका इष्ट अनिष्ट नहिं कर सकते अर्थात् जबतक गुण पर्यायोंमें यह संकल्प विकल्प रहैगा कि ये मेरे हैं वा दूसरेके हैं तबतक तो उनसे इस जीवका इष्ट अनिष्ट होता रहेगा और जब उनमें अपने परायेका संकल्प विकल्प नष्ट हो जायगा तब उनसे भी जीवका इष्ट अनिष्ट न होगा क्योंकि संकल्प विकल्प ही इष्ट अनिष्टमें कारण हैं ॥ २९ ॥ तथा—

न निंदास्तुतिवाक्यानि श्रूयमाणानि कुर्वते ।
संबंधाभावतः किंचिद्रुष्यते तुष्यते वृथा ॥ ३० ॥

अर्थ—तथा सुनेगये निंदा और स्तुतिके वचनभी इस जीवका कुछ नहिं करते क्योंकि उनका और जीवका कोई आपसमें संबंध नहीं इसलिये जो यह जीव निंदावचनोंसे रोष करता है और स्तुतिवचनोंसे संतोष मानता है यह भी व्यर्थ है। भावार्थ—यह बात स्पष्टरूपसे अनुभवमें आती है कि जिससमय यह जीव अपनी किसीसे निंदा सुनता है उससमय द्वेष करता है और जब प्रशंसा सुनता है उससमय प्रसन्न होता है परंतु इसका ऐसा करना व्यर्थ है क्योंकि निंदा और स्तुतिका आत्माके साथ कोई संबध नहीं—उनका संबंध शरीरके साथ है ॥ ३० ॥ किंतु—

आत्मनः सकलं बाह्यं शर्माशर्मविधायकं ।
क्रियते मोहदोषेण परथा न कदाचन ॥ ३१ ॥

अर्थ—आत्मामें जो बाह्य सुख दुःख उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्तिमें कारण मोह है। अन्य प्रकारसे कभी सुख दुःखकी उत्पत्ति नहिं होती। भावार्थ—ऊपर यह कह आये हैं कि आत्माको जो सुख दुःख होता है उसमें न तो इंद्रियोंके विषय कारण हैं न आत्माके गुण और पर्याय कारण हैं और न निंदा और स्तुतिके वचनोंका सुनना कारण है तब शंका होती है कि विना कारणके फिर आत्मामें सुख दुःख होते कहांसे हैं? उसका समाधान ग्रंथकारने यहां किया है कि जीवको जो सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं उनमें निमित्त कारण मोह है जिससमय यह मोहसे परपदार्थोंमें राग और द्वेष करता है उससमय स्वपरके ज्ञानसे रहित हो यह परपदर्थोंको इष्ट वा अनिष्ट मानता है और इष्टके वियोग वा अनिष्टके संयोगआदिसे सुखी दुःखी होता है ॥ ३१ ॥

नांजसा वचसा कोऽपि निंद्यते स्तूयतेऽपि वा ।
निंदितोऽहं स्तुतोऽहं वा मन्यते मोहयोगतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—वास्तविकरूपसे न तो कोई किसीकी निंदा करता है न स्तुति करता है परंतु यह जो जीव मानता है कि मेरी अमुकने निंदा की और अमुकने स्तुतिकी यह मोहसे है ॥ ३२ ॥ तथा—

नानंदो वा विषादो वा परे सक्रांत्यभावतः ।
परदोषगुणैर्नूनं कदाचिन्न विधीयते ॥ ३३ ॥

अर्थ—परके दोष और गुण परपदार्थमें प्रविष्ट नहिं होते इसलिये उनसे आनंद और विषाद कभी नहिं हो सकता भावार्थ—अन्यके दोष वा गुण उसीसमय आनंद वा विषाद कर सकते हैं जब वे अन्यमें प्रविष्ट होजांय सो तो है नहीं इसलिये अन्यके दोष वा गुणोंसे अन्यको हर्ष किं वा विषाद नहिं हो सकता ॥ ३३ ॥ तथा—

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा ध्यायतीति वृथा मतिः ।
पीड्यते पाल्यते वापि न परः परचिंतया ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह विचार करना कि यह मेरा अनिष्ट चिंतवन करता है और यह इष्ट, यह भी निरर्थक है क्योंकि दूसरेकी चिंतासे दूसरा न पीडित किया जा सकता है और न उसकी रक्षाकी जा सकती है । भावार्थ—मूढ़ मनुष्य, शत्रु अनिष्ट और मित्र इष्ट चिंतवन करते हैं इसीलिये हमारा इष्ट अनिष्ट होता है यह समझते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि ये परपदार्थ हैं इसलिये उनके इष्ट अनिष्टके चिंतवन करनेसे दूसरेकी आत्माका हित अहित नहीं हो सक्ता ।३४। तथा-

अन्योन्यस्य विकल्पेन वर्द्धते हाप्यते यदि ।
न संपत्तिर्वा विपत्तिर्वा तदा कस्यापि हीयते ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरेके संकल्प विकल्पोंसे दूसरेकी हानि वृद्धि नहीं होती । यदि ऐसा ही होता तो इससंसारमें किसी की भी कभी हानि और वृद्धि ही नष्ट न होती । भावार्थ—यदि एकके इष्ट चिंतवनसे दूसरेका इष्ट और अनिष्ट चिंतवनसे अनिष्ट होता तो एक जीवके वहुतसे तो इष्ट चिंतवन करते हैं इसलिये उसका इष्ट ही होता रहता और वहुतसे अनिष्ट चिंतवन करते रहते हैं तो अनिष्ट ही होता रहता पर ऐसा होता नहीं-इष्ट अनिष्ट होना तो कर्माधीन है इसलिये दूसरोंके संकल्प विकल्पोंसे दूसरोंकी वृद्धि हानि होती है यह वात मिथ्या है ॥ ३५ ॥

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः ।

न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ—मोहसे जिसै इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है क्योंकि निश्चयनयसे संसारमें न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है। भावार्थ—जो कपड़े शीतकालमें हितकारी इष्ट जान पड़ते हैं वे ही ग्रीष्मकालमें अनिष्ट-अहितकारी हो जाते हैं और जो ग्रीष्मकालमें इष्ट-हितकारी मालूम पड़ते हैं वे ही शीत-कालमें अनिष्ट अहितकारी जान पड़ते हैं इसलिये यह बात स्पष्टरूपसे मालूम पड़ती है कि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ इष्ट वा अनिष्ट नहीं किंतु यह जीव जो किसी पदार्थको इष्ट वा अनिष्ट समझता है यह इसका घोर मोह है ॥ ३६ ॥

रत्नत्रये स्वयं जीवः पावने परिवर्तते ।
निसर्गनिर्मलः शंखः शुक्लत्वे केन वर्त्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार स्वभावसे निर्मल शंख स्वयं अपने श्वेतस्वभावसे विद्यमान रहता है किंतु कोई उसै श्वेत बनाता नहीं उसीप्रकार यह जीव भी स्वयं पवित्र रत्नत्रयस्वरूप अपने स्वभावमें विद्यमान रहता है। भावार्थ—रत्नत्रय शब्द-का अर्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा यह जीवका स्वभाव है तो जिसप्रकार शंख स्वभावसे ही निर्मल अपने श्वेतस्वभावमें विद्यमान रहता है उसीप्रकार स्वभावसे विशुद्ध यह आत्मा भी सदा अपने रत्नत्रय स्वभा-वमें विद्यमान रहता है ॥ ३७ ॥

स्वयमात्मा परं द्रव्यं श्रद्धत्ते वेत्ति पश्यति ।
शंखचूर्णः किमाश्रित्य धवलीकुरुते परं ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार शंखका चूरा दूसरे पदार्थके स्वच्छ बनानेमें किसी अन्य पदार्थका आश्रय नहिं करता-स्वभाव से ही उसै स्वच्छ बना देता है उसीप्रकार यह आत्मा भी स्वभावसे ही परद्रव्योंका श्रद्धान करता है और उन्हें जा-नता देखता है अन्य कोई इसमें श्रद्धान, ज्ञान और दर्शनकी शक्ति उत्पन्न नहीं कर देता ॥ ३८ ॥ परंतु—

मोहेन मलिनो जीवः क्रियते निजसंगतः ।

स्फटिको रक्तपुष्पेण रक्ततां नीयते न किं ॥ ३९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार रक्तपुष्प अपने संबंधसे स्फटिक पाषाणको रक्त बनालेता है उसीप्रकार मोह भी अपने संबंधसे जीवको मलिन करदेता है। भावार्थ--स्फटिक पाषाण स्वभावसे निर्मल श्वेत है उसमें किसीप्रकारके हरे पीले लाल रंगका संबंध नहीं किंतु जिससमय रक्त आदि पुष्प उसके सामने आजाते हैं उससमय जिसप्रकार वे श्वेतभी स्फटिकको रक्त बनादेते हैं उसीप्रकार यह जीव भी स्वभावसे विशुद्ध है इसमें रागद्वेष आदि कोई विकार नहीं किंतु जिससमय यह मोहके फंदमें फँस जाता है उससमय मलिन हो जाता है-मोहके उदयसे इसके विशुद्ध गुण अविशुद्ध हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

निजरूपं पुनर्याति मोहस्य विगमे सति।
उपाध्यभावतो याति स्फटिकः स्वस्वरूपतां ॥ ४० ॥

अर्थ--किंतु जिसप्रकार उपाधि-रक्तपुष्प आदिके दूर हो जानेपर स्फटिक पुनः अपना स्वरूप धारण करलेता है-वह जैसा स्वच्छ श्वेत था वैसाका वैसाही फिर होजाता है उसीप्रकार जिससमय इस आत्मासे मोह दूर हो जाता है उससमय यह भी वैसाका वैसा ही हो जाता है-इसका शुद्ध चैतन्यस्वरूप दमक निकलता है ॥ ४० ॥

इत्थं विज्ञाय यो मोहं दुःखबीजं विमुंचति।
सोऽन्यद्रव्यपरित्यागी कुरुते कर्मसंवरं ॥ ४१ ॥

अर्थ--इसप्रकार जो मनुष्य यह जानकर कि मोह दुःखका कारण है उसका सर्वथा त्याग करदेते हैं वे अन्य द्रव्योंके भी त्यागी हो जाते हैं और उनके कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ--जबतक मोहका त्याग नहिं किया जाता तबतक पर पदार्थोंका त्याग नहिं हो सकता क्योंकि मोहके उदयसे सदा परपदार्थोंमें राग द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं तथा जबतक परपदार्थोंका त्याग नहिं होता तबतक शांति सुख नहिं मिल सकता क्योंकि परपदार्थोंमें राग द्वेषके कारण दुःख भोगना पड़ता है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्माका हित चाहते हैं वे यह विचारकर कि मोह दुःखका कारण है उसका सर्वथा त्याग करदेते हैं और मोहका त्याग हो जानेसे परपदार्थोंमें राग द्वेष न होनेके कारण उनके परपदार्थोंका भी त्याग हो जाता है इसलिये उनके कर्मोंका संवर होता रहता है ॥ ४१ ॥

शुभाशुभपरद्रव्यरागद्वेषविधायिनः ।
न जातु जायते शुद्धिः कुर्वतोऽपि चिरं तपः ॥ ४२ ॥

अर्थ–जो मनुष्य शुभ किं वा अशुभ परपदार्थोंमें राग और द्वेष करते हैं उनके चिरकाल पर्यंत तप करनेपर भी कभी शुद्धिकी प्राप्ति नहिं होती । भावार्थ–यदि वास्तवमें देखा जाय तो राग द्वेषके त्यागका ही नाम तप है क्योंकि जबतक राग द्वेषका त्याग नहिं होता तबतक तप बन ही नहिं सकता इसलिये जो मनुष्य शुभ पदार्थोंमें राग करते हैं और अशुभ पदार्थोंमें द्वेष करते हैं वे चाहैं कितना भी कायक्लेश तप क्यों न तपै कभी आत्माको विशुद्ध नहिं बना सकते इसलिये आत्माकी विशुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे सबसे पहिले राग द्वेषका त्याग करैं ॥ ४२ ॥

कुर्वाणः कर्म चात्मायं भुंजानः कर्मणां फलं ।
अष्टधा कर्म बध्नाति कारणं दुःखसंततेः ॥ ४३ ॥

अर्थ–पहिले यह आत्मा कर्मोंका उपार्जन करता है उसके बाद कर्मोंके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है पश्चात् फिर भी दुःखकी परंपराके कारण आठप्रकारके कर्मोंका बंध करता है । भावार्थ–कर्मोंके नाश करनेमें प्रधान कारण स्वपरका भेदविज्ञान है जबतक यह भेदविज्ञान आत्माके अंदर प्रकट नहिं होता तबतक यह आत्मा कर्मोंका संचय करता है और उनके सुख दुःख आदि फलोंको भोगता है तथा सुख दुःख आदिके भोगनेसे इसकी आत्मामें राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति होती है इसलिये पुनः यह ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठप्रकारके कर्मोंका संचय करता है और फिर अनेक प्रकारके दुःख भोगता है ॥ ४३ ॥

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति कर्मपाकं सदापि यः ।
सर्वकर्मबहिर्भूतमात्मानं स प्रपद्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ–किंतु जो आत्मा समस्त कर्मोंके उदयको पुद्गलीक समझता है उसै समस्त कर्मोंसे रहित विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है । भावार्थ–सर्वकर्मोंसे रहित-विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति उसीसमय हो सकती है जब कर्म और कर्मके फल आ-

दिको भिन्न पुद्गलीक समझ लिया जाता है इसलिये जिन महात्माओंको विशुद्ध आत्माकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि वे अवश्य कर्म और कर्म फल आदिको पुद्गलका विकार समझें उन्हें अपनेसे भिन्न मान किसीप्रकारका राग द्वेष न करें।

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो न गृह्णाति न मुंचति।
गृह्णाति मुंचते कर्म मिथ्याज्ञानमलीमसः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जो मनुष्य ज्ञानी हैं-भलेप्रकार स्वपरके भेदको जानते हैं और शुद्ध हैं वे तो न कर्मोंको ग्रहण करते हैं न छोडते हैं किंतु जो मिथ्याज्ञानसे मलिन हैं वे सदा कर्मोंका ग्रहण और त्याग करते रहते हैं। भावार्थ–कर्मोंके ग्रहण और छोडनेमें कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि हैं अर्थात् जबतक पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान वा ज्ञान रहता है तबतक सदा कर्म आते रहते हैं और अपनी स्थिति पूरी कर खिरते रहते हैं किंतु जिससमय मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि नष्ट हो जाते हैं, निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति हो जाती है और आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय कर्मोंका ग्रहण करना और छूटना बद हो जाता है। जो महात्मा ज्ञानवान हैं-सम्यग्ज्ञान आदि विभूतिसे मंडित हैं और शुद्ध हैं उनके कर्मोंका ग्रहण वा छूटना नहिं होता किंतु जो मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी हैं-जिनको पदार्थोंका श्रद्धान वा ज्ञान विपरीत रहता है वे सदा कर्मोंका ग्रहण और मोचन करते रहते हैं ॥ ४५ ॥

सामायिके स्तवे भक्त्या वंदनायां प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः ॥ ४६ ॥

अर्थ–जो महानुभाव भक्तिपूर्वक सामायिक स्तवन वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका आचरण करता है उसके कर्मोंका संवर हुआ करता है ॥ ४६ ॥

यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे रागद्वेषव्यपोहनं।
आत्मतत्त्वनिविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥ ४७ ॥

अर्थ–जो महानुभाव आत्मतत्त्वके स्वरूपके ध्यानमें लीन हैं उनका जो समस्त द्रव्योंमें राग द्वेषका त्याग है उसीका नाम सामायिक है। भावार्थ–जो अपने ज्ञानसे समस्त पदार्थोंको जाने उसका नाम समय अर्थात् आत्मा है और जो

आत्मामें हो उसका नाम सामायिक है तो जिससमय आत्मतत्त्वके रसके आस्वादन करनेवाले मनुष्योंकी आत्मामें समस्त पदार्थोंके राग और द्वेषका त्याग हो जाना है उसे सामायिक कहते हैं ॥ ४७ ॥

रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकं ।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः ॥ ४८ ॥

अर्थ--जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध, चैतन्य गुणोंके धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माकी स्तुति करता है स्तवनके जानकार महापुरुषोंने उसके स्तवनको उत्तम स्तवन माना है। भावार्थ--जिस स्तवनसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप विशुद्ध, अनंत सौख्य आदि चैतन्य गुणस्वरूप, और समस्तकर्मोंसे रहित विशुद्ध आत्माकी प्रशंसाकी जाती है वही वास्तविक स्तवन है किंतु राग द्वेष विशिष्ट राजा आदिकी वा उनके कार्योंकी प्रशंसा करना स्तवन नहीं इसलिये ऐसे ही स्तवनसे कर्मोंका आगमन रुकता है ॥ ४८ ॥

पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमं ।
आत्मानं वंद्यमानस्य वंदनाऽकथि कोविदैः ॥ ४९ ॥

अर्थ--तथा जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्माकी वंदना करता है विद्वानोंने उसी वंदनाको उत्तम वंदना कहा है। भावार्थ--वहुतसे लोग मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्रको आचरण करनेवाले रागी और द्वेषी आत्माओंकी वंदना करते हैं परंतु वह यथार्थ वंदना नहीं किंतु जो आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप है--उत्तम-राग द्वेष आदिसे रहित है उसीकी वंदना करना वास्तविक वंदना है ॥ ४९ ॥

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषां ।
आत्मीयत्वपरित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥ ५० ॥

अर्थ--पहिले किये हुये कर्मोंके प्रदत्त फलोंको अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है। भावार्थ--जो कुछ मैंने जीवोंकी विराधना की है उन्हें दुःख पहुंचाया है वह पूर्वमें किये हुये कर्मोंके उदयमें आनेसे परवश हो पहुंचाया है उनसे मेरा कोई संवंध नहीं इसप्रकारके भाव करना प्रतिक्रमण है ॥ ५० ॥

आगम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं ।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिनः ॥ ५१ ॥

अर्थ–जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओंसे रहित आत्माको देखनेवाले हैं उनके जो पापोंके आनेमें कारण भूत भावोंका त्याग है उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। भावार्थ–प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है इसलिये जिन भावोंसे कर्मोंका आगमन होता है उन भावोंका सर्वथा त्याग करदेना प्रत्याख्यान है और यह प्रत्याख्यान उन्हीं महापुरुषोंके होता है जो समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माके निहारनेवाले हैं ॥ ५१ ॥

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितं ।
न तस्य वर्तते कार्यें कायोत्सर्गं करोति सः ॥ ५२ ॥

अर्थ–जो महानुभाव यह समझकर कि यह शरीर अचेतन है, विनाशीक है और कर्मोंसे उत्पन्न हुआ है, उसके लिये कुछ कार्य नहिं करता अर्थात् उत्तमोत्तम भोजन भूषण आदिसे उसका भरण पोषण नहिं करता वह मनुष्य कायोत्सर्गका धारक गिना जाता है। भावार्थ–शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व परिणाम न रखना कायोत्सर्ग है। जो मनुष्य शरीरको अपना मानकर उसका रातदिन भरण पोषण करता है उसके कायोत्सर्ग नहिं होता किंतु जो यह समझता है कि शरीर अचेतन है मैं चेतन हूं, शरीर विनाशीक है मैं अविनाशी हूं, शरीर कर्मजनित उपाधि है मैं कर्मरहित परम शुद्ध हू इसीलिये उसके भरण पोषणकेलिये किसीप्रकारका प्रयत्न नहिं करता उसके कायोत्सर्ग होता है ॥ ५२ ॥

यः षडावश्यकं योगी स्वात्मतत्त्वव्यवस्थितः ।
अनालस्यः करोत्येव संवृतिस्तस्य रेफसां ॥ ५३ ॥

अर्थ–इसप्रकार जो योगी अपने आत्मतत्त्वमें निश्चलरूपसे स्थित और आलसरहित होकर सामायिक आदि छै आवश्यकोंको पालता है उसके अवश्य कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ–ऊपर कह दिया जा चुका है कि सामायिक स्तव वंदना आदि छै आवश्यकोंका पालन कर्मोंके संवरकेलिये किया जाता है तथा आवश्यकोंका पालन उसीसमय

हो सकता है जिससमय निश्चलरूपसे आत्मस्वरूपमें स्थिति हो और किसीप्रकारका आलस्य न किया जाय इसलिये जो योगी निश्चलरूपसे आत्मस्वरूपमें लीन होकर आलस्यका सर्वथा परित्यागकर उपर्युक्त छै आवश्यकोंका पालन करता है उसके अवश्य कर्मोंका संवर होता है ॥ ५३ ॥ तथा—

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य सम्यग्ज्ञानपरायणः ।
आत्मनात्मपरिज्ञायी विधत्ते रोधमेनसां ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मिथ्याज्ञानका सर्वथा त्यागकर सम्यग्ज्ञानमें लीन रहता है और अपनेसे ही अपने स्वरूपका जाननेवाला है उसके पापोंका संवर होता है-नवीन कर्मोंका उसकी आत्मामें आगमन नहिं होता ॥ ५४ ॥

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्भावतोऽस्ति त्वभोजकः ।
भावतो भोजकस्त्वन्यो द्रव्यतोऽस्ति त्वभोजकः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे द्रव्यरूपसे विषयोंके भोगनेवाले होनेपर भी भावरूपसे भोगनेवाले नहिं हैं और जो अज्ञानी हैं वे द्रव्यरूपसे भोगनेवाले न होनेपर भी भावरूपसे भोगनेवाले हैं। भावार्थ—ज्ञानी पुरुष स्व परका पूर्ण भेद जानता है इसलिये वह असमर्थताके कारण द्रव्यरूपसे विषयोंका भोग करता है परंतु उनमें आसक्ति न होनेके कारण भावरूपसे भोग नहिं करता परंतु जो पुरुष अज्ञानी है हित अहितके विचारसे सर्वथा शून्य है वह द्रव्यरूपसे विषयोंका भोग न भी करै तथापि विषयोंमें अति अनुरक्तता होनेके कारण भावरूपसे अवश्य विषयोंका भोग करता है अर्थात् सदा उसके परिणाम ऐसे बने रहते हैं कि कब अमुक विषय मिले और कब मैं उसका भोग करूं ॥ ५५ ॥ इसलिये—

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः ।
भावतो यो निवृत्तोसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य व्यवहारी हैं वे द्रव्यरूपसे निवृत्त भी मनुष्यकी पूजा करसकते हैं किंतु जो मोक्षाभिलाषी हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हैं भावरूपसे निवृत्त मनुष्योंकी ही पूजा करनी चाहिये। भावार्थ—जो मनुष्य व्यवहारी

हैं उन्हें अपने कार्यकी सिद्धिकेलिये सवप्रकारके कार्य करने पड़ते हैं इसलिये वे किसी प्रयोजनसे केवल द्रव्यरूपसे विषयोंके न सेवन करनेवाले मनुष्योंका भी पूजन कर सकते हैं किंतु जिन महानुभावोंको मोक्ष प्राप्त करना है और जो संसारसंबंधी प्रयोजनोंसे विमुख हैं-उन्हें भावरूपसे विषयोंसे पराङ्मुख मनुष्योंकी ही पूजा करनी चाहिये ॥५६॥ क्योंकि-

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसां ।
भावतोस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य केवल द्रव्यरूपसे विषयोंसे निवृत्त हैं उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं किंतु जो भावरूपसे निवृत्त हैं उन्हींके वास्तविकरूपसे कर्मोंका संवर होता है। भावार्थ—कर्मोंका आना जाना परिणामोंके ऊपर निर्भर है यदि जीवके परिणाम रागरूप रहैंगे तो वह कितना भी ऊपरसे ढोंग क्यों न रचै अवश्य उसके कर्मोंका आगमन होता रहेगा और यदि उसके परिणामोंमें राग नहिं है और वह कथंचित् विषय आदिमें प्रवृत्त भी है तथापि उसके कर्मोंका संवर होता है यहांपर ग्रथकारने यही आशय इस श्लोकसे प्रकट किया है अर्थात् यदि कोई पुरुष द्रव्यरूपसे विषय आदिसे निवृत्त है—प्रत्यक्षरूपसे विषय सेवन आदि कार्य नहिं करता किंतु परिणामोंमें उनके सेवनकी लालसा रखता है उस मनुष्यके अवश्य पापोंका आस्रव होता है किंतु जिस मनुष्यकी विषय सेवनमें लालसा नहीं और वह यदि किसीकारणसे विषयोंका सेवन भी करता है तथापि उसके पापोंका आस्रव न होकर संवर ही होता है ॥ ५७ ॥ इसलिये—

विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा ।
भाव्यं भावनिवृत्तेन समस्तैनोनिषिद्धये ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें द्रव्य ओर भावरूप निवृत्तिका भलेप्रकार स्वरूप जानकर और मन वचन कायसे द्रव्यरूपसे विषयोंसे निवृत्त होकर समस्त पापोंके नाशार्थ भावरूपसे भी विषयोंसे निवृत्त हो जाना चाहिये। भावार्थ—यद्यपि द्रव्यरूपसे विषयोंकी निवृत्तिकी अपेक्षा भावरूपसे निवृत्ति उत्कृष्ट है परंतु केवल भावनिवृत्तिसे भी समस्त पापोंका नाश नहिं हो सकता इसलिये जो महानुभाव विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि समस्त पापोंके नाशार्थ पहिले मन वचन कायसे द्रव्यरूपसे विषयोंसे निवृत्ति करैं पश्चात् भावरूपसे भी निवृत्त हों ॥ ५८ ॥

शरीरमात्मनो भिन्नं लिंगं येन तदात्मकं। न मुक्तिकारणं लिंगं जायते तेन तत्त्वतः ॥ ५९ ॥
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं न मुक्तिर्जायते ततः। अन्यथा कारणं तस्य कर्म केन निवर्तते ॥६०॥

अर्थ—शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीरस्वरूप है इसलिये आत्मासे भिन्न होनेके कारण निश्चयनयसे लिंग मोक्षका कारण नहीं। क्योंकि मुक्तावस्थामें जिस पदार्थका संबंध छूट जाता है वह मोक्षमें कारण नहिं हो सक्ता। लिंग मोक्षावस्थामें छूट जाता है इसलिये वह उसमें कारण नहीं। यदि भिन्न होनेपर लिंगको मोक्षकी प्राप्तिमें कारण माना जायगा तव कर्मको कारणपनेका कौन निषेध करैगा? भावार्थ—यदि व्यवहारसे देखा जाय तो शरीर वा लिंग भी मोक्षमें कारण हैं क्योंकि जबतक शरीरको तपमें न लगाया जायगा और दिगंबर लिंग न धारण न किया जायगा तबतक कर्मोंका क्षय नहिं हो सकता और कर्मोंका विना क्षय किये मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती परंतु निश्चयनयसे लिंग मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं हो सक्ता क्योंकि जिसका आत्माके साथ अभेद संबंध है और जो मुक्तावस्थामें विद्यमान रहता है—छूटता नहीं, वही मुक्तिका कारण हो सक्ता है लिंग शरीरस्वरूप होनेसे आत्मासे भिन्न है और वह मुक्तावस्थामें छूट जाता है यदि शरीर वा लिंगको भी मोक्षका कारण मानलिया जायगा तो ज्ञानावरण आदि कर्म भी मोक्षके कारण कहने पड़ेंगे क्योंकि जिसप्रकार शरीर वा लिंग आत्मासे भिन्न है और मुक्तावस्थामें छूट जाता है उसी-प्रकार कर्म भी आत्मासे भिन्न है तथा मुक्तावस्थामें छूट जाता है ॥ ५९–६० ॥

अचेतनं ततः सर्वं परित्याज्यं मुमुक्षुणा।
चेतनं सर्वदा सेव्यं स्वात्मस्थं संवरार्थिना ॥ ६१ ॥

अर्थ—अंतमें ग्रंथकार उपसंहार करते हुये लिखते हैं कि जो महानुभाव मुमुक्षु हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और संवरार्थी हैं-कर्मोंके संवरकी अभिलाषा रखते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त अचेतन पदार्थोंका त्याग करै और जो आत्मिक चेतन पदार्थ हैं उनका सेवन करै। भावार्थ—ऊपर चेतन अचेतन पदार्थोंको बतला आये हैं और यह भी कह आये हैं कि अचेतन पदार्थोंका आश्रय हानिकारक है एवं आत्मिक चेतन पदार्थोंके आश्रयसे कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिये यहां ग्रंथकार सबका संक्षेपमें सार बतलाते हैं कि जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और कर्मोंके संवरके

आकांक्षी हैं उन्हैं चाहिये कि वे अचेतन पदार्थोंका सर्वथा त्याग करदें और आत्मिक चेतन पदार्थोंको अपनावें क्योंकि अचेतन पदार्थोंके अपनानेसे संवर वा मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती किंतु आत्मिक चेतन पदार्थोंके अपनानेसे ही संवर और मोक्ष मिल सकते हैं ॥ ६१ ॥

आत्मतत्त्वमपहस्तितरागं ज्ञानदर्शनचरित्रमयं यः।
मुक्तिमार्गमवगच्छति योगी संवृणोति दुरितानि स सद्यः ॥ ६२ ॥

अर्थ–जो योगी रागभावसे रहित, आत्माके स्वरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गको प्राप्त हो चुका है वह योगी शीघ्र ही समस्त पापोंका संवर करता है अर्थात् किसी नवीन कर्मका आस्रव उसकी आत्मामें नहिं होता। भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्क्चारित्रस्वरूप समुदायको मोक्षमार्ग बतलाया है और वह रागरहित आत्मस्वरूप है इसलिये जो योगी इसप्रकारके मोक्षमार्गको प्राप्तकर चुका है उसके ही पापोंका संवर होता है और जिसको यह प्राप्त नहीं उसके सदा कर्मोंका आस्रव हुआ करता है ॥ ६२ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें संवराधिकार समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

अथ निर्जराधिकार ॥ ६ ॥

पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा।
निर्जरा जायते द्वेधा पाकजाऽपाकजात्वतः ॥ १ ॥

अर्थ–पहिले उपार्जन किये हुये कर्मोंका जो एकदेशरूपसे क्षय होना है उसका नाम निर्जरा है और वह पाकजा और अपाकजाके भेदसे दो प्रकारकी है। भावार्थ–पहिले कहदिया गया है कि जिसके द्वारा नवीन कर्मोंका आगमन रुक जाय उसै संवर कहते हैं इसलिये जिससमय यह आत्मा संवरस्वरूपको प्राप्त करलेता है उससमय नवीन कर्म तो इसकी आत्मामें आते नहीं परंतु जो कर्म पहिलेसे संचित हैं उनका नाश कैसे होता है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा प्रश्न होनेपर उनके नाशकी कारण निर्जराका यहां वर्णन किया जाता है। निर्जराका सामान्य अर्थ कर्मोंका झड़ना

है और विशेष अर्थ—एक देशरूपसे कर्मोंका झड़ना यह है। यह निर्जरा दो प्रकारकी है एक सविपाकजा और दूसरी अविपाकजा। स्थिति पूरी हो जानेपर जो स्वयं कर्मोंका खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और यह हर एक संसारी जीवके प्रतिसमय हुआ करती है तथा कर्मोंकी स्थिति पूरी हो या न हो तप आदिके द्वारा उनकी स्थिति पूरी कर जो कर्मोंका मध्यमें ही खिरादेना है वह अविपाक निर्जरा है यह निर्जरा संवरके बाद होती है, और इसी निर्जरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते। निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥ २ ॥
शुष्काशुष्का यथा वृक्षा दह्यंते दववह्निना। पक्वापक्वास्तथा ध्यानप्रक्रमेणाघसंचयाः ॥ ३ ॥

अर्थ—पाकजा अर्थात् सविपाकनिर्जरामें पक्व-अर्थात् पूर्ण स्थितिवाले कर्मोंका ही क्षय होता है और अपाकजा-अविपाक निर्जरासे पक्व अपक्व दोनोंप्रकारके कर्मोंका नाश होता है क्योंकि जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्निसे सूखे हरे समस्तप्रकारके वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानके अभ्याससे पक्व अपक्व दोनों प्रकारके कर्म खिर पड़ते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार वृक्षपर जब फल पकजाते हैं उससमय वे अपने आप खिर पड़ते हैं उसीप्रकार जिससमय कर्म पक जाते हैं अर्थात् अपनी स्थिति पूरी करलेते हैं उससमय स्वय नष्ट हो जाते हैं यह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार डंडे आदिसे पके कच्चे दोनों प्रकारके फल मध्यमें ही गिरा दिये जाते हैं उसीप्रकार ध्यानके द्वारा पूर्ण स्थितिवाले वा अपूर्णस्थितिवाले दोनोंप्रकारके कर्मोंका नाश करदेना अविपाक निर्जरा है। यह सविपाक वा अविपाक निर्जराका प्रचलित दृष्टांत दिया गया है किंतु यहां ग्रंथकारको अभिमत यह दृष्टांत है-कि जिसप्रकार वृक्ष सूखकर अपने आप गिर जाता है उसीप्रकार जो कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेपर स्वयं खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्निसे हरे सूखे समस्त प्रकारके वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी अग्निके द्वारा पूर्णस्थिति वाले वा अपूर्णस्थितिवाले दोनों प्रकारके कर्मोंका मध्यमें ही नाश होजाना है वह अविपाक निर्जरा है ॥२—३॥

दूरीकृतकषायस्य विशुद्धध्यानलक्षणः।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः कर्मणां निर्जरांपरां ॥ ४ ॥

अर्थ—जो साधु समस्त कषायोंसे रहित है उसका जो विशुद्ध ध्यानकरनारूप अभ्यास है उसके द्वारा अविपाक निर्जरा

होती है। भावार्थ–यह कह दिया जा चुका है कि अविपाक निर्जरामें प्रधान कारण ध्यान है और यह ध्यान उसी योगीका ग्रहण किया गया है जो समस्त कषायोंसे रहित है इसलिये जो योगी अविपाक निर्जराके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त कषायोंका नाश कर शुद्ध ध्यानका अवलंबन करैं जिससे उनके कर्मोंकी अविपाक निर्जरा हो जाय ॥४॥ तथा–

आत्मतत्त्वरतो योगी कृतकल्मषसंवरः।
यो ध्याने वर्तते नित्यं कर्म निर्जीर्यतेऽमुना ॥ ५ ॥

अर्थ–जो योगी आत्मस्वरूपमें लीन हैं और कर्मोंका संवर कर चुके हैं वे जिससमय ध्यानमें लीन होते हैं उस-समय उनके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ ५ ॥ किंतु—

संवरेण विना साधोर्नास्ति पातकनिर्जरा।
नूतनांभःप्रवेशोस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥ ६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार नवीन जलके आनेपर सरोवर रीता नहिं हो सकता उसीप्रकार विना संवरके साधुके कर्मोंकी अविपाक निर्जरा नहिं हो सकती । भावार्थ–सरोवर उसीसमय रिक्त हो सकता है जब कि उसमें नवीन जल लाने वाली नालियां बंद करदी जांय किंतु जबतक उसमें नवीन पानी आता रहैगा तबतक वह सदा जलसे भरा पूरा रहैगा उसीप्रकार जबतक आत्मा संवर अवस्थाको धारण न करैगा तबतक उसके कभी अविपाक निर्जरा नहिं हो सकती क्योंकि अविपाक निर्जरा संवरके बाद होती है और जबतक नवीन कर्म आते रहैंगे तबतक संवर प्राप्त नहिं हो सकता। इसलिये जबतक संवर न होगा तबतक अविपाक निर्जराका होना असंभव है ॥ ६ ॥

रत्नत्रयमयं ध्यानमात्मरूपप्ररूपकं।
अनन्यगतचित्तस्य विधत्ते कर्मसंक्षयं ॥ ७ ॥

अर्थ–जो योगी अनन्यगतचित्तका धारक है–परपदार्थोंमें चित्त न लगाकर केवल आत्माका विचार करनेवाला है उस योगीका आत्माके स्वरूपकी प्ररूपणा करनेवाला एवं रत्नत्रयस्वरूप ध्यान कर्मोंका नाश करता है । भावार्थ–मनकी गति बड़ी चंचल है । जबतक यह परपदार्थोंमें फंसा रहता है–आत्माका विचार न कर परपदार्थोंका ही विचार

करता रहता है तवतक कभी यह रत्नत्रयस्वरूप और आत्माके वास्तविक स्वरूपको प्ररूपण करनेवाले ध्यानको प्राप्त नहिं हो सक्ता और जवतक ऐसा ध्यान नहीं प्राप्त होता तवतक कर्मोंका क्षय नहिं हो सक्ता इसलिये जो योगी कर्मोंका क्षय करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे परपदार्थोंमें चित्त न लगाकर केवल आत्माकी ओर उसे लगावें जिससे उन्हें आत्मस्वरूपको प्रकटरूपसे जनानेवाले रत्नत्रयस्वरूप ध्यानकी प्राप्ति हो और उससे कर्मोंका नाश हो ॥ ७ ॥

त्यक्तांतरेतरग्रंथो निर्व्यापारो जितेंद्रियः ।
लोकाचारपराचीनो मलं क्षालयतेऽखिलं ॥ ८ ॥

अर्थ--जो योगी वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागी हैं--निर्व्यापार-किसी प्रकारका व्यापार नहिं करते इंद्रियोंके जीतनेवाले और समस्त लौकिक व्यवहारसे पराङ्मुख हैं वे समस्त कर्मोंका नाश करदेते हैं। भावार्थ--'ममेदं' यह मेरा है ऐसा जो मोहयुक्त भाव है उसे परिग्रह कहते हैं । यह परिग्रह वाह्य अभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है । सुवर्ण रजत आदि मेरे हैं ऐसा भाव वाह्य परिग्रह है और राग द्वेष आदि अंतरंग परिग्रह हैं। जवतक यह आत्मा इस परिग्रहमें फसा रहता है तवतक यह अनेक प्रकारके व्यापार करता रहता है, इंद्रियां भी इसकी वश नहिं रहती और सवप्रकारके लोक व्यवहारमें दत्तचित्त रहता है इसलिये इसके सदा कर्मबंध हुआ करता है किंतु जिससमय इसका वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्व हट जाता है उससमय इसका व्यापार करना भी छूट जाता है। इंद्रियां भी विषयोंकी ओर नहिं दौड़तीं और लोकव्यवहारसे भी सर्वथा विमुखता आजाती है इसलिये उससमय इसके कर्मोंका नाश होता रहता है ॥ ८ ॥

शुभाशुभविशुद्धेषु भावेषु प्रथमद्वयं ।
यो विहायांतिमं धत्ते क्षीयते तस्य कल्मषं ॥ ९ ॥

अर्थ--शुभ अशुभ और विशुद्धके भेदसे भाव तीन प्रकारके हैं उनमें जो योगी आदिके दो अर्थात् शुभ अशुभ दोनों भावोंको छोड़कर अंतके विशुद्ध भावोंको धारण करता है उसके पापोंका क्षय होता है। भावार्थ--समस्त प्राणियोंमें मित्रता, गुणियोंको देखकर हर्षित होना, दीन जीवोंपर दया करना आदि शुभ भाव हैं। समस्त जीवोंमें शत्रुता,

गुणियोंको देखकर डाह ईर्षा आदि करना अशुभ भाव हैं और दोनोंसे विरुद्ध केवल आत्मस्वरूपका विचार करनेवाले विशुद्ध भाव हैं। इनमें शुभ भावोंसे पुण्य, अशुभभावोंसे पाप और विशुद्धभावोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य विशुद्ध भावोंकी ओर ध्यान न देकर शुभ और अशुभ भावोंको करते रहते हैं उनके कर्मोंका नाश नहिं होता किंतु उनसे पुण्य पापकी उत्पत्ति होती है और पुण्य किं वा पापसे संसारमें घूमना पड़ता है किंतु जो योगी शुभ अशुभ दोनों भावोंका सर्वथा त्याग कर विशुद्ध भावोंको धारण करते हैं उनके कर्मोंका क्षय होता है ॥ ९ ॥

वाह्यमभ्यंतरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपको नहिं जानता है वह चाहैं वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके तप करै वा एक प्रकारका करै कभी कर्मोंकी निर्जरा नहिं कर सकता। भावार्थ—अनशन अवमोदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेशके भेदसे छै प्रकारका वाह्य तप और प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गके भेदसे छै प्रकारका अभ्यंतर तप है। जिससमय यह वारह प्रकारका तप शुद्ध आत्मस्वरूपको जानकर तपा जाता है उससमय इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है और जिससमय अज्ञानपूर्वक किया जाता है उससमय कर्मबंध होता है इसलिये जो पुरुष अज्ञानी है-भलेप्रकार शुद्ध आत्माके स्वरूपको नहिं जानता वह उपर्युक्त दोनों प्रकारके तप वा एक प्रकारके तप करनेपर भी कर्मोंकी निर्जरा नहिं कर सकता इसलिये तपस्वियोंको सबसे प्रथम शुद्ध आत्माके स्वरूपका जानना आवश्यकीय है ॥ १० ॥

कर्म निर्जीर्यते पूतं विदधानेन संयमं।
आत्मतत्त्वनिविष्टेन जिनागमनिवेदितं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन है और जैनशास्त्रमें जैसा संयमका स्वरूप वतलाया है उसीप्रकारके पवित्र संयमका आचरण करनेवाला है वह नियमसे कर्मोंकी निर्जरा करता है। भावार्थ—यदि आत्मस्वरूपका भलेप्रकार ज्ञान न हो और संयमका पालन किया जाय तव भी कर्मोंकी निर्जरा नहिं होती तथा आत्मस्वरूपके ज्ञान रहनेपर भी यदि

संयम न पाला जाय तब भी कर्म निर्जीर्ण नहि हो सकते इसलिये कर्मोंकी अविपाक निर्जरामें आत्मस्वरूपके ज्ञानके साथ पवित्र संयमका पालन करना ही कारण है ॥ ११ ॥

अन्याचारपरावृत्तः स्वतत्त्वचरणादृतः ।
संपूर्णसंयमो योगी विधुनोति रजः स्वयं ॥ १२ ॥

अर्थ–जो योगी अन्य समस्त आचरणोंसे विमुख है, आत्मस्वरूपके आचरण करनेमें तत्पर है और अखंड संयमका पालन करनेवाला है वह योगी स्वयं समस्त कर्मोंका नाश करदेता है अर्थात् ऐसे योगीके कर्मरज स्वयं नष्ट होजाते है ॥ १२ ॥ किंतु—

हित्वा लोकोत्तराचारं लोकाचारमुपैति यः ।
संयमो हीयते तस्य निर्जरायां निबंधनं ॥ १३ ॥

अर्थ–जो मूढ़ पुरुष उत्तम आचारको छोड़कर निकृष्ट लौकिक आचारका आचरण करता है उसका निर्जराका कारण संयम नष्ट हो जाता है। भावार्थ–ऊपर कहदिया जा चुका है कि संयम अविपाक निर्जरामें प्रधान कारण है जबतक आत्मज्ञानके साथ संयम न धारण किया जायगा तबतक अविपाक निर्जरा होनी दुस्साध्य है तथा यह संयम उत्कृष्ट आचारको छोड़कर केवल लोकाचारके आचरणसे विद्यमान नहिं रह सकता इसलिये जो पुरुष उत्कृष्ट आचारको छोड़कर लौकिक आचारको अपनाते हैं उनके यथार्थ संयमका उदय नहिं होता तथा यथार्थ संयमके उदयके अभावसे उनके कर्मोंकी निर्जरा भी नहिं होती ॥ १३ ॥ तथा—

चारित्रं विदधानोऽपि पवित्रं यदि तत्त्वतः ।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं न शुद्धिं श्रयते तदा ॥ १४ ॥

अर्थ–पवित्र चारित्रका आचरण करता हुआ भी जो पुरुष वास्तविक रूपसे भगवान अर्हंतके वचनोंपर श्रद्धान नहिं करता वह मनुष्य शुद्धिको प्राप्त नहिं हो सकता। भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकताकी प्राप्ति शुद्धिमें कारण है यदि इनमें एककी भी न्यूनता रहैगी तो भी कभी शुद्धि प्राप्त नही होसकती यदि कोई

पदार्थका स्वरूप भलेप्रकार जानकर पवित्र चरित्रका आचरण करता है परंतु भगवान अर्हतके वचनोंपर श्रद्धान नहिं करता उसके कभी शुद्धिकी प्राप्ति नहिं होती इसलिये शुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे जिसप्रकार अखंड चारित्रका पालन करते हैं उसीप्रकार भगवान अर्हतके वचनोंपर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनको भी अवश्य धारण करैं ॥ १४ ॥

विचित्रे चरणाचारे वर्तमानोऽपि संयतः ।
जिनागममजानानः सदृशो गतचक्षुषः ॥ १५ ॥

अर्म-तथा जो संयमी मनुष्य विचित्र आचरणका आचरण करता हुआ भी यदि भगवान जिनेंद्रके आगमका ज्ञाता नहीं-शास्त्रोंके रहस्यको भलेप्रकार नहिं जानता वह (नेत्रवाला होनेपर भी) अंधेके समान हे । भावार्थ-ऊपरके श्लोकमें बतला दिया गया है कि विना सम्यग्दर्शनके धारण किये चारित्र किसी कामका नहीं और यहां यह वात वतलाई है कि विना ज्ञानके चारित्र किसी कामका नहीं क्योंकि शास्त्रज्ञानको भी व्यवहारसे सम्यग्ज्ञान कहा है इसलिये जो योगी भलेप्रकार चारित्रके आचरण करनेपर भी शास्त्रज्ञान-सम्यग्ज्ञानसे शून्य है वह सर्वथा अंधा है ॥ १५ ॥ क्योंकि—

साधूनामागमश्चक्षुः भूतानां चक्षुरिंद्रियं ।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृताः सर्वचक्षुषः ॥ १६ ॥

अर्थ-साधुओंका नेत्र शास्त्र है । प्राणियोंका नेत्र चक्षुरिंद्रिय है । देवोंका नेत्र अवधिज्ञान है और जो निर्वृत अर्थात् निर्वाण धामको प्राप्त सिद्ध हैं वे सर्वचक्षु अर्थात् केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं वे अपने अखंड ज्ञानसे ही समस्त पदार्थोंको देखते हैं ॥ १६ ॥

प्रदर्शितमनुष्ठानमागमेन तपस्विनः ।
निर्जराकारणं सर्वं ज्ञाततत्त्वस्य जायते ॥ १७ ॥

अर्थ-इसलिये जो तपस्वी भलेप्रकार पदार्थके स्वरूपका जानकार है उसके जो शास्त्रमें बतलाये हुये चारित्रका आचरण है वह सब निर्जराका कारण है अर्थात् शास्त्रानुसार चारित्रके आचरणसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥ १७ ॥

अज्ञानी बध्यते यत्र सेव्यमानेऽक्षगोचरे। तत्रैव मुच्यते ज्ञानी पश्यताश्चर्यमीदृशं ॥ १८ ॥
शुभाशुभविकल्पेन कर्मायाति शुभाशुभं। भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये निर्विकल्पस्य निर्जरा॥१९॥

अर्थ—इंद्रियोंके विषयोंके सेवन करनेपर अज्ञानीके तो कर्म बंध होता है परंतु ज्ञानीके नहीं उल्टा उसके कर्मोंका नाश होता है यह आश्चर्यकी वात है। ठीक भी है क्योंकि शुभ अशुभ विकल्पोंके करनेसे शुभ अशुभ कर्मोंका आगमन होता है जो योगी शुभ अशुभ विकल्पोंको नहिं करता उसके समस्त द्रव्योंके भोगनेपर भी कर्मोंकी निर्जरा ही होती है। भावार्थ—यह वात ऊपर भी बतादी गई है कि शुभ अशुभ कर्मोंके बंधनेमें शुभ अशुभ विकल्प कारण हैं। जबतक यह अच्छा है यह बुरा है इस प्रकारके विकल्प हुआ करते हैं तबतक नियमसे कर्मबंध हुआ करता है क्योंकि पदार्थोंके अच्छे बुरे माननेसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेषसे अवश्य कर्मबंध होता है। अज्ञानी मनुष्य जिससमय विषयोंका सेवन करता है उससमय उनमें घनिष्ट लोलुपताके कारण राग द्वेष करता रहता है और राग द्वेषसे सदा उसके कर्मोंका बंध हुआ करता है परंतु ज्ञानी पुरुष जिससमय विषय भोग करता है उससमय वह शुभ अशुभ विकल्प नहि करता। शुभ अशुभ विकल्पोंके न करनेसे उसके राग द्वेषकी उत्पत्ति नहिं होती इसलिये उसके कर्मोंका बंध नहिं होता, उल्टी निर्जरा ही होती है।

अहमस्मि न कस्यापि न ममान्यो वहिस्ततः।
इति निष्किंचनो योगी धुनीते निखिलं रजः ॥ २० ॥

अर्थ—न तो मै किसीका हूं और न कोई मेरा है किंतु समस्त वाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं जो योगी ऐसा विचार करनेसे निष्किंचन है परपदार्थोंको अपनाता नहीं वह समस्त कर्मोंका नाश करता है। भावार्थ—आत्मामें जबतक यह विकल्प हुआ करता है कि स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंका मै हूं और स्त्री पुत्र आदि पदार्थ मेरे हैं तबतक अज्ञानतासे कर्मबंध हुआ करता है परंतु जिससमय उक्त विकल्प नष्ट हो जाता है और निराकांक्ष हो मनमें यह भावना हो निकलती है कि मै किसी अन्य पदार्थका नहीं और मेरा भी कोई पदार्थ नहीं उससमय कर्मोका बंध नहिं होता-वे नष्ट होते रहते हैं।

मुक्त्वा विविक्तमात्मानं मुक्त्यै येऽन्यमुपासते।

ते भजंति हिमं मूढा विमुच्यागिंन हिमच्छिदे ॥ २१ ॥

अर्थ–समस्त कर्मोंसे रहित निर्दोंप आत्माको छोड़कर जो मूढ मोक्षके लिये अन्यकी उपासना करते हैं वे ठंडीके नाशके लिये अग्निको छोड़कर वर्फका सेवन करते हैं ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ–यह वात भलेप्रकार निश्चित है कि ठंडीका नाश अग्निके सेवनसे ही हो सकता है वर्फके सेवनसे नही किंतु वर्फके सेवनसे और भी अधिक ठंडका कष्ट भोगना पड़ता है उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्ति भी कर्मोंसे रहित निर्दोंप आत्माके सेवनसे ही हो सकती है अन्य पदार्थके उपासनसे नहीं किंतु अन्य पदार्थके उपासनसे संसारमें घूमना पड़ता है और नानाप्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं और जो पुरुप ठंडीके नाशके लिये अग्निको छोड़कर वर्फका सेवन करता है वह जिसप्रकार मूढ़ समझा जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य मोक्षकेलिये निष्कलंक आत्माको छोड़कर अन्यपदार्थकी उपासना करता है वह महामूर्ख समझा जाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मोक्षकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध आत्माका ही आराधन करै ॥ २१ ॥

योन्यत्र वीक्षते देवं देहस्थे परमात्मनि।
सोन्ने सिद्धे गृहे शंके भिक्षां भ्रमति मूढधीः ॥ २२ ॥

अर्थ–जो मूढ पुरुप परमात्माके देहमें विद्यमान रहते भी दूसरी जगह उसे देखता फिरता है मैं समझता हूं वह पुरुप घरमें भोजन तयार रहनेपर भी भीखके लिये घूमता फिरता है ऐसा जान पड़ता है। भावार्थ–जैनसिद्धांतमें आत्माके मूल भेद दो माने हैं एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। जो आत्मा कर्मोंसे जिकड़ा हुआ है और संसारमें रहनेवाला है वह जीवात्मा कहा जाता है और समस्तकर्मोंका नाश करनेवाला एवं सिद्धशिलामें विराजमान परमात्मा कहा जाता है। जिससमय यह जीवात्मा समस्त कर्मोंसे रहित होकर सिद्धशिलामें विराजमान होता है उससमय यही परमात्मा कहलाता है इसलिये यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो परमात्मा हमारे शरीरके भीतर ही विराजमान है परंतु जिसप्रकार घरमें भोजन तयार रहनेपर भी इधर उधर भीख मागनेवाला पुरुप निंदनीक समझा जाता है उसीप्रकार अपने शरीरमें विद्यमान परमात्माको छोडकर जो पुरुप अन्यत्र कंकर पत्थरोंमें उनको देव मानकर उसकी खोज करता फिरता है वह भी महामूढ़ और निंदनीक समझा जाता है ॥ २२ ॥

कषायोदयतो जीवो वध्यते कर्मरज्जुभिः ।
शांतक्षीणकषायस्य त्रुट्यंति रभसेन ताः ॥ २३ ॥

अर्थ—कषायके उदयसे यह जीव कर्मरूपी रज्जुओंसे बंधता है;किंतु जिससमय इसके कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उससमय इसकी कर्मरूपी रज्जू वातकीवातमें टूट पड़ती हैं । भावार्थ—कर्मोंको, रज्जूकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार रज्जुसे कडीरीतिसे जिकड़ा हुआ मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक कुछ भी कार्य नहिं कर सकता किंतु जिससमय इसकी रज्जू दूर हो जाती है उससमय वह स्वतंत्रतासे इच्छानुसार आनंद भोगता है उसीप्रकार जब तक यह आत्मा कर्मोंसे बँधा रहता है तबतक इसै स्वाधीन सुख-मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती किंतु जिससमय यह कर्मोंसे रहित हो जाता है उससमय यह स्वाधीन सुखका भोग करता है। तथा यह जो आत्मा कर्मोंके फंदमें फसता है उसमें कारण क्रोध आदि कषाय हैं और जिससमय वे कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उससमय इसके किसी प्रकारका कर्म बंध नहिं होता ॥ २२ ॥

सर्वत्र प्राप्यते पापैः प्रमादनिलयीकृतः ।
प्रमाददोषनिर्मुक्तः सर्वत्रापि हि मुच्यते ॥ २४ ॥

अर्थ—जबतक यह आत्मा प्रमादी बना रहता है तबतक प्रमादसे उत्पन्न हुये पाप कर्मोंसे यह सदा सर्वत्र बधता रहता है किंतु जिससमय यह कषाय आदि दोषोंसे रहित हो जाता है उससमय कहीं पर भी यह कर्मोंसे नहिं बंधता-उल्टा छूटता है । भावार्थ—क्रोध मान माया आदि भेदसे प्रमाद पंद्रह प्रकारका है जबतक यह जीव क्रोधी मानी आदि प्रमादी बना रहता है तबतक इसके प्रमादके द्वारा सदा पापोंका उदय होता रहता है और उन पापोंसे यह सदा सर्वत्र बंधता रहता है किंतु जिससमय इसके प्रमाद नष्ट हो जाते हैं-यह क्रोधी मानी लोभी आदि नहिं रहता उससमय इसके पापोंकी उत्पत्ति नहिं होती इसलिये उनसे जरा भी कहीं पर नहिं बंधता उल्टा छूटने लगता है ॥ २४ ॥

स्वतीर्थममलं हित्वा शुद्धयेऽन्यद्व्रजंति ये ।

ते मन्ये मलिनाः स्नांति सरः संत्यज्य पल्वले ॥ २५ ॥

अर्थ—जो पुरुष निर्मल आत्मारूपी तीर्थको छोड़कर शुद्धिके लिये अन्यतीर्थकी उपासना करते हैं-उसमें स्नान करते हैं मैं समझता हूं वे मलिन-निकृष्ट पुरुष, सुंदर सरोवरको छोड़कर पल्वल-कीचड़युक्त जलके धारण करनेवाले तुच्छ तालावमें स्नान करते हैं। भावार्थ—जिसके द्वारा मनुष्य तिरैं-अविनाशी आनंद सुखको भोगैं उसका नाम तीर्थ है बहुतसे मनुष्योंने शुद्धिकेलिये गंगा यमुना आदिको तीर्थ समझ रक्खा है इसलिये वे उसीमें स्नानकर अपनेको शुद्ध मान लेते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि गंगा जमुना आदि तीर्थोंके आश्रयसे शरीरकी शुद्धि होती है आत्माकी शुद्धि नहीं और आत्माकी शुद्धिके विना निराकुलतामय सुख प्राप्त नहीं होता किंतु आत्मारूपी तीर्थमें स्नान करनेसे ही आत्माकी विशुद्धि और अव्याबाधस्वरूप सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये जो मूढ़ पुरुष परम पवित्र आत्मारूपी तीर्थका सर्वथा त्यागकर अन्य तीर्थ गंगा यमुना आदिकी उपासना करते हैं वे सुंदर स्वच्छ सरोवरको छोड़कर कीचड़युक्त तलावमें स्नान करते हैं ऐसा जान पड़ता है अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे अपने आत्मारूपी तीर्थमें ही अवगाहन करै। नाम मात्रके झूंठे तीर्थोमें चित्तको न भटकावें ॥ २५ ॥

स्वात्मानमिच्छुभिर्ज्ञातुं सहनीयाः परीषहाः।
नश्यत्यसहमानस्य स्वात्मज्ञानं परीषहान् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी आत्माके जाननेके अभिलाषी हैं उन्हें अवश्य परीषह सहनी चाहिये क्योंकि परीषहोंको न सहनेवाले पुरुषोंका स्वात्मज्ञान नष्ट होता है। भावार्थ—भूंख प्यासका सहना, ठंडी गरमीका दुःख भोगना, मच्छर डांस आदिसे उत्पन्न पीड़ा भोगना आदि परीषह हैं। जिससमय मोक्षाभिलाषी मुनिवर परिग्रहोंसे ममत्व हटाकर और दिगंबर व्रतको धारणकर वनमें निवास करते हैं उससमय वे इन सब परीषहोंको सहते हैं और वास्तविक आत्माके ज्ञानका लाभ करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि परीषहोंसे शरीरको कष्ट होता है और शरीर हमारा है नहीं। यदि वे शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व करैं तो संक्लिष्ट परिणाम होनेसे उन्हें कभी आत्मज्ञान नहिं हो सकता इसलिये जो महानुभाव आत्माका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य परीषहोंको सहैं। क्योंकि शरीरमें ममत्वकर परीषह न सहनेसे उनका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

अनुबंधः सुखे दुःखे न कार्यो निर्जरार्थिभिः ।
आर्तं तदनुबंधेन जायते भूरिकर्मदं ॥ २७ ॥

अर्थ–जो मनुष्य निर्जरार्थी हैं-कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख किं वा दुःखसे किसीप्रकारका संबध न रक्खें क्योंकि सुख और दुःखके संबंधसे अनेक प्रकारके कर्मोंके प्रदान करनेवाले आर्तध्यानकी उत्पत्ति होती है। भावार्थ–संसारमें तो इष्ट पदार्थोंके समागम वा वियोग आदि सदा हुआ करते हैं और उनसे सुख दुःख उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये जो पुरुष कर्मोंकी निर्जरा चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख किं वा दुःख आपड़नेपर जरा भी सुखी दुःखी न हों क्योंकि सुखी दुःखी होनेसे आर्तध्यानकी उत्पत्ति होती है और आर्तध्यानसे अनेकप्रकारके कर्मोंका आगम होता है ॥ २७ ॥

आत्मावबोधतो नूनमात्मा शुद्ध्यति नान्यतः ।
अन्यतः शुद्धिमिच्छंतो विपरीतदृशोऽखिलाः ॥ २८ ॥

अर्थ–यह निश्चय है कि आत्माके ज्ञानसे ही आत्माकी शुद्धि होती है अन्यसे नहीं परंतु जो पुरुष अन्य पदार्थसे शुद्धि चाहते हैं वे समस्त भ्रांत–मिथ्यादृष्टि हैं। भावार्थ–आत्माकी शुद्धिका अर्थ आत्माको अनंतज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति है और यह शुद्धि उसीसमय प्राप्त हो सकती है जब कि अन्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि न लगाकर केवल आत्मिक ज्ञान आदि गुणोंका चिंतवन किया जाय। इसलिये जो महापुरुष आत्माके स्वरूपको जानते हैं और उसीका आराधन करते हैं उन्हींकी आत्मा शुद्ध होती है और अन्य प्रकारसे शुद्धि चाहनेवालोंकी आत्माकी शुद्धि नहीं बल्कि वैसा करनेवाले हित अहितके विचारसे शून्य मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा मलिनेनामलेन वा । परद्रव्यवहिर्भूतः परद्रव्येण सर्वथा ॥ २९ ॥
स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया । न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ॥ ३० ॥

अर्थ–यह आत्मा परपदार्थोंसे सर्वथा वहिर्भूत है–परद्रव्य और आत्माका कोई आत्मिक संबंध नहीं इसलिये चाहें परद्रव्य मलिन हो वा निर्मल हो उससे कभी यह आत्मा स्पृष्ट और शुद्ध नहिं हो सकता इसलिये विद्वानोंको चाहिये

कि परपदार्थोंके त्यागकी इच्छासे आत्माके स्वरूपकी भावना करै क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी पर्वा नहिं करते वे परद्रव्योंका त्याग नहिं कर सकते । भावार्थ–यह ऊपर भी बतला दिया गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और परद्रव्य जड़ हैं इसलिये चाहैं वे मलिन हों वा निर्मल हों कभी आत्माको स्पृष्ट वा शुद्ध नहिं बना सकते। तथा जो पुरुष परद्रव्यका त्याग करना चाहते हैं वे आत्मस्वरूपकी भावनासे ही कर सकते हैं इसलिये जिन महानुभावोंको परद्रव्योंके त्यागनेकी इच्छा हो उन्हैं चाहिये कि वे अवश्य आत्माके स्वरूपकी भावना करै क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी भावना नहिं करते उनके परद्रव्योंका त्याग नहिं हो सकता ॥ २९–३० ॥

विज्ञातव्यं परद्रव्यमात्मद्रव्यजिघृक्षया ।
अविज्ञातपरद्रव्यो नात्मद्रव्यं जिघृक्षति ॥ ३१ ॥

अर्थ–तथा आत्मद्रव्यकी ग्रहण करनेकी इच्छासे परद्रव्यकास्वरूप अवश्य जानना चाहिये क्योंकि जो पुरुष परपदार्थको नहिं जानता वह कभी आत्माके ग्रहण करनेकी इच्छा नहिं कर सकता। भावार्थ–पदार्थ अच्छे बुरे दोनों प्रकारके होते हैं परंतु अच्छेकी कदर उसीसमय हो सकती है जब बुरे पदार्थ वा उसके दोषोंको जानलिया जाय क्योंकि जबतक हमको बुरा पदार्थ अपना अहितकारी न मालूम होगा तबतक हम अच्छेकी कैसे कदर कर सकते हैं ? आत्मा पदार्थ अच्छा हितकारी और ग्रहण करनेके योग्य है परंतु इसका ग्रहण उसीसमय हो सकता है जब परपदार्थोंको अहितकारी और बुरा समझ लिया जाय अर्थात् जबतक हम परपदार्थोंके स्वरूपको न समझैंगे तबतक कभी आत्माके ग्रहण रनेकेलिये प्रवृत्त नही होसकते इसलिये जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी जाननेकी इच्छा रखते हैं उन्हैं चाहिये कि वे पहिले अवश्य परपदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान करै ॥ ३१ ॥

स्वतत्त्वरक्तये नित्यं परद्रव्यविरक्तये ।
स्वभावो जगतां भाव्यः समस्तमलमुक्तये ॥ ३२ ॥

अर्थ–उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे आत्माके स्वरूपमें प्रेम करनेकेलिये परपदार्थोंसे प्रेम हटानेकेलिये और समस्त पापोंके नाशकेलिये संसारके स्वभावकी अवश्य भावना करैं। भावार्थ-संसार असार है। जो आज राजा दीखते हैं वे कल

रंक और जो रंक दीखते हैं वे कल राजा हो जाते हैं। यह जीव कर्मोंके फंदमें पड़कर कभी नारकी कभी तिर्यंच आदि हो नानाप्रकारका दुःख भोगता है असली शांति इसे क्षणभरकेलिये भी कहीं नहिं मिलती इत्यादि जबतक संसारका स्वरूप नहिं विचारा जाता तबतक आत्माके स्वरूपके विचारनेमें चित्त नहिं लगता एवं परपदार्थोंसे विराग नहिं होता किंतु जिससमय संसारके असारस्वरूपकी भावना मनमें हो निकलती है उससमय चित्तमें निर्दोष आत्माके स्वरूपका चिंतवन होने लगता है परपदार्थोंसे विरक्ति हो जाती है इसलिये कर्मोंका नाश होजाता है क्योंकि कर्मोंके नाशमें आत्मस्वरूपका चिंतवन और परपदार्थोंसे विरक्ति प्रधान कारण है इसलिये जो मनुष्य कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मस्वरूपके चिंतवन करने और परपदार्थोंसे विरक्त होनेकेलिये अवश्य संसारके स्वरूपकी भावना करें ॥३२॥

यत्पंचाभ्यंतरैः पापैः सेव्यमानः प्रबध्यते ।
न तु पंचवहिर्भूतमाश्चर्यं किमतः परं ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो जीव पांच अभ्यंतर पापोंसे सेवित है वह तो बंधता है और जो पांच पापोंसे रहित है वह नहिं बंधता है यह बड़ा आश्चर्य है। भावार्थ–सेनाके कई भेद हैं उनमें एकप्रकारकी अभ्यंतर सेना भी है जो अंगरक्षक कही जाती है। जिस राजाके पास यह अभ्यंतर सेना रहती है वह शत्रुओं द्वारा नहिं बंधता और जिससमय वह उस सेनासे बाहिर निकल जाता है उससमय देखते देखते शत्रु उसे बांध लेते हैं परंतु यहांपर विपरीत बात है जो जीव पांचप्रकारके अभ्यंतर पापोंसे सेवित-रक्षित है वह तो कर्मबंधनसे बंध जाता है किंतु जो उन पापोंसे रहित है-जिसका कोई भी पाप रक्षक नहीं कर्मबंध उसके पास भी नहिं फटकने पाते। सारार्थ-पापोंके कारण नियमसे कर्मबंधन होता है ॥ ३३ ॥

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञानमज्ञानस्य प्रयच्छति ।
आराधना कृता यस्माद्विद्यमानं प्रदीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानकी आराधना करता है उसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और जो अज्ञानकी आराधना करता है उसे अज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि जो चीज जिसके पास विद्यमान रहती है वही दी जाती है। भावार्थ—जो पुरुष विद्यावान है वह विद्या ही प्रदान कर सकता है धन नहीं और जो धनवान है वह धन प्रदान कर सकता है वि-

द्या नहीं। ज्ञानके पास ज्ञान है इसलिये जिससमय ज्ञानकी आराधना की जाती है उससमय ज्ञानकी प्राप्ति होती है और अज्ञानके पास अज्ञान है इसलिये जिससमय अज्ञानकी आराधना की जाती है उससमय अज्ञान मिलता है ॥ ३४ ॥

न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदो विद्यते सर्वथा यतः ।
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी ज्ञातो भवति तत्त्वतः ॥ ३५ ॥

अर्थ—ज्ञान और ज्ञानीका आपसमें सर्वथा भेद नहीं इसलिये जिससमय निश्चयनयसे ज्ञान जान लिया जाता है उससमय ज्ञानी-आत्माका भी ज्ञान हो जाता है। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि जैनसिद्धांतमें व्यवहार और निश्चय दो नय मानी गई हैं और इनके द्वारा पदार्थोंकी व्यवस्था होती है। व्यवहारनयसे संज्ञा-संख्या आदिके भेदसे यद्यपि ज्ञान ज्ञानीमें भेद माना गया है परंतु निश्चयनयसे नहीं। निश्चयनयसे जो ज्ञान है वही ज्ञानी और जो ज्ञानी है वही ज्ञान है इसलिये जिससमय शुद्धनिश्चयनयसे हम ज्ञानका ज्ञान करते हैं उससमय ज्ञानी-आत्माका भी अवश्य ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण प्रत्यक्षमनुभूयते ।
ज्ञानानुभवहीनस्य नार्थज्ञानं प्रसिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

अर्थ—ज्ञान आत्मामें मौजूद है इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्षकी महिमासे सबको आत्मामें ज्ञानकी मोजूदगीका ज्ञान है और जिसको ज्ञानका अनुभव नहिं है वह पदार्थोंका भी ज्ञान नहिं कर-सकता। भावार्थ—ज्ञान अमूर्तिक आत्माका गुण होनेके कारण अमूर्तिक है इसलिये मूर्तिक इंद्रियोंसे उसका प्रत्यक्ष नहिं हो सकता किंतु 'अहं अहं' (मैं मैं) इत्याकारक स्वानुभव प्रत्यक्षसे उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता है इसलिये इस स्वानुभव प्रत्यक्षके माहात्म्यसे सब लोग आत्मामें ज्ञानकी सत्ता मानते हैं एवं यह नियम है कि जो पुरुष ज्ञानका अनुभवी है-उसे जानता है वही अन्य पदार्थोंको भी जान सकता है किंतु जिसको ज्ञानका ज्ञान नही वह अन्य पदार्थोंका भी ज्ञान नहिं कर सकता ॥ ३६ ॥

प्रतीयते परोक्षेण ज्ञानेन विषयो यदि। सोऽनेन परकीयेण तदा किन्न प्रतीयते ॥ ३७ ॥

येनार्थो ज्ञायते तेन ज्ञानी न ज्ञायते कथं। उद्योतो दृश्यते येन दीपस्तेन तरां न किं ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि यह कहोगे कि ज्ञान परोक्ष है—किसीप्रकारसे उसका प्रत्यक्ष नहिं हो सकता परंतु वह विषयोंको अवश्य जानता है तब वह आत्माको क्यों नहिं जानता-आत्माका भी उसे अवश्य ज्ञान होना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार दीपकके प्रकाशमें घट पट आदि पदार्थ दीखते हैं और साथमें प्रकाशक दीपक भी दीखता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थोंका ज्ञान हो और ज्ञानी आत्माका ज्ञान न हो यह कैसे हो सकता है? आत्माका भी अवश्य ज्ञान होना चाहिये। भावार्थ—जिसप्रकार पदार्थोंपर प्रकाशके पड़नेसे पदार्थ भी दीखते हैं और दीपक भी स्पष्टरूपसे दिखलाई देता है केवल यह बात नहीं कि पदार्थ ही पदार्थ दीखें प्रकाशक दीपक न दीखे उसीप्रकार जिससमय पदार्थोंपर ज्ञानकी झलक पड़ती है उससमय पदार्थोंका जैसा ज्ञान होता है उसीप्रकार ज्ञानी आत्माका भी ज्ञान होता है इसलिये जो महाशय ज्ञानको परोक्ष और घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञायक होनेपर भी आत्माका ज्ञायक नहीं मानते उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानसे आत्माका भी ज्ञान होना मानें ॥ ३७–३८ ॥

विंदंति दुर्धियो वेद्यं वेदकं न विंदंति किं।
द्योत्यं पश्यंति न द्योतमाश्चर्यं वत कीदृशं ॥ ३९ ॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि बड़ा आश्चर्य है कि जब मूढ़ पुरुष वेद्य-पदार्थोंको जानते हैं तब वेदक—आत्माको क्यों नहिं जानते क्योंकि जब द्योत्य पदार्थोंको देखते हैं तब द्योत-प्रकाशको क्या नहिं देखते। भावार्थ—वेद्यका अर्थ जानने योग्य पदार्थ, वेदकका अर्थ जाननेवाला, द्योत्यका अर्थ प्रकाशित होनेके लायक और द्योतका अर्थ प्रकाश करनेवाला है जो मूढ़ पुरुष यह मानते हैं कि हम वेद्यको जानते हैं वेदकको नहीं उनका कथन बड़ा आश्चर्यपरिपूर्ण और प्रत्यक्ष-बाधित है क्योंकि जिसप्रकार द्योत्य और द्योत दोनों दीखते हैं यह नहीं कि केवल द्योत्य ही दीखे उसीप्रकार वेद्य और वेदक दोनों ही दीखते हैं केवल वेद्य नहीं इसलिये आत्माका वा ज्ञानका ज्ञान नहिं होता यह कल्पना निर्मूल है ।३९।

ज्ञेयलक्ष्येण विज्ञाय स्वरूपं परमात्मनः।
व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं ध्यायतो हानिरंहसां ॥ ४० ॥

अर्थ—इसप्रकार जो पुरुष ज्ञेय लक्ष्य रूपसे परमात्माके स्वरूपको जानकर और लक्ष्यस्वरूपका त्यागकर शुद्धस्वरूप

का ध्यान करता है उसके पापोंका नाश होता है । भावार्थ–जबतक स्वयं परमात्माके स्वरूपके जाननेकी सामर्थ्य न उत्पन्न हो तबतक उसका ज्ञेयस्वरूपसे ज्ञान करना चाहिये अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्ष वा आगम प्रमाणसे उसका स्वरूप जानना चाहिये किंतु जिससमय उसके स्वरूपके जाननेकी स्वयं सामर्थ्य हो जाय उससमय ज्ञेयस्वरूपसे हटकर उसके शुद्धस्वरूपका ध्यान करना चाहिये क्योंकि परमात्माके शुद्धस्वरूपके ध्यानसे कर्मोंका नाश होता है और शुद्धस्वरूपमें लक्ष्य लक्षण वा ज्ञेय ज्ञानका कुछ विभाग नहीं ॥ ४० ॥

चट्टुकेन यथा भोज्यं गृहीत्वा स विमुच्यते ।
गोचरेण तथात्मानं विज्ञाय स विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ–जिसप्रकार करछीसे भोजन ग्रहणकर वह छोड़ दी जाती है उसीप्रकार इंद्रियज्ञानसे आत्माको जानकर इंद्रियज्ञान भी छोड़ दिया जाता है । भावार्थ–जिसप्रकार भोजनके बाद चट्टुकका रखना व्यर्थ है उसीप्रकार इंद्रियज्ञान–मानसिक प्रत्यक्ष आदिसे आत्माका ज्ञान होजानेपर इंद्रियज्ञान भी निष्प्रयोजन है इसलिये भोजनके बाद जिसप्रकार चट्टुक सर्वथा छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार इंद्रियज्ञानसे आत्माको जानकर इंद्रियज्ञानका भी सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥ ४१ ॥

उपलब्धे यथाऽहारे दोषहीने सुखासिकः ।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्रमित्यहो ज्ञानिनां रतिः ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिसप्रकार निर्दोष आहारके ग्रहणसे आनंद मिलता है उसीप्रकार आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे भी परम आनंद प्राप्त होता है यह ज्ञानियोंका प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है । भावार्थ–जो पुरुष आहारके आकांक्षी हैं और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहते हैं उनको जिसप्रकार निर्दोष आहारके मिलजानेसे परम सुख मिलता है उसीप्रकार जो ज्ञानी मनुष्य आत्मस्वरूपके आकांक्षी हैं और शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भी शुद्ध आत्मस्वरूपके प्राप्त हो जानेसे परम संतोष होता है यह ज्ञानियोंका प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है अर्थात् वे वाह्य पदार्थोंकी चटक मटकमें न फसकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें प्रेम करते हैं इसलिये उनका प्रेम सर्वोत्कृष्ट प्रेम है ॥ ४२ ॥

परद्रव्यं यथा सद्भिर्ज्ञात्वा दुःखविभीरुभिः ।
दुःखदं त्यज्यते दूरमात्मतत्त्वरतैस्तथा ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दुःखसे डरनेवाले सज्जनपुरुष परपदार्थ सर्प काटे आदिको दूरसे ही छोड देते हैं उसीप्रकार जो पुरुष आत्मस्वरूपमें लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थोंको दूरसे ही सर्वथा छोडदेते हैं । भावार्थ—सर्प कांटे आदि पदार्थ दुःखके देनेवाले हैं इनके दर्शनमात्रसे हृदयमें दुःखकी भावना हो निकलती है इसलिये दुःखसे भय करनेवाले सज्जन पुरुष जिसप्रकार उनका सर्वथा त्याग कर देते हैं उसीप्रकार जो पुरुष संसारके दुःखसे भयभीत हैं और अपने आत्मिक शुद्धरूपमें लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थोंको दुःखका कारण जान उनका सर्वथा त्याग करदेते हैं—उन्हें कभी भी नहिं अपनाते ॥ ४३ ॥

ज्ञाने विशोधिते ज्ञानमज्ञानेऽज्ञानमूर्जितं ।
शुद्धं स्वर्णमिव स्वर्णे लोहे लोहमिवाश्नुते ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सुवर्णके शुद्ध करनेपर शुद्ध सुवर्ण और लोहके शुद्ध करनेपर शुद्ध लोहकी प्राप्ति होती है उसीप्रकार ज्ञानके शुद्ध होनेपर शुद्धज्ञान और अज्ञानसे अज्ञानकी प्राप्ति होती है । भावार्थ—यह नियम है कि जिस बातकी चाह होती है उसकी प्राप्ति उसीके योग्य कार्य करनेसे होती है यदि सुवर्ण को शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध सुवर्णकी और लोहको शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध लोहकी प्राप्ति होती है किंतु यह कभी नहिं हो सकता कि सुवर्णको शुद्ध किया जाय और शुद्ध लोहकी प्राप्ति हो अथवा लोहको शुद्ध किया जाय तो सुवर्णकी प्राप्ति हो उसीप्रकार ज्ञानकी आराधनासे शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञानकी आराधनासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है किंतु यह कभी नहिं हो सकता कि ज्ञानकी आराधनासे भी अज्ञानकी प्राप्ति हो ॥ ४४ ॥

प्रतिबिंबं यथाऽऽदर्शे दृश्यते परसंगतः ।
चेतने निर्मले मोहस्तथा कल्मषसंगतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार निर्मल दर्पणमें परपदार्थके संयोगसे प्रतिबिंब दीख पड़ता है उसीप्रकार निर्मल भी आत्मामें

कर्मोंके संसर्गसे मोह दीख पड़ता है । भावार्थ–यदि वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो दर्पण स्वभावसे शुद्ध पदार्थ है उसमें किसी भी परपदार्थका प्रतिविंब नहीं किंतु जिससमय उसके सामने परपदार्थ आ जाता है उससमय उसमें प्रतिविंव दीख पड़ता है उसीप्रकार निश्चयनयसे आत्मा कर्मकी उपाधियोंसे रहित निष्कलंक परम शुद्ध है परंतु कर्मके संबंधसे इसमें मोह दीख पड़ता है-मोह इसका असली स्वरूप नहीं ॥ ४५ ॥

धर्मेण वासितो जीवो धर्मे, पापे न वर्तते । पापेन वासितो नूनं पापे, धर्मे न सर्वदा ॥ ४६ ॥

ज्ञानेन वासितो ज्ञाने नाज्ञानेऽसौ कदाचन । यतस्ततो मतिः कार्या ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः ॥

अर्थ–जिसके हृदयमें धर्मकी वासना है उस जीवकी धर्ममें प्रवृत्ति होती है पापमें नहीं । जिसके मनमें पापकी वासना है उसकी सदा पापमें प्रवृत्ति होती है धर्ममें नहीं और जिसके हृदयमें ज्ञानकी वासना है उसकी ज्ञानमें प्रवृत्ति होती है अज्ञानमें नहीं इसलिये जो महात्मा शुद्धिके अभिलाषी हैं-अपनी आत्माको विशुद्ध वनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानमें ही अपनी बुद्धिको लगावें । भावार्थ--वासनाका अर्थ संस्कार है जिस मनुष्यके हृदयमें जिस पदार्थका संस्कार होता है उसकी उसी पदार्थमें प्रवृत्ति होती है, अन्यमें नहीं । जो मनुष्य धर्मके संस्कारसे युक्त है उसकी धर्ममें ही प्रवृत्ति होती है पापमें नहीं और जिस मनुष्यके हृदयमें पापकी वासना है उसकी पापमें प्रवृत्ति होती है धर्ममें नही तथा जो मनुष्य ज्ञानके संस्कारसे युक्त है उसकी ज्ञानमें ही प्रवृत्ति होती है अज्ञानमें नहीं एव ज्ञानमें प्रवृत्ति होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है इसलिये जो महानुभाव आत्माको विशुद्ध वनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी बुद्धिको ज्ञानकी ओर झुकावें ॥ ४६–४७ ॥

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो नाज्ञानं प्रतिपद्यते ।
मलिनत्वं कुतो याति कांचनं हि विशोधितं ॥ ४८ ॥

अर्थ--जिसप्रकार अच्छीतरहसे शुद्ध किया हुआ सुवर्ण फिर मलिन नहिं होता उसीप्रकार जिससमय ज्ञानी आत्मा निर्मल-विशुद्ध हो जाता है उससमय वह फिर अज्ञानस्वरूप परिणत नहि होता । भावार्थ–जिससमय सुवर्णमें सोलह ताव लग जाते हैं उससमय कीट कालिमा आदिके दूर होजानेसे वह शुद्ध सुवर्ण हो जाता है और फिर वह अशुद्ध नहिं

होता उसीप्रकार जिससमय ज्ञानावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय ज्ञान भी शुद्ध हो जाता है और फिर वह कभी अज्ञानस्वरूप परिणत नहिं होता ॥ ४८ ॥

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं, पृच्छ्यं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयं ।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं, दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मास्थिरत्वं ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें वही पदार्थ निश्चल मनसे पढ़ने योग्य, ध्यान करने योग्य, आराधनाके योग्य पूछनेके योग्य, सुननेके योग्य, अभ्यासके योग्य, उपार्जन करनेके योग्य, जाननेके योग्य, कहनेके योग्य, प्रार्थनाके योग्य, शिक्षाके योग्य, देखनेके योग्य, और स्पर्श करनेके योग्य है जिससे सदा आत्मा स्थिर बना रहै । भावार्थ—निर्जराकी प्राप्तिके लिये आत्माका निश्चल होना परम आवश्यकीय है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे ही पदार्थ का अध्ययन ध्यान और आराधना आदि करै जिससे उनकी आत्माका स्वस्वरूप ज्ञान निश्चल बना रहै यदि वे अहितकारी पदार्थका अध्ययन ध्यान आदि करैंगे तो कभी आत्मा उनका स्वरूपमें निश्चल नहिं रह सकता ॥ ४९ ॥

इत्थं योगी व्यपगतपरद्रव्यसंगप्रसंगो, ज्ञात्वा कामं चपलकरणग्राममंतर्मुखत्वं ॥
ध्यात्वात्मानं विशदचरणज्ञानदृष्टिस्वभावं, नित्यं ज्योतिः पदमनुपमं याति निर्जीर्णकर्मा ॥

अर्थ—इसप्रकार जो योगी परपदार्थोंके संगसे सर्वथा रहित होकर और चंचल इंद्रियोंको जानकर अपने भीतर प्रविष्ट हो सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन स्वरूप स्वभावके धारक आत्माका ध्यान करता है वह योगी समस्त कर्मोंकी निर्जरा कर अविनाशी अनुपम देदीप्यमान मोक्ष पदको प्राप्त होता है। भावार्थ—जबतक परपदार्थोंके संसर्गसे मुख न मोड़ा जायगा, जबतक चंचल इंद्रियोंके स्वभावका ज्ञान न होगा, जबतक आत्माकी ओर दृष्टि न लगाई जायगी तबतक कभी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप आत्माका ध्यान नहिं हो सकता और आत्माके ध्यानके विना अविनाशी मोक्षपद मिलना कठिन है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे परपदार्थोंसे संबंध तोड़ें, इंद्रियों के जालमें न फसें अंतरंगकी ओर दृष्टि लगावें और सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप आत्माका ध्यान करैं ॥ ५० ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रथमें निर्जराधिकार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

मोक्षाधिकार ॥ ७ ॥

अभावे बंधहेतूनां निर्जरायां च भास्वरः ।
समस्तकर्मविश्लेषो मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः ॥ १ ॥

अर्थ—बंधके कारणोंके अभाव और निर्जराके होनेपर जो समस्त कर्मोंका नाश हो जाना है वह मोक्ष है और वह अतिशय देदीप्यमान और अपुनर्भव है-मोक्षसे फिर लोटना नहिं होता । भावार्थ—पहिले कह दिया गया है कि मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बंधके कारण हैं जबतक इनका आत्माके साथ संबंध रहता है तबतक सदा कर्मबंध हुआ करता है इसलिये जिससमय इन बंधके कारणोंका अभाव हो जाता है उससमय अविपाक निर्जराके द्वारा जो समस्त कर्मोंका नाश हो जाना है उसीका नाम मोक्ष है तथा यह मोक्ष सर्वोत्कृष्ट स्थान है और जो जीव इसै प्राप्तकर लेते हैं उन्हें फिर जन्म मरण आदिका क्लेश नहिं भोगना पड़ता-वे सदा काल निराकुलतामय सुखका भोग करते हैं ॥ १ ॥

उदेति केवलं जीवे मोहविघ्नावृतिक्षये ।
भानुबिंबमिवाकाशे भास्वरं तिमिरात्यये ॥ २ ॥

अर्थ—जिससमय जीवके मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय इसके आकाशमें रात्रि अंधकारके नष्ट होजानेपर देदीप्यमान सूर्यके समान केवलज्ञानका उदय होता है। भावार्थ—आकाशके रहनेपर भी जबतक अंधकारका नाश नहिं होता तबतक सूर्यका उदय नहिं होता किंतु ज्योंही अंधकार दूर हुआ त्योंही सूर्य देखते २ उदित हो जाता है उसीप्रकार अविनाशी आत्माके विद्यमान रहते भी जबतक मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंका संबंध रहता है तबतक कभी केवलज्ञान उदित नहिं होता किंतु जिससमय मोहनीय आदि कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय आत्मामें केवलज्ञान चमचमा उठता है इसलिये सूर्यके उदयमें जिसप्रकार रात्रि अंधकार प्रतिबंधक है उसीप्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म केवलज्ञानके उदयमें प्रतिबंधक हैं।

न दोषमलिने तत्र प्रादुर्भवति केवलं ।

आदर्शे न मलग्रस्ते किंचिद्रूपं प्रकाशते ॥ ३ ॥

अर्थ-जिसप्रकार मलिन दर्पणमें कुछ भी स्वरूप प्रकाशित नहिं होता उसीप्रकार कर्मोंसे मलिन आत्मामें केवलज्ञा-
नका उदय नहिं होता। भावार्थ-आत्मा निर्मल दर्पणके समान निर्मल है तथा घट पट आदि पदार्थोंके प्रतिबिंबमें जि-
सप्रकार दर्पणकी स्वच्छता प्रधान कारण है उसीप्रकार केवलज्ञानके उदयमें दोषरहित आत्मा प्रधान कारण है अर्थात्
जबतक ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्मोंका आत्माके साथ संबंध रहता है तबतक केवलज्ञान उत्पन्न
नहिं होता ॥ ३ ॥

न मोहप्रभृतिच्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते नहि ॥ ४ ॥

अर्थ-जिसप्रकार विना वज्रके पर्वतका नाश नहिं होता उसीप्रकार विना शुद्ध आत्माके ध्यानके मोह आदि कर्म भी
नष्ट नहिं हो सकते। भावार्थ-पर्वत सरीखे विशाल पदार्थका भेदना अत्यंत कठिन है परंतु जिससमय उसके ऊपर वज्र
गिरता है उससमय वह देखते देखते खंड खंड हो जाता है उसीप्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण दर्शनारण कर्मोंका
नाश होजाना अत्यंत कठिन है परंतु जिससमय विशुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है उससमय कर्म देखते देखते
झड़ पड़ते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मोह आदिके नाशार्थ अवश्य शुद्ध आत्माके ध्यानका आराधन करें।

विभिन्ने सति दुर्भेदे कर्मग्रंथिमहीधरे। तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण भूरिसंक्लेशकारिणि ॥ ५ ॥
आनंदो जायतेऽत्यंतं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः। औषधेनेव सव्याधेर्व्याधेरभिभवे कृते ॥ ६ ॥

अर्थ-जिसप्रकार रोगग्रस्त मनुष्य औषधसे रोगके नष्ट होजानेपर सुखलाभ करता है उसीप्रकार जिससमय योगीके
दुर्भेद-कठिनतासे भिदनेवाला और अनेक प्रकारके संक्लेशोंको प्रदान करनेवाला कर्मरूपी पर्वत तीक्ष्ण ध्यानरूपी वज्रसे
नष्ट हो जाता है उससमय उसै भी वास्तविक निराकुलतामय परम आनंदकी प्राप्ति होती है ॥ ५-६ ॥

साक्षादतींद्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा। प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात्प्रातिहार्यसमन्वितः ॥ ७ ॥

अबंध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यनियोगतः। महात्मा केवली कश्चिद्देशनायां प्रवर्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—जिससमय ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके नाशसे केवलज्ञान प्राप्त होजाता है उससमय भगवान केवली अपने केवलज्ञानरूपी नेत्रसे अतींद्रिय पदार्थोंको भी स्पष्टरूपसे देखकर और महान पुण्यकी सामर्थ्यसे प्रातिहार्योंसे युक्त होकर भव्योंकी इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं और उनका उपदेश अवंध्य उपदेश होता है अर्थात् अवश्य उस उपदेशका श्रोतओंपर असर पड़ता है। भावार्थ—जिससमय भगवान तीर्थंकरको केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है उससमय देव उनके समवसरणकी रचना करते हैं समवसरणमें बारह कोठे बनाये जाते हैं और उनमें मुनि आर्यिका आदि अपने अपने स्थानोंपर बैठते हैं। समवसरणके ठीक मध्यमें बहुमूल्य एक सिंहासनका निर्माण किया जाता है और उसमें विराजमान हो भागवान तीर्थंकर मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जानकर भव्योंकी इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं तथा उससमय उनके अशोकवृक्ष १ पुष्पवृष्टि २ दिव्यध्वनि ३ चमर ४ सिंहासन ५ दुंदुभी ६ भामडल ७ और छत्र ८ ये आठ प्रातिहार्य प्रकट हो जाते हैं और जो उनका उपदेश होता है उसका सब जीवोंपर असर पड़ता है-तिर्यंच भी उनके उपदेशसे यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं ॥ ७-८ ॥

विभावसोरिवोष्णत्वं चरिष्णोरिव चापलं।
शशांकस्येव शीतत्वं स्वरूपं ज्ञानमात्मनः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है पवनका स्वरूप चपलता और चंद्रमाका स्वरूप शीतलता है उसीप्रकार आत्माका स्वरूप ज्ञान है। भावार्थ—स्वरूपका अर्थ स्वभाव भी है इसलिये यहां स्वरूप शब्दसे स्वभाव अर्थका ग्रहण है और इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अग्निका स्वभाव उष्णपना है पवनका स्वभाव चपलता और चंद्रमाका स्वभाव शीतलता है उसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञान है-स्वभावसे ही यह समस्त पदार्थोंको जानता है ॥९॥

चैतन्यमात्मनो रूपं तच्च ज्ञानमयं विदुः।
प्रतिबंधकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥ १० ॥

अर्थ—आत्माका स्वरूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय है ज्ञानसे भिन्न नहीं तथा प्रतिबंधककी सामर्थ्यसे वह अ-

पनें कार्यमें परिणत नहिं होता। भावार्थ–कोई कोई सिद्धांतकार ज्ञानको जड़ प्रकृतिका कार्य समझकर जड़ मानते हैं और आत्माका स्वरूप चैतन्य मानते हैं उन्हीके सिद्धांतके खंडनार्थ यहां ग्रंथकारने यह लिखा है कि आत्माका जो चैतन्य स्वभाव है वह ज्ञानस्वरूप है ज्ञानसे भिन्न नहीं। यदि यहांपर यह शंका उत्पन्न हो कि जब चैतन्यका ही अर्थ ज्ञान है और ज्ञानका अर्थ समस्त पदार्थोंका जानना है तब आत्मा सदा समस्त पदार्थोंको क्यों नहिं जानता तब इसका समाधान यह किया है कि यद्यपि आत्मामें ज्ञान विद्यमान है परंतु ज्ञानावरण कर्म ऐसा बलवान प्रतिबंधक पड़ा हुआ है जिससे यह समस्त पदार्थोंके जानने रूप अपने कार्यमें परिणत नहिं हो सकता किंतु जिससमय वह प्रतिबंधक सर्वथा नष्ट हो जाता है उससमय यह ज्ञान स्पष्टरूपसे समस्त पदार्थोंको देखता जानता है इसीलिये भगवान केवली प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्मके नष्ट हो जानेपर अपने केवलज्ञान गुणसे स्पष्टतया समस्त पदार्थोंको जानते हैं।

ज्ञानी ज्ञेयो भवत्यज्ञो नासाति प्रतिबंधके।
प्रतिबंधं विना वह्निर्न दाह्ये दाहकः कदा॥ ११॥

अर्थ–जिसप्रकार प्रतिबंधक चंद्रकांतमणि वा मंत्रके दूर होजानेपर अग्नि काष्ठ आदिको भस्म करती है अर्थात् प्रतिबंधकके अभावमें वह अपना पूर्ण दाहकत्वस्वभाव धारण करलेती है उसीप्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरणादिकर्मके नष्ट हो जानेपर आत्मा ज्ञेय–ज्ञानका विषय तो अवश्य होता है परंतु अज्ञ-ज्ञानशून्य जड़ नहिं हो सकता। भावार्थ–कई सिद्धांतकारोंका यह सिद्धात है कि जबतक आत्मा संसारमें विद्यमान रहता है तब तक उसमें ज्ञान रहता है किंतु जिससमय वह मुक्त हो जाता है उससमय उसमें ज्ञान-चेतना नहिं रहती क्योंकि उनका यह आशय है कि ज्ञान सुख दुःखका कारण है-मनुष्य जैसा जैसा ज्ञानवान होता जाता है उसको दूनी चिंता होती जाती है और चिंतासे सुख दुःख होते हैं इसीलिये उन्होंने बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म (पुण्य) अधर्म (पाप) और संस्कार ये नौ गुण आत्माके विशेष गुण माने हैं और जिससमय ये नष्ट हो जाते हैं उससमय मोक्ष होती है ऐसा स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्तियुक्त नहीं क्योंकि संसारमें जो ज्ञान दुःखका कारण अनुभवमें आता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं–अशुद्ध ज्ञान है। उसका प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म मोजूद है किंतु जिससमय यथार्थ ज्ञान–केवलज्ञान उदित हो जाता है

उससमय दुःख नहिं होता अर्थात् केवलज्ञानके होनेपर वस्तुका यथार्थ स्वरूप मालूम पड़ जाता है। यथार्थस्वरूपके ज्ञानसे परपदार्थोंमें रागद्वेष नहिं होते और रागद्वेषके अभावसे सुख दुःख नहिं होता क्योंकि सुख दुःखकी उत्पत्तिमें प्रधान-कारण रागद्वेष है इसलिये प्रतिबंधक कर्मोंके अभावमें आत्मा ज्ञानशून्य जड़ होजाता है यह बात युक्त नही किंतु जिस प्रकार चद्रकांतमणि मंत्र आदि प्रतिबंधकके अभावमें अग्नि और भी प्रकृष्टरूपसे दहकती है उसका दाहक स्वभाव नष्ट नहि होता उसीप्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्मके अभावसे आत्मा स्पष्टरूपसे समस्त पदार्थोंको जानता है समस्त पदार्थोंके जाननेमें उससमय उसै कोई प्रकारकी अड़चन नहिं होती तथा समस्त पदार्थोंके यथार्थ जाननेसे राग द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं और राग द्वेषके अभावसे सुख दुःखका सामना नहिं करना पडता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि प्रति-बंधकके अभावमें उल्टी परम विशुद्ध आनंदकी प्राप्ति होती है सर्वथा ज्ञानकी नास्ति नहीं। हां! उससमय आत्मा ज्ञेय होनेके कारण मोक्ष अवस्थामें अन्य आत्माके वा निजके ज्ञानका विषय अवश्य रहता है इसलिये उससमय उसै ज्ञेय कहना बाधित नहीं।

प्रतिबंधो न देशादिविप्रकर्षोऽस्य युज्यते ।
तथानुभवसिद्धत्वात्सप्तहेतेरिव स्फुटं ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार देश काल और स्वभाव सूयके प्रतिबंधक नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है उसीप्रकार आत्माके भी देश काल और स्वभाव प्रतिबंधक नही यह स्वानुभाव सिद्ध है। भावार्थ—जो पदार्थ देशकी अपेक्षा दूर हों वे देशविप्रकृष्ट कहे जाते हैं, कालकी अपेक्षा दूर कालविप्रकृष्ट और स्वभावकी अपेक्षा दूर स्वभावविप्रकृष्ट कहे जाते हैं। मेरु आदि पदार्थ देशविप्रकृष्ट हैं क्योंकि जहां ये पदार्थ विद्यमान हैं वह देश बहुत दूर है। राम लक्ष्मण आदि पदार्थ काल विप्रकृष्ट हैं क्योंकि इनको हुये बहुतकाल वीत गया और स्वभाव विप्रकृष्ट पदार्थ परमाणु है क्योंकि उसका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है। यदि यहांपर कोई ऐसी शंका करै कि आत्मा मेरु आदि पदार्थोंको देश आदिकी दूरीपनेके कारण न जान सकैगा इसलिये देश आदिकी दूरता भी समस्त पदार्थोंके जाननेमें प्रतिबंधक है उसका समाधान ग्रथकारने यहां यह किया है कि जिसप्रकार देशविप्रकर्ष आदिके रहते भी सूर्य पदार्थोंके प्रकाश करनेका काम करता ही है सदा उसका स्वभाव पदार्थोंके प्रकाश करनेका रहता है उसीप्रकार देश आदिकी दूरता रहनेपर भी ज्ञान समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे जानता है उसै मेरु राम परमाणु आदि पदार्थोंके जाननेमें किसीप्रकारकी अड़चन नहिं होती। यदि कहोगे कि सूर्यके

देशविप्रकर्ष आदि प्रतिबंधकोंके निषेधमें जिसप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण हैं उसप्रकार समस्त पदार्थोंके ज्ञानमें देश आदिका विप्रकर्ष प्रतिबंधक नहीं इसमें क्या प्रमाण है ? तब इसमें स्वानुभवप्रत्यक्ष ही प्रमाण कहना होगा । क्योंकि विद्वान लोग स्वानुभव प्रत्यक्षसे पूर्णतया इस बातको जान सकते हैं। यहांपर केवल ज्ञानकी अपेक्षा यह बात कही है क्योंकि मतिज्ञान आदिमें देशविप्रकर्ष आदि भी प्रतिबधक हो जाते हैं इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जिसप्रकार सूर्यको प्रकाश करनेमें प्रतिबंधक मेघपटल है देशविप्रकर्ष आदि नहीं उसीप्रकार आत्माके समस्त पदार्थोंके जाननेमें प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म है देशविप्रकर्ष आदि नहीं ॥ १२ ॥

सामान्यवद्विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः । ज्ञायते स च वा साक्षाद्विना विज्ञायते कथं ॥ १३ ॥
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च तथा ज्ञानस्वभावतः । नास्य ज्ञानस्वभावत्वमन्यथा घटते स्फुटं ॥ १४ ॥

अर्थ–जिसप्रकार सामान्य पदार्थोंका स्वभाव ज्ञेय–ज्ञानका विषय होना है इसलिये उसका ज्ञान होता है उसीप्रकार विशेषोंका भी स्वभाव ज्ञेय है इसलिये उसका भी ज्ञान होता है परंतु उस स्वभावका ज्ञान विना प्रत्यक्षज्ञान-केवल ज्ञानके किसीप्रकार स्पष्ट नहिं हो सकता-केवलज्ञान ही उसै स्पष्टरूपसे जनानेवाला है तथा ज्ञानस्वभावसे ही आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है यदि इसै सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी न माना जायगा तो इसकी ज्ञानस्वभावता ही घटनी कठिन है । भावार्थ–पदार्थ दो प्रकारके हैं एक सामान्य दूसरे विशेष । घट कहनेसे सब घड़ोंका बोध होता है और पीत घट कहनेसे केवल पीले घडेका ही ज्ञान होता है इसलिये पीला घड़ा विशेष और शेष घट सामान्य हैं यद्यपि सामान्य रूपसे एक घडेके देखनेसे सब घडोंका स्वरूप जान सकते हैं परंतु यह पीला है यह बात किसी विशेष ज्ञानसे ही जानी जायगी । मेरु परमाणु रामचंद्र आदि पदार्थ भी विशेष हैं और इनका सिवाय विशेष ज्ञान केवलज्ञानके दूसरेसे स्पष्ट ज्ञान नहिं हो सकता इसलिये जिससमय हम इनके स्वरूपका ज्ञान करैंगे उससमय अवश्य केवलज्ञान स्वीकार करना पडेगा तथा यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसीलिये सबको जाननेवाला और सबको देखनेवाला यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता है यदि यह मेरु आदि विशेष पदार्थोंके स्वभावोंको न जानेगा तो यह कभी ज्ञानस्वभाव नहिं कहा जा सकता अत· यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञानस्वभाव होनेसे यह आत्मा सर्वज्ञ किं वा सर्वदर्शी है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेसे इसके के-

वल ज्ञान विद्यमान है केवलज्ञानसे यह सामान्य पदार्थोंके स्वरूपके समान विशेष पदार्थोंके स्वरूपको भी जानता है इसलिये मेरु परमाणु रामचंद्र आदिका भी अवश्य इसे स्पष्टतासे ज्ञान होता है-उनके ज्ञानमें किसी प्रकारका संदेह नहीं।

वेद्यायुर्नामगोत्राणि यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यानकुठारेण छित्वा गच्छति निर्वृतिं ॥ १५ ॥

अर्थ–जिससमय यह आत्मा केवलज्ञानको प्राप्त होकर केवली हो जाता है उससमय शुक्लध्यानरूपी कुठारसे इसके एकसाथ वेदनीय आयु नाम और गोत्र कर्म नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशसे यह मोक्षस्थानमें जा विराजता है। भावार्थ–पहिले ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मोंके आठ भेद बतला आये हैं उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं और वेदनीय आयु नाम और गोत्र अघातिया कर्म हैं। जिससमय इस आत्माके ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मोंका नाश होजाता है उससमय इसके केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और इसकी जीवन्मोक्ष संज्ञा पड़ जाती है पश्चात् शुक्लध्यानके माहात्म्यसे इसके वेदनीय आयु नाम और गोत्र कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तथा, इसप्रकार जब समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इसका शरीर भी नष्ट हो जाता है तब यह अनुपम निराकुलतामय सुखका आस्वादन करने लगता है और लोकके शिखरपर जा विराजता है इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है ॥ १५ ॥

कर्मैव भिद्यते नास्य शुक्लध्याननियोगतः।
नासौ विधीयते कस्य नेदं वचनमंचितं ॥ १६ ॥

अर्थ–इस आत्माके शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंका नाश ही नहिं होता तथा मोक्ष भी किसीको प्राप्त नहिं होती यह वचन युक्त नहीं। भावार्थ–यदि कोई ऐसा प्रश्न कर बैठे कि शुक्लध्यानसे कर्मोंका नाश होना असंभव है और कर्मोंके नष्ट न होनेसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहिं होती तो उसका प्रश्न सर्वथा अयुक्त है क्योंकि शुक्लध्यानसे कर्मोंका नाश और मोक्षकी प्राप्ति अबाधित है अनुमान और आगम प्रमाणसे इसकी सिद्धिमें कोई बाधा नहिं आती ॥ १६ ॥

कर्मण्यपगमे रागद्वेषाद्यनुपपत्तितः।

आत्मनः संगरागाद्या न नित्यत्वेन संगताः ॥ १७ ॥

अर्थ–कर्मोंके नाश हो जानेपर राग द्वेष आदिकी उत्पत्ति नहि होती । रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति न होनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाले परिग्रह राग आदि नहीं होते इसलिये परिग्रह राग द्वेष आदि सदा काल आत्माके साथ संवद्ध नहिं रहते । भावार्थ–जबतक आत्मा कर्मोंसे जिकड़ा हुआ संसारमें घूमता रहता है तबतक इसके राग द्वेष आदि हरएक अवस्थामें विद्यमान रहते हैं और उनसे सर्वदा रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति हुआ करती है किंतु जिससमय यह आत्मा समस्त कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देता है उससमय इसके राग द्वेष आदि नहिं होते क्योंकि राग द्वेष आदि मोहनीय आदि कर्मोंके विकार हैं ॥ १७ ॥

न निर्वृतः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिं ।
सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ–जो आत्मा मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होकर निराकुलतामय सुखका अनुभव करचुका वह पुनः संसारमें लौटकर नहिं आता क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो सुखदायी स्थानको छोड़कर दुःखदायी स्थानमें आकर रहैगा ? भावार्थ–यह अनुभव सिद्ध बात है कि जहां जरा भी सुख मिलता है प्राणी वहीं जाकर रहता है और दुःखदायी स्थानकी ओर ताक कर भी नहिं देखता । मोक्ष एक ऐसा सुखदायी स्थान है जिसकी तुलना कोई भी स्थान नहिं कर सकता । जो जीव वहां पहुंच जाते हैं वे सदाकाल निराकुलतामय अनुपम आनंदका आस्वादन करते हैं इसलिये ऐसे अनुपम स्थानको छोड़कर कभी कोई जीव दुःखदायी स्थान संसारमें लोटकर नहिं आ सकता । यहांपर ग्रंथकारका ऐसा लिखना मोक्षस्थानकी सर्वोत्तमता प्रकट करता है वास्तवमें तो संसारके कारण कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेसे जीव पुन. संसारमें लोटकर नहिं आते क्योंकि विना कारणके कार्य नहिं होता ॥ १८ ॥

शरीरं न स गृह्णाति भूयः कर्मण्यपायतः ।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति ॥ १९ ॥

अर्थ–सिद्धात्मा शरीरके कारण कर्मके नष्ट हो जानेसे शरीरको भी ग्रहण नहि करता क्योंकि यह नियम है कि विना

कारणके कार्य कदापि नहिं हो सकता । भावार्थ–यदि कोई ऐसी शंका करै कि जो आत्मा संसारमें था वही मोक्षमें है इसलिये जैसा संसार अवस्थामें उसके शरीर था वैसा मोक्ष अवस्थामें भी उसे शरीर धारण करना चाहिये तो उसका समाधान यही है कि कर्मके नष्ट हो जानेसे मुक्तात्मा शरीर धारण नहिं करता क्योंकि यह नियम है कि विना कारणके कदापि कार्य नहिं हो सकता शरीरकी उत्पत्तिमें कारण नाम कर्म है वह सर्वथा नष्ट हो चुका इसलिये मुक्तात्माओंके शरीरकी उत्पत्ति नहिं हो सकती ॥ १९ ॥

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो मंतव्यो मान्यबुद्धिभिः ।
अचेतनस्य न ज्ञानं कदाचन विलोक्यते ॥ २० ॥

अर्थ–जो पुरुष बुद्धिमान हैं उन्हें ज्ञानको जड़ प्रकृतिका धर्म नहिं स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ज्ञान चेतन पदार्थ है वह अचेतन प्रकृतिका धर्म कदापि नहि हो सकता । भावार्थ–सांख्य सिद्धांतमें मुख्यरूपसे प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ माने हैं उनमें तम रज और सत्त्वस्वरूप प्रकृति पदार्थको जड़ माना है और ज्ञानको प्रकृतिका विकार स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि ज्ञान चेतनस्वरूप है वह जड़ प्रकृतिका कभी विकार नहिं हो सकता इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञानको प्रकृतिका धर्म और जड़ स्वीकार न कर आत्माका धर्म और चैतन्यस्वरूप मानें ॥ २० ॥

दुरितानीव न ज्ञानं निर्वृतस्यापि गच्छति । कांचनस्य मले नष्टे कांचनत्वं न नश्यति ॥२१॥
न ज्ञानादिगुणाभावे जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः । लक्षणापगमे लक्ष्यं न कुत्राप्यवतिष्ठते ॥२२॥

अर्थ–जिसप्रकार मोक्षावस्थामें कर्म नष्ट हो जाते हैं उसप्रकार ज्ञान नष्ट नहि होता क्योंकि कीट कालिमा आदि मलके नाश हो जानेपर भी सुवर्णका सुवर्णपना नष्ट नहिं होता । यदि मोक्षावस्थामें ज्ञानादि गुणोंका भी अभाव मानलिया जायगा तो जीव ही व्यवस्थित न हो सकैगा क्योंकि लक्षण-गुणके नष्ट हो जानेपर लक्ष्य-गुणी पदार्थ स्थित नहिं रह सकता । भावार्थ–ऊपर बतला दिया जाचुका है कि अनेक सिद्धांतकारोंका यह भी सिद्धांत है कि मोक्ष अवस्थामें आत्मामें ज्ञान आदि गुणोंकी विद्यमानता नहिं रहती किंतु जिसप्रकार पाप-कर्म दूर हो जाते हैं उसीप्रकार ज्ञा-

नादि गुण भी मुक्तावस्थामें दूर हो जाते हैं परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि जिसप्रकार सुवर्णका सुवर्णपना स्वभाव होनेसे नष्ट नहिं होता उसीप्रकार ज्ञान आदि गुण भी आत्माके स्वभाव हैं इसलिये वे नष्ट नहिं होते। हां! जिसप्रकार सुवर्णके कीट कालिमा आदि नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे सुवर्णके स्वभाव नहीं उसीप्रकार कर्म मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्ममल भी आत्माके स्वभाव नहीं। यदि यही कहोगे मुक्तावस्थामें ज्ञान आदिका नाश हो ही जाता है! तब तो जीव भी कायम न रह सकैगा क्योंकि यह सामान्य नियम है कि लक्षणके अभावमें लक्ष्य कभी स्थिर नहिं रह सकता। आत्मा लक्ष्य है। ज्ञानादि गुण लक्षण हैं। यदि ज्ञानादि ही नष्ट हो जायगें तो आत्मा स्थिर न रहसकेगा-वह भी अवश्य नष्ट हो जायगा इसलिये जो मनुष्य यह मानते हैं कि आत्मा नित्य है उन्हें चाहिये कि वे उसके ज्ञान आदि गुणोंको भी नित्य मानैं और मोक्ष अवस्थामें उनकी अवश्य विद्यमानता स्वीकार करैं ॥ २२ ॥

विविधं बहुधा बंधं बुध्यमानो न मुच्यते। कर्मबद्धो विलोपायं गुप्तिबद्ध इव ध्रुवं ॥ २३ ॥
विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा स द्विधा जीवकर्मणोः। मुक्तकर्मात्मतत्त्वस्थो मुच्यते सदुपायवान् ॥२४॥

अर्थ—जिसप्रकार कारागृह-कैदखानेमें पड़ा हुआ मनुष्य मै कैसे बंधा हूं इस बातको पूर्णरूपसे जानकर भी जबतक उससे मुक्त होनेका उपाय नहि करता तबतक मुक्त नहिं हो सकता उसीप्रकार कर्मोंसे बंधा हुआ मनुष्य नानाप्रकारके बंधके स्वरूपको जानकर भी जबतक उससे छूटनेका उपाय नहिं करता तबतक छूट नहिं सकता परंतु जो पुरुष जीव और कर्मके लक्षणोंको भलेप्रकार पहिचान कर पूर्णरूपसे उन दोनोंके भेदको जानता है और कर्मोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होकर कर्मोंसे छूटनेका उपाय करता है वह कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। भावार्थ—कर्मबंधसे छूटनेमें उसका केवल ज्ञान ही कारण नहिं है किंतु ज्ञानके साथ उससे छूटनेका उपाय करना प्रधान कारण है क्योंकि यह स्पष्ट अनुभवमें आता है कि जिसप्रकार कैदखानेके अंदर पड़ा हुआ मनुष्य यद्यपि इसबातको जानता है कि बंध कैसे होता है परंतु जबतक उससे छूटनेका उपाय नहि करता तबतक छूटता नहीं, उसीप्रकार कर्मोंसे बंधा हुआ मनुष्य भी नानाप्रकारके बंधोंके स्वरूपको जानकर भी जबतक उससे छूटनेका उपाय नहिं करता तबतक कभी कर्मोंसे मुक्त नहि हो सकता किंतु जिससमय कैदखानेमें पड़ा हुआ मनुष्य उससे छूटनेका उपाय करता है उससमय जिसप्रकार उससे वह सर्वथा छूट जाता है उ-

सीप्रकार जो मनुष्य जीव और कर्मोंका उनके भिन्न २ लक्षणों द्वारा खुलासारूपसे भेद जानता है और शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यान में स्थिर होकर कर्मोंसे छूटनेका उपाय करता है वह अवश्य कर्मोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २३–२४ ॥

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः शुद्धाशुद्धव्यपेक्षया ।
सुवर्णमिव लोकेन व्यवहारमुपेयुषा ॥ २५ ॥

अर्थ–जिसप्रकार व्यवहारी लोग एक ही सुवर्णको दो प्रकारका कह देते हैं उसीप्रकार यद्यपि जीव पदार्थ एक ही है परंतु शुद्ध अशुद्धकी अपेक्षा उसे भी दो प्रकारका कह देते हैं । भावार्थ–यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो सुवर्ण एक ही पदार्थ है परंतु व्यवहारनयसे कीट कालिमा आदिसे युक्त सुवर्णको अशुद्ध सुवर्ण और कीट कालिमा आदिसे रहित को शुद्ध सुवर्ण कहते हैं उसीप्रकार यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो आत्मा एक ही प्रकारका है किंतु व्यवहारनयसे कर्मयुक्त आत्माको अशुद्ध संसारी और कर्मरहित आत्माको शुद्ध-मुक्त आत्मा कह दिया जाता है ॥ २५ ॥

संसारी कर्मणा युक्तो मुक्तस्तेन विवर्जितः ।
अशुद्धस्तत्र संसारी मुक्तः शुद्धः पुनर्मतः ॥ २६ ॥

अर्थ–जो आत्मा कर्मोंसे युक्त है वह संसारी और जो कर्मोंसे रहित है वह मुक्त है तथा संसारीको अशुद्ध कहते हैं और मुक्त शुद्ध माना गया है । भावार्थ–ऊपरके श्लोकमें यह कहा गया है कि शुद्ध अशुद्धके भेदसे आत्मा दो प्रकारका है और इस श्लोकमें उसी आत्माके शुद्ध-अशुद्ध स्वरूपका वर्णन किया है अर्थात् जो आत्मा कर्मसहित संसारी है वह अशुद्ध और जो कर्मरहित मुक्त है वह शुद्ध है ॥ २६ ॥

भवं वदंति संयोगं यतोऽत्रात्मतदन्ययोः ।
वियोगं तु भवाभावमपुनर्भाविकं ततः ॥ २७ ॥

अर्थ–कर्म और आत्माके संयोगको संसार कहते हैं और उनके वियोगका नाम संसाराभाव-मोक्ष है । भावार्थ–बहुतसे मनुष्योंका सिद्धांत है कि घरबारमें फसा रहना संसार और उससे जुदा होजाना मोक्ष है परंतु यह बात नहीं

जब तक आत्मा और कर्मका आपसमें संबंध रहता है तबतक संसार और जिससमय इन दोनोंकी आपसमें जुदाई हो जाती है वह मोक्ष है ॥ २७ ॥

निरस्तापरसंयोगः स्वस्वभावव्यवस्थितः । सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तास्तिमितोदधिसन्निभः ॥ २८ ॥
एकांतक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थो निरंजनः । निराबाधः सदानंदो मुक्तावात्मावतिष्ठते ॥ २९ ॥

अर्थ–मुक्तावस्थामें आत्मा परपदार्थके संयोगसे रहित, अपने निर्मलस्वभावमें विद्यमान, सर्व पदार्थोंकी उत्सुकतासे रहित, निश्चलसमुद्रके समान गंभीर, सर्वथा क्लेशोंसे रहित, कृतकृत्य, निरंजन, निराबाध, और सदा अनुपम आनंदका भोगनेवाला हो जाता है। भावार्थ–आत्मा संसारमें तो परपदार्थोंसे संयुक्त स्वस्वभावमें स्थित न होकर परपदार्थोंमें स्थित, हर एक प्रकारकी उत्सुकतासे सहित, चंचल, दुःखित, एवं कृतकृत्यता निरंजनतासे रहित और अनेक बाधाओंसे युक्त रहता है परंतु मुक्तावस्थाके प्राप्त होने पर यह परपदार्थोंके संयोगसे रहित, निर्मल, स्वस्वभावमें स्थित, समस्त प्रकारकी उत्सुकतासे रहित, निश्चल, क्लेशोंसे रहित, कृतकृत्य, कर्मरूपी कालिमासे और बाधाओंसे निर्मुक्त हो जाता है एवं अनुपम आनंदका भोग करने लगता है ॥ २९ ॥

ध्यानस्येदं फलं मुख्यमैकांतिकमनुत्तरं । आत्मगम्यं परंब्रह्म ब्रह्मविद्भिरुदाहृतं ॥ ३० ॥
अतोऽत्रैव महान्यत्नस्तत्त्वतः (स्य) प्रतिपत्तये । प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनं ॥३१॥

अर्थ–जो पुरुष ब्रह्मवेत्ता हैं-असली आत्माके स्वरूपके जानकार हैं उन्होंने इस परंब्रह्मकी प्राप्ति ही ध्यानका मुख्य फल बतलाया है जो कि अद्वितीय सर्वोत्कृष्ट और केवल आत्माके गम्य है इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे व्यर्थके वाद जल्प आदिको छोड़कर वास्तविक स्वरूपकी प्राप्तिकेलिये-इसी परंब्रह्मरूप फलकेलिये परिपूर्ण प्रयत्न करें। भावार्थ–परंब्रह्मका अर्थ पूर्वोक्त समस्तकर्मोंसे रहित शुद्ध आत्मा है और इसकी प्राप्ति ध्यानसे होती है यद्यपि ध्यानके और भी बहुतसे फल हैं परंतु परंब्रह्मकी प्राप्ति मुख्य फल है तथा वह अद्वितीय है-इसकी तुलना करनेवाला दूसरा कोई फल नहीं, सर्वोत्कृष्ट है और आत्मगम्य-आत्मासे जाना जाता है । इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे इसी फलकी प्राप्तिकेलिये सदा प्रयत्न करें जिससे उन्हें वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो किंतु व्यर्थ वाद विवादोंमें फसकर अपनी आत्माको न कष्ट होने दें ॥ ३०–३१ ॥

ऊचिरे ध्यानमार्गज्ञा ध्यानोद्धूतरजश्चयाः । भावि योगिहितायेदं ध्वांतदीपसमं वचः ॥ ३२ ॥
वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितं । नैव गच्छंति तत्त्वांतं गतेरिव विलंबितः ॥३३॥

अर्थ—जो महानुभाव ध्यान मार्गके भलेप्रकार जानकार हैं और ध्यानके द्वारा जिन्होंने समस्त पाप रज नष्ट करदिये हैं उन्होंने योगियोंके हितार्थ अंधकारको नाश करनेवाले दीपकके समान ये अग्रिम वचन कहे हैं कि जिसप्रकार जगह जगह विलंब करनेवाला मनुष्य मार्गको तय नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य वाद प्रतिवादमें उलझे रहते हैं वे नियमसे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त नहिं हो सकते । भावार्थ—जिसप्रकार कोई मनुष्य एक दिनमें वीस कोशकी मंजल करना चाहता है परंतु वह जगह २ ठहर २ कर चलनेके वा रास्ता छोड़ कुरास्ता चलनेके कारण अपने मार्गको तय नहिं कर सकता उसीप्रकार जो मनुष्य सर्वदा वाद विवादमें ही उलझा रहता है वह भी वास्तविक स्वरूपको नहिं पा सकता इसलिये ध्यानकी रीतियोंके भलेप्रकार जाननेवाले और ध्यानके द्वारा समस्त कर्म मलको नष्ट करनेवाले महात्माओंका योगियोंके लिये यह उपदेश है कि यदि वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना है तो व्यर्थ वाद विवादमें मत फंसो आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर उसकी प्राप्तिका उपाय करो ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तथा—

विभक्तचेतनध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः ।
गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्गगमनं यथा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रमादरहित मनुष्यका उत्तममार्गसे चलना गतिमें प्रधान उपाय है उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्तिमें भी कर्ममलसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान मुख्य उपाय है । भावार्थ—जो मनुष्य प्रमादी—ठहर ठहर कर नहिं चलनेवाला है और उत्तम मार्गसे चलता है वह जिसप्रकार विना किसी कष्टके रास्ता तय करलेता है उसीप्रकार जो मनुष्य कर्मोंसे रहित केवल आत्माका ध्यान करनेवाला है वह शीघ्र मोक्षको प्राप्त करलेता है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें विशुद्ध आत्माका ध्यान प्रधान कारण है ॥ ३४ ॥

योज्यमानो यथा मंत्रो विषं घोरं निसूदते ।

तथात्मापि विधानेन कर्मानेकभवार्जितं ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार उत्तममंत्रके प्रयोगसे घोर भी विष नष्ट हो जाता है उसीप्रकार आत्मा भी अनेक भवोंसे उपार्जित कर्मोंको उपर्युक्तउत्तम उपायसे सर्वथा नष्ट करदेता है। अर्थात् भयंकर विषके नाशमें जिसप्रकार अनुपम कारण मंत्र है उसीप्रकार विपुल भी कर्मोंके नाशमें अनुपम कारण शुद्धात्मध्यान है ॥ ३५ ॥

चिंत्यं चिंतामणिर्दत्ते कल्पितं कल्पपादपः ।
अविचिंत्यमसंकल्प्यं विविक्तात्मानुचिंतितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—चिंतामणि रत्न चिंतित पदार्थोंको और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थोंको प्रदान करता है परंतु शुद्ध आत्माके ध्यानसे अचिंतित और असंकल्पित पदार्थकी प्राप्ति होती है । भावार्थ—संसारमें यद्यपि चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष भी अभीष्ट पदार्थोंको प्रदान करते हैं परंतु जो पदार्थ शुद्ध आत्माकी भावनासे प्राप्त होता है उसके समान पदार्थोंको वे नहिं दे सकते क्योंकि यदि चिंतामणि रत्नकी आराधनाकी जायगी तो वह चिंतित पुत्र आदि अनित्य पदार्थ और यदि कल्प वृक्षकी आराधनाकी जायगी तो वह भी कल्पित भोजन आदि अनित्य पदार्थ दे सकता है परंतु शुद्ध आत्माके आराधनसे अनुपम निराकुलतामय आनद प्रदान करनेवाला नित्य मोक्षसुख प्राप्त होता है जोकि अचिंत्य-जिसकी उत्कृष्टताका स्वप्नमें भी विचार नहि हो सकता और असंकल्प्य-अर्थात् जिसकी उत्तमताकी कल्पना ही नहिं हो सकती ऐसा है इसलिये शुद्ध आत्माका ध्यान चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्षोंसे भी उत्कृष्ट पदार्थ है ॥ ३६ ॥

जन्ममृत्युजरारोगा हन्यंते येन दुर्जयाः ।
मनोभूहनने तस्य नायासः कोऽपि विद्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह आत्मध्यान जब जन्म मरण और बुढ़ापा रूप रोगोंका नाश करनेवाला है तब इसे कामदेवके नाश करनेमें कोई अड़चन नहि हो सकती । भावार्थ—आत्मध्यान इतना बलवान पदार्थ है कि इससे जन्म मरण बुढ़ापा और कामदेव समस्त वातें नष्ट हो जाती हैं इसलिये शुद्धात्मध्यान परम हितकारी है ॥ ३७ ॥

मुक्त्वा वादप्रवादाद्यमध्यात्मं चिंत्यतां ततः ।

नाविधूते तमस्तोमे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

अर्थ—इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे वाद प्रवाद आदिको छोड़कर आत्मसंबंधी विचार करैं क्योंकि जबतक अंधकारका नाश नही होता तबतक ज्ञान ज्ञेयको प्रकाशित नही कर सकता । भावार्थ—जबतक अंधकार विद्यमान रहता है तबतक पदार्थोंका स्पष्टरूपसे प्रकाश नहिं होता किंतु जिससमय वह नष्ट हो जाता है उससमय सब पदार्थ स्पष्टरूपसे दीख निकलते हैं । शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानमें वाद प्रवाद आदि अंधकार स्वरूप हैं इसलिये जबतक वाद प्रवाद हुआ करते हैं तबतक शुद्धात्मज्ञान नहिं होता किंतु जिससमय वाद प्रतिवाद करने छोड़ दिये जाते हैं उससमय शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है इसलिये जो मनुष्य शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानके अभिलाषी हैं उन्हैं वाद प्रतिवाद करना सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥ ३८ ॥

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्जायते सदुपायतः । सदुपाये ततः प्राज्ञैर्विधातव्यो महादरः ॥ ३९ ॥

नाध्यात्मचिंतनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते । दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्थितैः ४० ॥

अर्थ—उपेय-प्राप्त करने योग्य मोक्ष पदार्थकी प्राप्ति उत्तम निर्दोष उपायसे होती है इसलिये विद्वानोंको उत्तम उपायमें अत्यंत आदर करना चाहिये एवं वह उत्तम उपाय अध्यात्मध्यान है परंतु जो जीव मोहरूपी सर्पसे कदर्थित हैं-मूढ़ हैं उन्हैं उस उपायकी प्राप्ति होना दुर्लभ है-कठिनतासे वे उस उपायको प्राप्त कर सकते हैं । भावार्थ—ऊपर कह दिया जा चुका है कि विना उत्तम उपायके उपेय-मोक्षकी प्राप्ति नहि हो सकती और वह उत्तम उपाय शुद्ध आत्माका ध्यान है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं-मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हैं चाहिये कि वे बड़े उत्साह और आनंदसे विशुद्ध आत्माका ध्यान करै तथा मोहको सर्वथा छोड़दें क्योंकि मोही जीव विशुद्ध आत्माके ध्यानके अधिकारी नहीं ॥४०॥

उत्साहो निश्चयो धैर्यं संतोषस्तत्त्वदर्शनं ।

जनपदात्ययः षोढा सामग्रीयं वहिर्भवा ॥ ४१ ॥

अर्थ—उत्साह निश्चय धैर्य संतोष तत्त्वदर्शन और एकांतस्थान ये छै मोक्षकी प्राप्तिमें वाह्य कारण हैं जबतक इनका आश्रय नहिं किया जायगा तबतक कभी मोक्षकी प्राप्ति नहिं हो सकती । भावार्थ—कारणके दो भेद हैं एक अंतरंग दूसरा

वाह्य। मोक्षकी प्राप्तिमें अंतरंग कारण शुद्ध आत्माका ध्यान है। और वाह्य कारण उत्साह निश्चय धीरता संतोष तत्त्वोंका श्रद्धान और एकांत स्थान है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें मोक्षकी प्राप्तिमें उत्साह, पदार्थोंका पूर्ण निश्चय, धीरता, संतोष, तत्त्वोंका श्रद्धान और एकांतस्थानका आश्रय अवश्य करना चाहिये ॥ ४१ ॥

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं ध्यानमाप्नोति पावनं ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिस आत्माकी बुद्धि आगम अनुमान और ध्यानाभ्यासके रससे विशुद्ध है वही पवित्रध्यान कर सकता है भावार्थ--जो महात्मा पूर्ण शास्त्रका वेत्ता है अच्छीतरह तर्क वितर्क करना जानता है और जिसै ध्यानके अभ्यासमें अतिशय आनंद मालूम पड़ता है वही यथार्थ पवित्र ध्यानको प्राप्त हो सकता है अन्य नहीं ॥ ४२ ॥

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलं।
अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥ ४३ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं उन्होंने आत्मध्यानमें प्रेम होना विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल बतलाया है और आत्मध्यानमें प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रोंको पढ़लेना संसार कहा है । भावार्थ–बहुतसे मनुष्य अनेक शास्त्रोंको पढ़लेनेसे ही अपनेको विद्वान मान लेते हैं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपके ध्यानमें प्रेम नहिं होता तबतक शास्त्रोंका पढ़ना अकार्यकारी है इसलिये जो पुरुष वास्तविक विद्वान हैं उन्होंने विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल आत्मध्यानमें प्रेम होना बतलाया है और केवल अनेक शास्त्रोंके पढ़लेनेको संसार कहा है क्योंकि आत्मध्यानसे रहित होनेपर केवल शास्त्रोंके अक्षराभ्याससे अभिमान आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं उनसे वाद प्रतिवाद और वाद प्रतिवादसे कर्मोंका संयोग होता है तथा कर्मोंके संयोगको ही संसार कहा गया है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शास्त्र पढ़कर आत्मध्यानमें प्रेम करें ॥ ४३ ॥

संसारः पुत्रदारादिः पुंसां संमूढचेतसां।

संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनां ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो पुरुष अज्ञानी हैं–वास्तविकरूपसे हित अहितको नहिं पहिचानते उनका पुत्र स्त्री आदि ही संसार है किंतु जो विद्वान हैं-शास्त्रोंका अक्षराभ्यास तो कर चुके हैं परंतु आत्मध्यानसे शून्य हैं उनका संसार शास्त्र है। भावार्थ-सर्वत्र पुत्र स्त्री आदिके सबंधको संसार बतलाया है शास्त्रको कहीं संसार नहिं कहा इसलिये शंका होती है कि शास्त्र संसार कैसे है ? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने किया है कि जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं उनका संसार तो वास्तवमें पुत्र स्त्री आदिका संयोग ही है और जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन तो किया है परंतु उससे उसके मुख्य फल शुद्धात्मध्यानमें जिन्हें प्रेम न हुआ है तो वह उनकेलिये संसार ही है क्योंकि आत्मध्यानमें प्रेम न होनेसे मुक्ति न होकर संसारमें ही रुलना पड़ता है ॥ ४४ ॥

ज्ञानबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सद्ध्यानकृषेरंतः प्रवर्ततेऽल्पमेधसः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जो पुरुष अल्पज्ञानी हैं वे कर्मभूमियोंके अंदर ज्ञानके बीजभूत मनुष्यभवको प्राप्त होकर भी उत्तम ध्यानरूपी खेतीके अंदर प्रवृत्त नहि होते। भावार्थ–जिसप्रकार अज्ञानी किसान उत्तम बीज और उत्तम जमीनको पाकर भी उत्तम खेती नहिं करसकता उसीप्रकार जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे ज्ञानकी प्राप्तिके प्रधान कारण कर्मभूमिमें मनुष्य भवको पाकर भी उत्तम ध्यान नहिं कर सकते ॥ ४५ ॥

वडिशामिषवच्छेदो दारुणो भोगशर्मणि ।
सक्तास्त्यजंति सद्ध्यानं धिगहो मोहतामसं ॥ ४६ ॥

अर्थ–वडिश (मछलियोंके पकड़नेके कांटे) पर लगे हुये मांसके समान भोगसुखका छूटना अत्यंत कठिन है इसलिये विषयभोगोंमें आसक्त हुये मनुष्य उत्तम ध्यानका आराधन करना छोड़देते हैं अतः मोहरूपी अंधकारके लिये धिक्कार है। भावार्थ–मांसके लोलुपी मनुष्य मछलियोंके पकड़नेके लिये नदी आदिमें कांटा डालते हैं और उसके मुहपर कुछ मांस लगादेते हैं। मछलियां विचारीं मांसके लोभसे उसके पास आती हैं और मांस न खाकर उसमें फसकर

अपनी जान न्योछावर कर देती हैं इसलिये जिसप्रकार कांटे पर लगा हुआ मांसका काटना मच्छियोंकेलिये अत्यंत कठिन है उसीप्रकार भोग सुखका छूटना भी भोगियोंकेलिये दुस्साध्य है अतएव भोगोंमें आसक्त मनुष्य उत्तम ध्यानका आराधन नहिं करते इसलिये मोहरूपी अंधकारकेलिये धिकार है ॥ ४६ ॥

आत्मतत्त्वमचिन्वाना विपर्यासपरायणाः । हिताहितविवेकांधाः खिद्यंते सांप्रतेक्षणाः ॥ ४७ ॥
आधिव्याधिजराजातिमृत्युशोकाद्युपद्रवं । पश्यंतोऽपि भवं भीमं नोद्विजंतेऽत्र मोहिनः ॥४८॥

अर्थ--जो पुरुष आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शून्य हैं, पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान करनेवाले, हिंत अहितके विवेकसे रहित और मोहसे मूढ़ हैं वे आधि--मानसिक पीड़ा, व्याधि बुढ़ापा जन्म मरण शोक आदि उपद्रवोंसे व्याप्त और भयंकर संसारके स्वरूपको देखते भी खिन्न होते रहते हैं परंतु मोहकी प्रबलतासे विरक्त नहिं होते। भावार्थ--मोही मनुष्य संसारके चरित्रको-आधि व्याधि आदि जन्य उपद्रवोंको देखते और उनसे उत्पन्न हुये दुःखोंको भोगकर खिन्न तो होते रहते हैं परंतु वे आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शून्य हैं, पदार्थका विपरीत स्वरूप समझनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, कौन पदार्थ हितकारी है और कौन अहितकारी है इसबातका उन्हें पूर्णरूपसे ज्ञान नहीं है और मोहसे मूढ़ हैं इसलिये संसारसे भयभीत हो स्वस्वरूपके ध्यानकी ओर ऋजु नहिं होते ॥ ४७-४८ ॥

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं कृत्यं चाकृत्यमंजसा ।
अशर्म शर्म मन्यंते कच्छूकंडूयका इव ॥ ४९ ॥

अर्थ--जो मनुष्य दुर्बुद्धि हैं वे दादके खुजानेवाले मनुष्योंके समान कुकर्मको सुकर्म,सुकर्मको कुकर्म और अकल्याणको कल्याण मानते हैं। भावार्थ--जिसप्रकार दद्रुरोगसे पीडित मनुष्य जिससमय उसकी खाजसे व्याकुल होता है उससमय वह यह नहि समझता कि दादका खुजाना अच्छा काम है या बुरा किं वा इसके खुजानेसे अंतमें मुझे सुख होगा या दुःख? किंतु धड़ाधड़ उसे खुजाता ही चला जाता है उसीप्रकार जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं मोहके मजबूत जालमें जिकडे हुये हैं वे भी यह नहिं समझते कि कौनसा बुरा कार्य है और कौनसा अच्छा अथवा किससे हमें सुख मिल सकता है और किससे नहीं? किंतु वे परिपाकको विना विचारे ही तत्कालीन सुखको देखकर कुकर्म आदिको सुकर्म आदि मान करते ही चले जाते है इसलिये उन्हें अंतमें अवश्य दुःख भोगना पड़ता हैं ॥ ४९ ॥

क्षारांभस्त्यागतः क्षेत्रे मधुरोऽमृतयोगतः ।
प्ररोहति यथा बीजं ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसप्रकार क्षेत्रमें पड़ा हुआ बीज खारी जलसे रहित मिष्ट जलके संयोगसे उत्तम और मिष्ट उगता है उसीप्रकार सुतत्त्वोंके श्रवणसे उत्तम ध्यानका भी उदय होता है। भावार्थ—जिसप्रकार क्षेत्रमें खारी जलसे सींचागया बीज हीन और मिष्टजलसे सींचागया मधुररूपसे फलता है किंतु यह नहिं हो सकता कि सींचा जाय खारी जलसे और हो मधुर किंवा सींचा जाय मधुर जलसे और हो खारी उसीप्रकार कुतत्त्वोंके श्रवणसे निकृष्टध्यान और उत्तमतत्त्वोंके श्रवणसे उत्तमध्यान प्राप्त होता है किंतु यह नहीं कि कुतत्त्वोंके सुननेसे उत्तमध्यान और उत्तम तत्त्वोंके सुननेसे निकृष्ट ध्यान उदित हो ॥ ५० ॥ इसलिये—

क्षारांभःसदृशी त्याज्या सर्वदा भोगशेमुषी ।
मधुरांभोनिभा ग्राह्या यत्नात्तत्त्वश्रुतिर्बुधैः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं-असली आत्मस्वरूपको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे भोगोंकी ओर झुकी हुई बुद्धिको खारीजलके समान सदाकेलिये छोड़ दें और बड़े यत्नसे मधुर जलके समान तत्त्वोंका श्रवण करें। अर्थात् भोगोंकी ओर बुद्धिके झुकावसे निकृष्ट फल उत्पन्न होगा और तत्त्व श्रवणसे कल्याणकी प्राप्ति होगी इसलिये विद्वानोंको बड़े प्रयत्नसे तत्त्वोंका श्रवण करना चाहिये ॥ ५१ ॥

बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्। कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा ॥ ५२ ॥
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकांक्षिणां। आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके ॥५३॥

अर्थ—मानसिक व्याधिस्वरूप कुतर्क ध्यानका शत्रुहै तथा वह ज्ञानको ढकनेवाला, शांतिका नाशक, श्रद्धाका भंग करनेवाला और अभिमानको उत्पन्न करनेवाला होनेके कारण अनेकप्रकारका है इसलिये जो पुरुष मोक्ष लक्ष्मीके अभिलाषी हैं उन्हें कुतत्त्वमें किसीप्रकारका आग्रह न करना चाहिये किंतु आत्मस्वरूपके समझनेमें उन्हें प्रयत्न करना चाहिये

क्योंकि आत्मस्वरूपमें किया हुआ आग्रह मोक्षरूपी अनुपम महलमें प्रवेश करानेवाला है-आत्मस्वरूपके ज्ञानसे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ--ऊपर कह दिया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिमें उत्तमध्यान असाधारण कारण है-जबतक उत्तम ध्यानका आश्रय नहिं किया जाता तबतक कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती परंतु जबतक कुतर्कोंके अंदर बुद्धि फसी रहती है तबतक ध्यान नहिं हो सकता क्योंकि यह कुतर्क वास्तविक ज्ञानका रोकनेवाला है-पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहिं होने देता, शांतिका भंग करनेवाला है-यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुतर्की मनुष्यके हृदयमें जरा भी शातिका भाव नहिं रहता, श्रद्धाभंग करनेवाला है-कुतर्की मनुष्यको किसी पदार्थमें श्रद्धा नहि होती, अभिमानका करनेवाला है जो मनुष्य कुतर्की होते हैं वे अपनेको प्रबल विद्वान समझकर सदा अभिमानकी चोटीपर सवार रहते हैं इसलिये वह ध्यानका प्रतिबंधक है-अज्ञान वा अशांति आदिके होनेसे कभी आत्मध्यान नहिं हो सकता इसलिये जो पुरुष ध्यानका आराधनकर अनुपम स्थान निर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वथा कुतर्क करना छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपके ध्यानमें आग्रह रखना चाहिये क्योंकि आत्मध्यानका आग्रह मोक्षरूपी शातिमय स्थानमें लेजानेकेलिये उत्तम सोपान है-आत्मध्यानी मनुष्य अवश्य निराकुलतामय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ५२-५३ ॥

विविक्तमिति चेतनं परमशुद्धबुद्धाशया विचिंत्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदं ।
निरंतरमपुनर्भवं सुखमतींद्रियं स्वात्मजं समेत्य हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते ॥ ५४ ॥

अर्थ-जो महानुभाव परम शुद्ध एवं प्रबुद्ध चित्तके धारक हैं और आत्मस्वरूपके ध्यानमें पूर्ण आदर रखनेवाले हैं वे ऊपर कहे अनुसार कर्ममलसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यानकर संसारका जो अनेक दुःखोंका स्थान है सर्वथा त्याग करदेते हैं और मोक्ष स्थानमें जा निवास करते हैं जो निरंतर-अविनाशी है, अपुनर्भव-जहांसे फिर लोटना नहिं होता है, अतींद्रिय सुखस्वरूप है, स्वात्मज-अपनी आत्मासे उत्पन्न होनेवाला है, समस्त कालिमाओंसे रहित है और अनुपम है। भावार्थ--ऊपर कह दिया गया है कि मोक्ष अविनाशी अतींद्रिय सुखका भंडार, आत्मासे जायमान, कर्मोंसे रहित, अनुपम और अपुनर्भव अर्थात् जहांसे फिर लोटना नहिं होता ऐसा पदार्थ है तथा उसकी प्राप्ति अनेक दुःखोंके भंडार संसारके नाश हो जानेपर होती है और संसारका नाश कर्मरहित विशुद्ध आत्माके ध्यानसे होता है इसलिये जो पुरुष उप-

युक्त अविनाशी आदि स्वरूपके धारक मोक्षको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें विशुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये जिससे उनका संसार नष्ट हो और उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ॥ ५४ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें मोक्षाधिकार समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

विमुच्य विविधारंभं पारतंत्र्यकरं गृहं । मुक्तिं यियासता धार्यं जिनलिंगं पटीयसा ॥ १ ॥
सोपयोगमनारंभं लुंचितश्मश्रुमस्तकं । निरस्ततनुसंस्कारं सदा संगविवर्जितं ॥ २ ॥
निराकृतपरापेक्षं निर्विकारमयाचनं । जातरूपधरं लिंगं जैनं निर्वृतिकारणं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं-संसारके चरित्रके वास्तविक जानकार हो चुके हैं और मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें समस्त प्रकारके आरंभोंका और पराधीनता करनेवाले घरका सर्वथा त्यागकर जिनलिंग-दिगंबरलिंग धारण करना चाहिये क्योंकि वह लिंग ज्ञान दर्शन पूर्वक है, सर्वप्रकारके आरंभोंसे रहित है, उसमें डाढी मूंछ और मस्तकके बालोंका लोच किया जाता है, किसीप्रकारसे शरीरका संस्कार नहि किया जाता, समस्त परिग्रहोंका त्याग रहता है, द्रव्य आदि परपदार्थोंकी जरा भी अभिलाषा नहिं रहती, विकार और याचक वृत्तिका भी नाश रहता है, नग्न मुद्रा रहती है और जो मोक्षका कारण कहा गया है । भावार्थ—जो लिंग अज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहां अनेक प्रकारके आरंभ, बडी २ जटा और मूंछ डाढीका रखना, शरीरका संस्कार, अनेक प्रकारके परिग्रहोंका धारण, द्रव्य आदिकी अपेक्षा, इंद्रियोंके विकार, याचक वृत्ति और नग्नता न होकर वस्त्र अदिका संबंध रहता है वह लिंग मोक्षका कारण नहीं किंतु उसके धारणकरनेमें हिंसा राग द्वेष क्रोध आदि दुर्भावोंकी मोजूदगी रहती है इसलिये उससे संसारमें रुलना पड़ता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं परंतु जो लिंग ज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहांपर आरंभका त्याग, डाढ़ी मूछ और मस्तकके केशोंका लोच, शरीर संस्कार और परिग्रहका त्याग, द्रव्य आदि परपदार्थोंकी उपेक्षा, विकार और याचना वृत्तिका अभाव एवं नग्नता रहती है वह लिंग मोक्षका कारण है अर्थात् ऐसे निर्दोष लिंगके धारण करनेसे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये जो मनुष्य भलेप्रकार स्वस्वरूपके जानकार हैं और अनुपम निराकुलतामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त प्रकारके आरंभोंका त्याग करें और

पराधीनताके कारण गृहवासको छोड़दें क्योंकि आरंभमें प्रवृत्ति रखना और घरबार स्त्री पुत्र आदिमें ममत्व करना जिनलिंगमें बाधक है अर्थात् जबतक आरंभ और घर आदिमें ममता बनी रहती है तबतक कभी जिनलिंग नहि धारण किया जा सकता ॥ १-३ ॥

नाहं भवामि कस्यापि न किंचन ममापरं । इत्यकिंचनतोपेतं निष्कषायं जितेंद्रियं ॥ ४ ॥
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या जिनमुद्राविभूषितः । जायते श्रमणोऽसंगो विधाय व्रतसंग्रहं ॥ ५ ॥

अर्थ—जो गुरु 'न मैं किसीका हूं और न कोई परपदार्थ मेरा है, इसप्रकारके आकिंचन्य धर्मसे युक्त हैं, कषायों-से रहित और इंद्रियोंका विजयी है ऐसे गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कारकर जो महानुभाव जिनमुद्राको धारण करता है, समस्त प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और महाव्रतोंका आचरण करता है वह महात्मा मुनि होता है । भावार्थ—जो गुरु परपदार्थोंको अपना और अपनेको परपदार्थोंका मानते हैं, कषायी है, इंद्रियोंके आधीन हैं, वे गुरु नहीं-कुगुरु हैं और उनकी सेवासे कभी कल्याण नहिं हो सकता । किंतु जो यह विचार कर कि 'न हम किसीके हैं और न कोई अन्य पदार्थ हमारा है, पक्के आकिंचन्य धर्मके पालक हैं' जिनके पास क्रोध आदि कषाय फटकने तक नहिं पाते और जो स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंको वश करनेवाले हैं वे ही वास्तविक गुरु हैं और उन्हींकी सेवासे कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिये जो महानुभाव ऐसे परम पावन गुरुओंको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मुनिमुद्राको धारण करते हैं समस्त प्रकारके परिग्रहोंका त्याग और अहिंसा आदि पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं वे मुनि होते हैं ॥ ४-५ ॥

महाव्रतसमित्यक्षरोधाः स्युः पंच चैकशः । परमावश्यकं षोढा लोचोऽस्नानमचेलता ॥ ६ ॥
अदंतधावनं भूमिशयनं स्थितिभोजनं । एकभक्तं च संत्येते पाल्या मूलगुणा यतेः ॥ ७ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच प्रकारकी समितियां, पांचप्रकारकी इंद्रियोंका निरोध, छै आवश्यक, केशलोंच, स्नान-का अभाव, नग्नता, दातोंका न धोना, भूमिपर सोना, स्थितिभोजन, और दिनमें एकबार आहारका लेना ये अट्ठा-ईस मुनियोंके मूल गुण हैं इसलिये मुनियोंको अवश्य इनका पालन करना चाहिये । भावार्थ—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्र-ह्मचर्य और निष्परिग्रह ये पाच महाव्रत हैं, ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं । स्पर्शन

रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांच इंद्रियोंका निरोध पांच प्रकारका इंद्रियनिरोध है स्वाध्याय प्रतिक्रमण आदि छै आवश्यक हैं, केशोंका उपारकर फैकना केशलोंच, कभी भी स्नान न करना अस्नान, दिगंबर मुद्राका धारण करना अचेलता, दांतोंका कभी न धोना, भूमिपर सोना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एकवार अहारका लेना ये अट्ठाईस मूल गुण मुनियोंके पालनेके हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे अवश्य इन मूलगुणोंका पालन करैं ॥ ६–७ ॥

निष्प्रमादतया पाल्या योगिना हितमिच्छता ।
सप्रमादः पुनस्तेषु छेदोपस्थापको यतिः ॥ ८ ॥

अर्थ–योगीको सदा उपर्युक्त मूलगुण प्रमादरहित होकर पालने चाहिये क्योंकि जो यति मूलगुणोंके पालनेमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थक यति हो जाता है । भावार्थ–प्रमादसे चारित्रके पालनमें हीनता आजानेपर दिन पक्ष मास वा वर्षपर्यंत आदि की दीक्षाका छेद करदेना छेद है तथा छेदपूर्ण हो जानेपर फिरसे नई दीक्षा देना उपस्थापना है जो मुनि प्रमादपूर्वक मूलगुणोंका पालन करता है वह छेदोपस्थापक नामका मुनि कहा जाता है अर्थात् प्रमादसे मूलगुणोंके पालनेमें दोष आजानेके कारण आचार्य उस मुनिकी दिन मास वा वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद करदेते हैं पश्चात् अवधिके समाप्त होजानेपर फिरसे दीक्षा देते हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये वे छेदोपस्थापनाके भयसे प्रमादरहित होकर मूलगुणोंका पालन करै ॥ ८ ॥

प्रव्रज्यादायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते ।
निर्यापकाः पुनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ॥ ९ ॥

अर्थ–जो मुनि इतर मुनियोंको दीक्षा प्रदान करता है वह आचार्य कहा जाता है और शेष मुनि छेदोपस्थापक कहे जाते हैं । भावार्थ–जिसप्रकार प्रजाका नायक राजा होता है उसीप्रकार मुनियोंके संघका भी एक नायक होता है उसै आचार्यके नामसे पुकारते हैं तथा मुनियोंको दीक्षा देना उसका काम रहता है अर्थात् जो मुनियोंको दीक्षा दे वह आचार्य कहा जाता है और उसकी आज्ञानुसार प्रवर्तनेवाले अन्य मुनि छेदोपस्थापक नामके मुनि कहे जाते हैं ॥९॥

प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्चारित्रं कायचेष्टया ।

यदि छेदस्तदा कार्या क्रियालोचनपूर्विका ॥ १० ॥

अर्थ–उग्र भी चारित्रके आचरण करनेवाले साधुके यदि किसी शरीरकी चेष्टासे छेद हो जाय दिन मास वा वर्ष आदिकी दीक्षा कम करदी जाय तो उसको आलोचनापूर्वक क्रियायें करना चाहिये। भावार्थ–अशुभ कर्म बड़ा वलवान है इसलिये प्रकृष्ट भी चारित्रको आचरण करनेवाले साधुको किसी कायकी चेष्टाके अपराधसे एक दिन पक्ष मास वा वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद हो जाता है अर्थात् जिसकी एक वर्षकी दीक्षाका छेद हुआ है उसे आचार्यकी आज्ञानुसार दश वर्षके दीक्षित साधुओंके मध्यसे निकलकर नौ वर्षके दीक्षित साधुओंमें संमिलित होना पड़ता है और जिसकी दो वर्ष आदिकी दीक्षाका छेद हुआ है उसे आठ वर्ष आदिके दीक्षित आदि साधुओंके मध्यमें रहना पड़ता है इसलिये छेदयुक्त मुनियोंके लिये यह भगवान सर्वज्ञकी आज्ञा है कि जिससमय दीक्षाका छेद हो जाय उससमय वे घोर तप तपकर उस कलंकको दूरकरें और किसी प्रकार खिन्न होकर अनुत्साहित न हों ॥ १० ॥

आश्रित्य व्यवहारज्ञं सूरिमालोच्य भक्तितः।
दत्तस्तेन विधातव्यश्छेदश्छेदवता सदा ॥ ११ ॥

अर्थ–उस छेदयुक्त साधुको पूर्णरूपसे व्यवहारको जाननेवाले किसी आचार्यके सन्मुख जाकर सत्यतापूर्वक अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये और जो वह छेद (प्रायश्चित्त) दे उसे पूर्णरूपसे पालना चाहिये। भावार्थ–किसी साधुके वर्ष वा दो वर्षआदिकी दीक्षाके छेदके योग्य अपराध हो जाय तो उसे चुपचाप अपने मनमें रखकर छिपा न लेना चाहिये किंतु पूर्णरूपसे व्यवहार नयको जाननेवाले आचार्यके सन्मुख उपस्थित होकर अपने दोषकी आलोचना (खुलासा रूपसे प्रकट करना) करनी चाहिये और जो वह वर्ष दो वर्षआदिकी दीक्षाके छेदका प्रायश्चित्त दे उसे उत्साहके साथ पालन करना चाहिये ॥ ११ ॥

भूत्वा निराकृतच्छेदश्चारित्रचरणोद्यतः।
मुंचमानो निबंधानि यतिर्विहरतां सदा ॥ १२ ॥

अर्थ–जिससमय उस साधुका छेदप्रायश्चित्त पूर्ण हो जाय उससमय उसे निर्दोष चारित्रके आचरणमें उद्यत

होकर दुराग्रहोंका सर्वथा त्यागकर सदा पृथ्वीपर विहार करना चाहिये। भावार्थ–जबतक छेद प्रायश्चित्त पूरा न हो सकै तबतक साधुको पृथ्वीपर एकाकी विहार करनेका अधिकार नहीं किंतु जिससमय उसका प्रायश्चित्त पूरा होजाय तथा निर्दोष चारित्रका आचरण और दुराग्रहोंका नाश हो जाय उससमय उस साधुको गुरुकी आज्ञानुसार निर्दोषरूपसे विहार करना चाहिये ॥ १२ ॥

शुद्धरत्नत्रयो योगी यत्नं मूलगुणेषु च ।
विधत्ते सर्वदा पूर्णं श्रामण्यं तस्य जायते ॥ १३ ॥

अर्थ–जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रयका धारक है और उर्युपक्त मूल गुणोंको बडे प्रयत्नसे सदा पालता है उसके मुनिपना प्रकट होता है-वह श्रमण-मुनि कहा जाता है। भावार्थ-शुद्ध सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयका धारण करना और मूलगुणोंके पालनमें पूर्ण प्रयत्न करना श्रमणता-मुनिपना है जबतक यह न होगा तबतक कभी मुनिपना नहि हो सकता इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे शुद्धरत्नत्रयके धारक बनें और पूर्णरूपसे मूलगुणोंका पालन करें ॥ १३ ॥

उपधौ वसतौ संघे विहारे भोजने जने ।
प्रतिबंधं न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठितः ॥ १४ ॥

अर्थ–जो महानुभाव ममतारहित हो चुका है वह परिग्रह वासस्थान मुनि आदिका संघ विहार भोजन और जनसमुदायमें ममत्व नहिं करता। भावार्थ–जबतक जीव ममतामें फसा रहता है तबतक वह परिग्रह वासस्थान संघ विहार आहार और जनसमुदाय आदिको अपना पराया मानकर उनमें रागद्वेष किया करता है किंतु जिससमय उसकी ममता छुटजाती है उससमय वह परिग्रह आदि किसी पदार्थमें ममत्व नहिं करता सदा शुद्ध परमात्मामें लो लगाता है ॥१४॥

अशने शयने स्थाने गमे चंक्रमणे ग्रहे ।
प्रमादचारिणो हिंसा साधोः सांततिकीरिता ॥ १५ ॥

अर्थ–जो साधु प्रमादी हैं-प्रमादपूर्वक क्रियाओंका आचरण करते हैं उनके खाने, सोने, बैठने, चलने, हाथ पैरके पसारने और ग्रहण करने आदि सभी कार्योंमें सदा हिंसा होती रहती है और उससे संसारमें घूमना पड़ता है ।

भावार्थ–हिंसामें प्रधान करण प्रमादका योग है इसलिये विकथा वा कषाय आदि प्रमादोंके अभावमें हिंसा नहि होती। जो मुनि प्रमादरहित हैं वे भोजन शयन आदि समस्त कार्य करते भी हैं तथापि उनके हिंसा नहिं होती किंतु प्रमादी साधु भोजन शयन आदि कुछ भी कार्य क्यों न करे सदा उनके हिंसा होती ही रहती है इसलिये मुनियोंको हिंसाके कारण प्रमादका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥ १५ ॥

गुणायेदं सयत्नस्य दोषायेदं प्रमादिनः ।
सुखाय ज्वरहीनस्य दुःखाय ज्वरिणे घृतं ॥ १६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार ज्वररहित पुरुषको घी सुखकारी और ज्वरग्रस्तको दुःखकारी होता है उसीप्रकार जो मुनि यत्नाचारी हैं उनकेलिये उपर्युक्त शयन भोजन आदि सुखकारी होते हैं और जो प्रमादी हैं उन्हें शयन आदिसे दुःख भोगना पड़ता है। भावार्थ–यह एक साधारण बात है कि जो पदार्थ एकको गुणकारी होता है वही दूसरेको अपगुण करनेवाला हो जाता है। घृत एकही पदार्थ है परंतु यह ज्वररहितको सुखकारी और ज्वरसहितको दुःखकारी हो जाता है उसीप्रकार शयन आसन आदिभी क्रियायें समान हैं परंतु अप्रमादीकेलिये वे सुखकारी और प्रमादीकेलिये दुःखकारी होती हैं अर्थात् प्रमादपूर्वक भोजन शयन आदिसे हिंसा होती है, हिंसासे दुष्कर्मोंका बंध, बधसे संसारमें रुलना और संसारमें रुलनेसे अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं एवं प्रमादरहित यत्नाचारी होकर शास्त्रोक्त अशन आदि करनेसे तपकी वृद्धि, तपकी वृद्धिसे कर्मोंका नाश और कर्मोंके नाशसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

ज्ञानवत्यपि चारित्रं मलिनं परपीड़के ।
कज्जलं मलिनं दीपे सप्रकाशेऽपि तापके ॥ १७ ॥

अर्थ–जिसप्रकार प्रकाशयुक्त होनेपर भी संतापके देनेवाले दीपकमें मलिन कज्जलका संबंध रहता है उसीप्रकार ज्ञानवान होनेपर भी यदि कोई पुरुष परको पीड़ा देनेवाला है तो उसके भी मलिन चारित्रकी विद्यमानता रहती है। भावार्थ–प्रकाशयुक्त होनेपर भी संतापके देनेवाले दीपकमें जिसप्रकार मलिन कज्जलकी विद्यमानता रहती है उसीप्रकार ज्ञानवान होनेपर भी दूसरोंको संताप देनेवालेके मलिन चारित्रकी मोजूदगी रहती है इसलिये जो परको पीड़ा न पहुंचानेवाला ज्ञानवान है उसके मलिन चारित्र विद्यमान न रहकर निर्मल चारित्र होता है ॥ १७ ॥

भवाभिनंदिनः केचित्संति संज्ञावशीकृताः ।
कुर्वतोऽपि परं धर्मं लोकपंक्तिकृतादराः ॥ १८ ॥

अर्थ–संसारमें कईएक मनुष्य ऐसे भी हैं जो अभिमानके वशीभूत होकर धर्मका आचरण करते हुये भी लोकपंक्ति अर्थात् लोगोंके रिझानेवाले कार्य करते हैं इसलिये वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंत संसारी कहे जाते हैं । भावार्थ–संसारमें ऐसे वहुतसे मनुष्य हैं जो महाअभिमानी हैं तथा धर्मका आचरण भी करते हैं परंतु लोगोंके रिझानेकेलिये वा अपनी ख्याति पूजा और लाभकेलिये अन्य कार्य भी कर पाडते हैं जिससे उन्हें अनंतकालतक संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये धर्मात्माओंको चाहिये कि वे अभिमान तथा लोकमें लाभ पूजा आदिकेलिये अधार्मिक कार्योंका आचरण न करें–ऐसे कार्योंका सर्वथा त्याग करदें ॥ १८ ॥

मूढा लोभपराः क्रूराः भीरवोऽसूयकाः शठाः ।
भवाभिनंदिनः संति निष्फलारंभकारिणः ॥ १९ ॥

अर्थ–तथा जो पुरुष मूढ़ लोभी क्रूर डरपोंक ईर्ष्या करनेवाले मूर्ख और संसारके पोषक हैं एवं निष्फल आरंभोंके करनेवाले हैं वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंतकालतक संसारमें घूमनेवाले हैं ॥ १९ ॥

आराधनाय लोकानां मलिनेनांतरात्मना ।
क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपंक्तिरसौ मता ॥ २० ॥

अर्थ–अंतरात्माके मलिन होनेसे मूर्ख लोग जो लोकके रंजायमान करनेकेलिये क्रिया करते हैं उसै लोकपंक्ति कहते हैं । भावार्थ–यह स्पष्टरूपसे देखनेमें आता है कि वहुतसे ऐसे मूर्ख योगी साधु होते हैं जिनकी आत्मा विषयवासना वा कषाय आदिसे तो मलिन रहती है परंतु लोकके रंजायमान करनेकेलिये वा ख्याति लाभ आदिकेलिये वे अनेक कार्य कर पाड़ते हैं इसलिये उनकी जो वैसी क्रिया है उसकी रूढि संज्ञा लोकपंक्ति है ॥ २० ॥

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणांगं मनीषिणां ।

तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसां ॥ २१ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं हित और अहितको भलेप्रकार जानते हैं वे धर्मके अर्थ लोकपंक्तिका आचरण करते हैं इसलिये उन्हें उससे कल्याणप्राप्ति होती है किंतु जो मूढ़बुद्धि पुरुष लोकपंक्तिकेलिये धर्म करते हैं उनको उस धर्मसे पापका बंध होता है। भावार्थ–लोकके रंजायमान करनेवाली ख्याति आदिकेलिये की गई क्रियासे यद्यपि पापका बंध होता है परंतु यदि वह धर्मकेलिये विद्वान लोगों द्वारा की जाय तो उन्हें उससे कल्याणकी प्राप्ति होती है परंतु मूढ़-बुद्धि पुरुष यदि लोकके रंजायमान वा ख्याति लाभ आदिकी करनेवाली क्रियाके अर्थ धर्मका आचरण करते हैं तो उससे पापका ही बंध होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे धर्मके अर्थ उक्त क्रियाको तो करैं परंतु उस क्रिया-केलिये धर्मका आचरण न करै ॥ २१ ॥

मुक्तिमार्गपरं चेतः कर्मशुद्धिनिबंधनं ।
मुक्तेरासन्नभावेन न कदाचित्पुनः परं ॥ २२ ॥

अर्थ–मोक्षके मार्गकी ओर चित्तके झुकजानेसे कर्मोंकी शुद्धि होती है क्योंकि उससमय मोक्ष बिलकुल समीप रहजाती है किंतु जब वह मोक्षमार्गकी ओर ऋजु नहि होता तब कभी उससे कर्मोंकी शुद्धि नहिं होती। भावार्थ–ऊ-पर कह दिया गया है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताका नाम मोक्षमार्ग है अर्थात् जिस-समय ये तीनों आत्माके अंदर प्रकट होंजाते हैं उससमय मोक्षकी अवश्य प्राप्ति होती है इसलिये जिससमय चित्त इस मार्गकी ओर ऋजु होता है उससमय मोक्ष समीप रहजानेकेकारण कर्मोंकी शुद्धि होती है किंतु जब चित्तकी मोक्षमार्गमें लीनता नहिं होती उससमय कभी कर्मोंकी शुद्धि नहिं होती इसलिये कर्मोंकी शुद्धिके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे अपने चित्तको मोक्षमार्गकी ओर अवश्य लगावें ॥ २२ ॥

कल्मषक्षयतो मुक्तिर्भोगसंगमवर्जिनां ।
भवाभिनंदिनामस्यां विद्वेषो मुग्धचेतसां ॥ २३ ॥

अर्थ–जो महानुभाव भोगोंके संबंधसे रहित हैं उनके जिससमय कर्मोंका नाश होजाता है उससमय मोक्षकी प्राप्ति

होती है किंतु जो भवाभिनंदी हैं-संसारके पोषण करनेवाले हैं और मूढ़ हैं उन्हें मोक्षमें विद्वेष रहता है। भावार्थ-जब तक भोग भोगनेकी वासना चित्तपर सवार रहेगी तबतक कभी कर्मोंका क्षय नहिं हो सकता और जबतक कर्मोंका क्षय न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है क्योंकि समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशको मोक्ष कहागया है इस-लिये जो पुरुष भोगोंके संबंधसे रहित हैं-इंद्रियोंके विषयोंमें नहिं फसते उन्हें तो समस्त कर्मोंके नष्ट होजानेके कारण मोक्षकी प्राप्ति होती है किंतु जो पुरुष भवाभिनंदी हैं-संसारको ही परम आनंदका स्थान मानते हैं और मूढ़ हैं वे मुक्ति-सेही द्वेष रखते हैं- मोक्ष पाना अच्छा नहिं समझते इसलिये उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती ॥ २३ ॥ तथा-

नास्ति येषामयं तत्र भवबीजवियोगतः ।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याणफलभागिनः ॥ २४ ॥

अर्थ-संसारके कारण लोकाचारके नाश होजानेके कारण जो महानुभाव मोक्षमें विद्वेष नहिं रखते वे भी धन्य और पवित्र आत्माके धारक हैं क्योंकि मोक्ष सुखमें वे भागीदार हैं। भावार्थ-यह ऊपर कह दिया गया है कि-बहुतसे मूढ़ पुरुष संसारको ही आनंदका स्थान समझते और लोकाचारोंका आचरण करते हुये अपनेको सुखी मानते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संसारसुखमें ऐसे लीन हो जाते हैं कि उन्हें मोक्षमें भी द्वेष हो निकलता है इसलिये न तो वे कभी मुक्ति पानेका प्रयत्न ही करते हैं और न वह उन्हें प्राप्त ही होती है परंतु जो पुरुष लोकाचारसे विमुख हैं और मोक्षमें किसी प्रकारका द्वेष नही रखते वे भी धन्य और महात्मा हैं क्योंकि वे मोक्ष सुखके हिस्सेदार हो चुके हैं अर्थात् मोक्षमें द्वेष न होनेके कारण किसी न किसी दिन मोक्षकी प्राप्तिकेलिये वे अवश्य लालायित होंगे और समस्त कर्मोंका नाश-कर मोक्ष प्राप्त करलेंगे ॥ २४ ॥

संज्ञानादिरुपायो यो निर्वृतेर्वर्णितो जिनैः ।
मलिनीकरणे तस्य प्रवर्तंते मलीमसाः ॥ २५ ॥

अर्थ-भगवान जिनेंद्रने जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिको मोक्षका मार्ग बतलाया है पापी मनुष्य रातदिन उसके मलिन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं। भावार्थ-भगवान जिनेंद्रने निर्दोष दर्शन निर्दोष ज्ञान और निर्दोष

परंतु मूढ़ मनुष्य ऐसे विषयवासनामें लिप्त हो रहे हैं कि वे विपरीत श्रद्धानकर
चारित्रको मोक्षका उपाय बतलाया है सम्यग्दर्शनको, भ्रांत हो सम्यग्ज्ञानको, और हिंसा उत्पन्न करनेवाली क्रियाओंका आचरणकर सम्यक्चारित्रको सदा
मलिन करते रहते हैं इसलिये यदि उन्हैं मोक्षकी प्राप्ति हो तो कहांसे हो ? अर्थात् जब मोक्ष जानेका मार्ग ही लुप्त हो
गया तो मोक्षमें जाना सर्वथा असंभव है ॥ २५ ॥

आराधने यथा तस्य फलमुक्तमनुत्तरं ।
मलिनीकरणे तस्य तथानर्थो बृहद्व्यथः ॥ २६ ॥

अर्थ--जिसप्रकार सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयकी आराधनाका सर्वोत्तम फल मोक्ष मिलना कहा है उसीप्रकार उसके
मलिनकरनेसे भी घोर अनर्थ और दुःख होता है यह समझलेना चाहिये। भावार्थ-यदि कोई मूढ़ मनुष्य ऐसा स-
मझले कि चलो सम्यग्दर्शन आदिकी आराधना न करैंगे तो हमैं उत्तम फल न मिलैगा और नुक्सान तो कुछ न हो-
गा तो ग्रंथकार कहते हैं यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिके आराधनसे जैसा अनुपम फल
प्राप्त होता है उसीप्रकार उनके मलिन करनेसे भयंकर दुखका सामना करना पड़ता है इसलिये दुःखसे भय करनेवाले
मनुष्योंको चाहिये कि वे कभी ऐसे कार्य न करै जिनसे उनके सम्यग्दर्शन आदिमें मलिनता आवे ॥ २६ ॥

तुंगारोहणतः पातो यथा तृप्तिर्विषान्नतः ।
यथानर्थोऽवबोधादिमलिनीकरणे तथा ॥ २७ ॥

अर्थ--जिसप्रकार ऊंची जगहपर चढनेसे गिरना और विषभक्षणसे तृप्ति करना अंतमें दुःखदायी होता है उसी-
प्रकार सम्यग्ज्ञान आदिके मलिन करनेपर घोर अनर्थका सामना करना पड़ता है। भावार्थ-जिसप्रकार ऊंची जगहसे
गिरनेमें पहिले तो कुछ तकलीफ नहीं मालूम पड़ती परंतु पृथ्वीपर नीचे आनेके बाद चोट आदि लगनेसे महा दुःख
का सामना करना पड़ता है और जिसप्रकार विषैले अन्नके भक्षण करनेसे पहिले तो पेट भर जाता है परंतु फिर मृत्यु
ही देखनी पड़ती है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान आदिके मलिन करनेसे पहिले तो कुछ दुःख नहीं मालूम पड़ता वा किंचित्
सुख मालूम पड़ता है परंतु कुछ समयके बाद जब पाप अपना फल देते हैं तब अवश्य घोर अनर्थ सहन करने पड़ते हैं
इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे सम्यग्दर्शन आदिको मलिन न होने दें ॥ २७ ॥

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।
प्रयत्नचारिणो बंधः समितस्य बधेऽपि नो ॥ २८ ॥

अर्थ—जो पुरुष अयत्नाचारी हैं—यत्नाचारपूर्वक कार्य नहि करते उनके जीव मरो या न मरो तो भी हिंसा और उससे कर्मबंध होते हैं किंतु जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले हैं और ईर्या, भाषा आदि समितियोंके पालक हैं उन्हें जीवोंके न मरनेपर तो हिंसा और कर्मबंध होते ही नहीं किंतु उनके मरनेपर भी हिंसा और उससे कर्मबंध नहि होते।

पादमुत्क्षिपतः साधोरीर्यासमितिभागिनः । यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पादयोगतः ॥ २९ ॥
तथापि तस्य तत्रोक्तो बंधः सूक्ष्मोऽपि नागमे । प्रमादत्यागिनो यद्वन्निर्मूर्छस्य परिग्रहः ॥ ३० ॥

अर्थ—भलेप्रकार ईर्यासमितिके पालन करनेवाले और आहार आदिकेलिये गमन करनेवाले साधुके यद्यपि पैरके संयोगसे सूक्ष्म जीवोंका विध्वंस होता है तथापि जिसप्रकार ममत्वरहित मनुष्यके परिग्रहका बंध नहिं होता उसीप्रकार उससाधुके भी प्रमादके अभावसे जरा भी कर्मोंका बंध नहिं होता ऐसा शास्त्रमें प्रतिपादन किया है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें यह कहा गया है कि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिसे जीव मरो या न मरो तथापि हिंसाका दोष नहिं लगता तथा हिंसाके अभावसे कर्मोंका बंध नहि होता वहांपर शंका होती है कि जीवोंके मरनेपर हिंसा और उससे कर्मबंध क्यों नहि होता? उसका समाधान यहां ग्रंथकारने दिया है कि हिंसामें कारण प्रमाद है यदि प्रमादकी विद्यमानता रहैगी तो जीव मरो या न मरो अवश्य हिंसा होगी और हिंसासे कर्मोंका बंध होगा किंतु जिससमय प्रमादका अभाव रहैगा उससमय जीव मरें या न मरें तथापि हिंसा और उससे कर्मबंध नहिं होंगे। इसलिये जिसप्रकार किसी पदार्थमें ममता न रखनेवाले मनुष्यके परिग्रहका बंध नहिं होता उसीप्रकार जो मुनि भलेप्रकार ईर्या आदि समितियोंका पालन करनेवाला है वह जिससमय आहार विहार आदिकेलिये गमन करता है उससमय यद्यपि उसके पैरसे दृष्टिके अगोचर बहुतसे जीवोंका विध्वंस होता है तौभी प्रमादके अभावसे उसके जरा भी हिंसाका दोष नहि लगता और हिंसाके अभावसे किसी प्रकारके कर्मोंका बंध भी नहि होता ॥ २९–३० ॥

प्रमादी त्यजति ग्रंथं वाह्यं मुक्त्वापि नांतरं ।

हित्वापि कंचुकं सर्पो गरलं नहि मुंचते ॥ ३१ ॥

अर्थ--जिसप्रकार सर्प कांचलीको छोड़ देता है परंतु विषको नहिं छोड़ता उसीप्रकार जो मुनि प्रमादी हैं-विकथा क्रोध आदिके वशीभूत हैं वे वाह्य परिग्रहका तो त्याग करदेते हैं परंतु अंतरंग परिग्रहको नहिं छोड़ सकते । भावार्थ--धन धान्य स्त्री पुत्र आदि वाह्य परिग्रह हैं और क्रोध आदि अंतरंग परिग्रह हैं, जो मनुष्य प्रमादी हैं-सदा जिनकी आत्मामें राग द्वेष आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं वे जिसप्रकार सर्प कांचलीको छोड़ देता है परंतु उससे भीतरी विषका त्याग नहि किया जाता उसीप्रकार मान बड़ाई आदिकेलिये स्त्री पुत्र घरवार आदिका तो त्याग करदेते हैं परंतु भीतरी क्रोध आदिका नाश नहिं कर सकते इसलिये जो दोनोंप्रकारके परिग्रहोंका त्यागकर निराकुलतामय सुखका आस्वादन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे प्रमादका अवश्य त्याग करदें ॥ ३१ ॥

अंतःशुद्धिं विना वाह्या न साश्वासकरी मता ।
धवलोऽपि वको वाह्ये हंति मीनाननेकशः ॥ ३२ ॥

अर्थ--विना अंतरंग शुद्धिके वाह्य शुद्धि विश्वास करानेवाली नहि होती क्योंकि वाह्यमें श्वेत भी वगला अनेक मच्छियोंको प्राणरहित करदेता है । भावार्थ--देखनेमें वगला बहुत ही सीधा साधा और श्वेत दीख पड़ता है किंतु उसका अंतरंग इतना दुष्ट होता है कि वह सदा यही विचार करता रहता है कि कव मच्छी मिलें और कव उन्हें मैं हजम करूं इसलिये वह अनेक मछलियोंको प्राणरहित करदेता है उसीप्रकार मनुष्य भी वाह्यमें कितना भी साधु और सुंदर चेष्टाका धारक क्यों न हो यदि उसका अंतरंग शुद्ध नहीं तो वह किसी कामका नहीं इसलिये यह वात सिद्ध है कि विना अंतरंगकी शुद्धिके वाह्य शुद्धि विश्वासके योग्य नहिं गिनी जाती अत वाह्य शुद्धिसे अंतरंगकी शुद्धि हितकारिणी और मुख्य है ॥ ३२ ॥

योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रवध्यते ।
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ--जो योगी छहकायोंके जीवोंकी रक्षामें प्रमादी हैं उनके कर्मोंका वंध होता है किंतु जो योगी प्रमादरहित हैं

छहकायोंके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद नहि करते वे जलके ऊपर स्थित कमलके समान कर्मोंसे लिप्त नहिं होते। भावार्थ-पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति और त्रस ये छह जीवोंकी निकाय हैं और इनकी रक्षा करना योगीका प्रधान कर्तव्य है परंतु जो योगी प्रमादी हैं-छहकायके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद करते हैं उनके कर्मोंका बंध होता है और जो अप्रमादी हैं छहकायके जीवोंकी रक्षामें प्रमाद नहिं करते वे जिसप्रकार जलके ऊपर पड़ा हुआ भी कमलपत्र पानीसे लिप्त नहिं होता उसीप्रकार कर्मोंसे लिप्त नहिं होते ॥ ३३ ॥

साधुर्यतोऽगिघातेऽपि कर्मभिर्वध्यते न वा।
उपाधिभ्यो ध्रुवो बंधस्त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः ॥ ३४ ॥

अर्थ-जीवोंके घात होनेपर भी साधुके बंध होता भी है और नहिं भी होता किंतु परिग्रहोंसे तो अवश्य बंध होता है इसलिये अंतरंग और वहिरंग दोनों परिग्रहका साधुको सर्वथा त्याग करदेना चाहिये। भावार्थ-ऊपर कह दिया जा चुका है जो योगी प्रमादी हैं उनके तो जीवोंके घातसे कर्मबंध होता है किंतु अप्रमादियोंके नहीं इसलिये जीवोंके घात होने पर भी किसीके कर्मबंध होता है और किसीके नहीं परंतु परिग्रहोंके धारण करनेसे तो अवश्य कर्मोंका बंध होता है ऐसा कोई भी योगी नहीं जिसके परिग्रहोंसे बंध न होता हो इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर दें जिससे उन्हें परिग्रहजन्य कर्मबंधका दुःख न भोगना पड़े ॥ ३४ ॥

एकत्राप्यपरित्यक्ते चित्तशुद्धिर्न विद्यते।
चित्तशुद्धिं विना साधोः कुतस्त्या कर्मविच्युतिः ॥ ३५ ॥

अर्थ-अन्य परिग्रहोंके त्याग होनेपर भी यदि किसी एक परिग्रहका भी त्याग न हो सकै तो चित्तकी शुद्धि नहिं होती और जब तक चित्तकी शुद्धि नहीं होती तबतक योगीके कर्मोंका नाश नहिं हो सकता। भावार्थ-कर्मोंके नाशमें प्रधान कारण चित्तकी शुद्धि है-जबतक चित्तकी शुद्धि न होगी तबतक कभी कर्मोंका नाश न होगा और वह चित्तकी शुद्धि समस्त परिग्रहोंके सर्वथा त्यागसे होती है अर्थात् जबतक किंचित् भी परिग्रह रहेगा तबतक कदापि चित्तकी शुद्धि न हो सकैगी इसलिये योगियोंको चाहिये कि यदि वे कर्मोंका नाश करना चाहते तो चित्तकी शुद्धि प्राप्त करै तथा चित्तकी शुद्धिकेलिये किसी भी परिग्रहमें ममत्व भाव न रक्खें-उसका सर्वथा त्याग करदें ॥ ३५ ॥

सूत्रोक्तमिति गृह्णानश्चेलखंडमिति स्फुटं। निरालंबो निरारंभः संयतो जायते कदा ॥ ३६ ॥
अलाबुभाजनं वस्त्रं गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुवं। प्राणारंभो यतेश्चेतोव्याक्षेपो वार्यते कथं ॥ ३७ ॥
स्थापनं चालनं रक्षां क्षालनं शोषणं यतेः। कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्व्याक्षेपो न निवर्तते ॥ ३८ ॥
आरंभो संयमो मूर्छा कथं तत्र निषिध्यते। परद्रव्यरतस्यास्ति स्वात्मसिद्धिः कुतस्तनी ॥३९॥
न यत्र विद्यते छेदः कुर्वतो ग्रहमोक्षणे। द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्ततां ॥ ४० ॥

अर्थ—शास्त्रकी आज्ञा है यह कहकर भी चेलखंड (कौपीन आदि) धारण करनेवाला संयमी निरालंब वा निरारंभ कभी नहिं हो सकता अर्थात् चेलखंडके धारण करनेपर एक तो संयमीको उसका आश्रय लेना पड़ेगा और उसकेलिये आरंभ भी करना पडेगा, जोकि संयमीकेलिये सर्वथा विरुद्ध है। तथा तूंबी वस्त्र एव अन्य भी किसी पदार्थको धारण करनेवाले संयमीके शरीरक्लेश और चित्तकी चंचलता अवश्य होगी अर्थात् तूंबी वस्त्र आदिके ग्रहण करनेपर शरीरको क्लेश और चित्तकी चंचलता न हो यह बात विरुद्ध है। तथा वस्त्र वा पात्र आदिके धारण करनेपर यतिको उसे रखना उठाना रक्षा करना धोना और सुखाना पडेगा इसलिये 'कहा कैसे रखना चाहिये ! इत्यादि' चिंता रहनेके कारण संयमीके चित्तकी चंचलता कभी नष्ट नहीं हो सकती। तथा जो संयमी परपदार्थोंमें रत हैं- उन्हें अपनानेवाले हैं उनके अवश्य आरंभ असंयम और ममता होगी इसकारण उन्हें कभी विशुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहिं हो सकती इसलिये साधुओंको चाहिये कि वे जिन पदार्थोंके ग्रहण करने और छोड़नेमें चारित्रका भंग न हो—निर्मल चारित्र सुरक्षित रहै ऐसे द्रव्य क्षेत्रको भलेप्रकार जानकर उनमें प्रवृत्ति करैं। भावार्थ—बहुतसे साधु ऐसे हैं जो कई वस्त्रोंके वा तूंबी आदि पदार्थोंके रखनेपर भी अपनेको शास्त्रोक्त मुनि कहलवानेका दावा रखते हैं और संसारमें उसबातका प्रसार भी करते हैं उनकेलिये यहा ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि अधिक वस्त्र वा तूंबी आदि पदार्थोंका धारण करना तो पृथक् रहो यदि कोई संयमी वस्त्रका खंड भी रखता है तो भी वह निरालंब और निरारंभ नहिं हो सकता अर्थात् उसवस्त्रके ग्रहण करनेसे उसका अवलंबन और उसकेलिये आरंभ करना पड़ता है इसलिये उस संयमीको दोष लगता है क्योंकि जो निरालंब और निरारंभ हो वही संयमी है ऐसा संयमीका लक्षण कहा गया है। तथा तूंबी वस्त्र आदि पदार्थोंके धारण करनेसे

और उनके रखने ले चलने रक्षाकरने धोने और सुखानेसे प्रति समय शरीरको क्लेश और चित्तको चंचलता वनी रहती है तथा परपदार्थमें रत होनेके कारण आरंभ असंयम और ममत्वमय परिणाम भी रहते हैं इसकारण परपदार्थोंके अपनानेवालोंको कभी शुद्ध आत्माकी प्राप्ति नहि होती इसलिये जो संयमी यह चाहता है कि किसीप्रकारसे हमारा चारित्र भंग न हो-वह सदा सुरक्षित वना रहै उसै चाहिये कि वह योग्य द्रव्य क्षेत्रको भलेप्रकार जानकर प्रवृत्ति करै-सब प्रकारके द्रव्य क्षेत्रोंको न अपना डाले ॥ ३६–४० ॥

संयमो हन्यते येन प्रार्थ्यते यदसंयतैः ।
येन संपद्यते मूर्छा तन्न ग्राह्यं हितोद्यतैः ॥ ४१ ॥

अर्थ–जो संयमी अपना हित चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे ऐसे पदार्थका ग्रहण न करैं जिसके ग्रहण करनेसे परिणाम ममत्वमय होते हों और जो असंयमियोंके योग्य संयमका नाश करनेवाला हो। भावार्थ--संसारमें स्त्री पुत्र धन धान्य आदि वहुतसे पदार्थ हैं जिनके ग्रहण करनेसे संयमका समूल नाश होता है असंयमी लोग वडी खुशीसे जिनका आदर करते हैं और जिनके ग्रहण करनेसे परिणामोंमें ममता उत्पन्न हो जाती है इसलिये जो संयमी अपनी आत्माका हित करना चाहते हैं-संसारसे सर्वथारहित होकर निराकुलतामय सुखास्वादन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करदें--उन्हें झांककर भी न देखें ॥ ४१ ॥

मोक्षाभिलाषिणां येषामस्ति कायेऽपि निस्पृहा ।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित्ते गृह्णंति कदाचन ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिन मोक्षाभिलापी महापुरुषोंकी अपने शरीरमें भी निस्पृहा होती है-जो अपने शरीरको भी नहिं चाहते वे अकिंचन-अन्य भी किसी पदार्थको नहिं चाहनेवाले किसी भी परपदार्थका कभी ग्रहण नहि करते। भावार्थ--वैसे तो शरीर स्त्री पुत्र आदि सब ही परपदार्थ हैं परंतु जिसप्रकार इस आत्माकेलिये घनिष्ट उपकारी मालूम होनेवाला और निकटवर्ती, शरीर पदार्थ है वैसा कोई नहीं। परंतु जो महात्मा मोक्षाभिलापी हैं वे शरीरको भी नहिं अपनाते इसलिये वे सर्वथा अकिंचन हैं शरीरसे भिन्न भी पदार्थोंको अपना नहिं मानते तथा जब उनकी सब परपदार्थोंमें निस्पृहता है तब वे किसी पदार्थको ग्रहण भी नहिं करते ॥ ४२ ॥

यत्र लोकद्वयापेक्षा जिनधर्मे न विद्यते। तत्र लिंगं कथं स्त्रीणां सव्यपेक्षमुदाहृतं ॥ ४३ ॥
नामुना जन्मना स्त्रीणां सिद्धिर्निश्चयतो यतः। अनुरूपं ततस्तासां लिंगं लिंगविदो विदुः ॥४४॥

अर्थ-जिस जैनधर्ममें दोनों लोककी अपेक्षा भी हानिकारक समझी गई है उस जैनधर्ममें स्त्रियोंके लिंगको सव्यपेक्षा-योग्य वस्त्र आदिसे युक्त कहा है सो कैसे ? तो इस प्रश्नका समाधान यह है कि निश्चयसे स्त्रियोंके इस जन्मसे-मोक्ष प्राप्ति नहिं होती इसलिये लिंगके वेत्ता निर्ग्रंथ मुनीश्वरोंने उनको अनुरूप-योग्य वस्त्र आदिसे युक्त ही लिंग बतलाया है। भावार्थ-जो मनुष्य स्त्रीपर्यायसे भी स्त्रियोंकी मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा मानते हैं यदि वे ऐसी शंका करें कि जिस जैनधर्ममें निर्ग्रंथ अवस्थामें दोनों लोककी अपेक्षाकी भी मनाई की गई है अर्थात् यदि तप करते समय यह इच्छा हो जाय कि मुझे इस लोकमें उत्तम भोगकी प्राप्ति हो और परलोकमें भी उत्तम विभूति एवं उत्तमपद मिलें तो वह तप उत्कृष्ट नहिं समझा जाता है किंतु किसीप्रकारकी अभिलाषासे रहित ही तप उत्तम कहा गया है तब स्त्रियोंके लिंगको वस्त्र आदिसे युक्त क्यों कहा-उन्हें भी वस्त्र आदि रहित ही लिंगका उपदेश होना चाहिये ? तो इसका समाधान यह है कि स्त्रियोंको स्त्रीपर्यायसे मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती इसलिये उन्हें योग्य वस्त्रयुक्त लिंग धारण करनेकी ही आज्ञा है यदि मनुष्य पर्यायसे मनुष्योंके समान उन्हें भी स्त्री पर्यायसे मोक्षकी प्राप्ति होती तो उन्हें भी निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका उपदेश दिया जाता इसलिये स्त्रियोंका निर्ग्रंथ लिंग धारण करना आगमविरुद्ध है ॥४४॥ स्त्रियोंको मोक्षका क्यों निषेध है इसका उत्तर—

प्रमादमयमूर्तीनां प्रमादोऽतो यतः सदा। प्रमदास्तास्ततः प्रोक्ताः प्रमादबहुलत्वतः ॥ ४५ ॥
विषादः प्रमदो मूर्छा जुगुप्सा मत्सरो भयं। चित्ते चित्रायते माया ततस्तासां न निर्वृतिः ॥४६॥

अर्थ-स्त्रियां प्रमादकी मूर्ति हैं इसलिये प्रमादकी प्रचुरतासे उन्हें प्रमदा शब्दसे पुकारा गया है। तथा विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा उनके चित्तपर अंकित रहती है इसलिये उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती। भावार्थ-स्त्रियोंका एक नाम प्रमदा भी बतलाया गया है और वह इसलिये है कि स्त्री प्रमादस्वरूप मूर्ति है उसमें प्रमादकी अधिकता रहती है और हर कार्यमें प्रमाद उत्पन्न करती है यदि यहांपर यह कहा जाय कि मनुष्य भी तो प्रमादी

होते हैं उनका ऐसा नाम क्यों नहिं रक्खा गया ? तो उसका समाधान यह है कि यह बात स्पष्टरूपसे अनुभवमें आती है कि स्त्रीजातिके अंदर जैसी क्रोध आदि प्रमादोंकी अधिकता है वैसी मनुष्योंके अंदर नहीं। तथा जहां विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और मायाका अभाव हो जाता है वहां ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है अन्यत्र नही क्योंकि उनकी मोजूदगी मोक्षकी प्राप्तिमें सर्वथा बाधक है। स्त्रियोंके चित्तपर विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा सवार रहते हैं-वे आर्यिका भी हो जाती हैं तथापि उनके इन दुर्भावोंका अभाव नहिं होता इसलिये स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया गया है ॥ ४५-४६ ॥

न दोषेण विना नार्यो यतः संति कदाचन ।
गात्रं च संवृतं तासां संवृतिर्विहिता ततः ॥ ४७ ॥

अर्थ-विना दोषोंके स्त्रियां कभी नहिं हो सकती-सदा वे दोषोंकी पुंज स्वरूप रहती हैं इसलिये उनका शरीर सदा वस्त्रसे ढका रहता है और इसीलिये विरक्त अवस्थामें भी उन्हें वस्त्रविशिष्ट लिंग धारण करनेका उपदेश है। भावार्थ-शंका होती है कि विषाद आदिकी प्रतिसमय विद्यमानता रहनेके कारण स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्ति न हो परंतु उनकेलिये निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेकी क्यों मनाई की गई है तो उसका समाधान यही है कि स्त्रियां अनेक दोषोंकी खानि हैं उनके चित्तमें चंचलता आदि दुर्गुण वहुत जल्दी २ उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये सराग अवस्थामें भी उनका शरीर ढका रहता है और इसीलिये उन्हें वस्त्रयुक्त लिंग धारण करनेका उपदेश है ॥ ४७ ॥

शैथिल्यमार्तवं चेतश्चलनं श्रवणं तथा। तासां सूक्ष्ममनुष्याणामुत्पादोऽपि वहुस्तनौ ॥ ४८ ॥
कक्षाश्रोणिस्तनाद्येषु देहदेशेषु जायते। उत्पत्तिः सूक्ष्मजीवानां यतो नो संयमस्ततः ॥ ४९ ॥

अर्थ-स्त्रियोंमें शिथिलता ऋतुधर्म चित्तका चांचल्य और अधिक श्रवण शक्ति होती है। उनके शरीरमें वहुतसी सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है तथा उनके कांख योनि और स्तन आदि शरीरके अवयवोंमें भी वहुतसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनके पूर्ण संयम नहिं पल सकता। भावार्थ-ऊपर कहदिया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधान कारण संयम है जबतक संयम न धारण किया जायगा तबतक कभी मोक्षकी प्राप्ति नहि हो सकती। और स्त्रियोंके

संयमका पालन हो नहि सकता क्योंकि संयमका अर्थ षट् प्रकारके जीवोंकी रक्षा करना है । स्त्रियोंके शरीरमें वहुत निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा कांख योनि और स्तन आदि स्थानोंपर और भी वहुतसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनका अवश्य विघात होता है तथा जीवोंके विघातके साथ उनमें, संयममें बाधा पहुचानेवाले शिथिलता, ऋतुधर्म, मनकी चंचलता और श्रवणशक्तिकी भी अधिकता है इसलिये उनके पूर्ण संयमका अभाव है और संयमके अभावसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहिं होती ॥ ४८–४९ ॥

शशांकामलसम्यक्त्वाः समाचारपरायणाः ।
सचेलतः स्थिता लिंगे तपस्यंति विशुद्धये ॥ ५० ॥

अर्थ–जो स्त्रियां चंद्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वकी धारण करनेवाली हैं और निर्दोष चारित्रके आचरणमें तत्पर हैं वे कर्मोंकी विशुद्धिकेलिये वस्त्रयुक्त लिंग धारणकर तपका आचरण करती हैं । भावार्थ--शंका होती है कि जब स्त्रियोंको निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेकी आज्ञा नहीं और संयमका भी वे पालन नहिं कर सकतीं तब उन्हें वस्त्रयुक्त लिंग धारणकर तप करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान ग्रंथकारने यहां यह दिया है कि यद्यपि स्त्रियां निर्ग्रंथ लिंग और संयम धारण नहिं कर सकतीं तथापि जो निर्मल सम्यक्त्वकी धारक और भलेप्रकार चारित्रके आचरण करनेमें तत्पर हैं वे कर्मोंकी विशुद्धिकेलिये आर्यिकाकी दीक्षा लेकर तपका आराधन करती हैं अर्थात् उनकी यह भावना रहती है कि हमारे कर्मोंकी विशुद्धि हो स्त्रीलिंग नष्ट होकर हमैं पुल्लिंगकी प्राप्ति हो जिससे पुरुष पर्यायमें हम तपका आराधनकर निराकुलतामय मोक्ष सुखका अनुभव करें ॥ ५० ॥

शांतस्तपःक्षमोऽकुत्सो वर्णष्वेकतमस्त्रिषु ।
कल्याणांगो नरो योग्यो लिंगस्य ग्रहणे मतः ॥ ५१ ॥

अर्थ–जो मनुष्य शांत होगा, तपकेलिये समर्थ, निर्दोष ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमें किसी एकवर्णका और सुन्दर शरीरके अवयवोंका धारक होगा वही निर्ग्रंथ लिंगके ग्रहण करनेमें योग्य है अन्य नहीं । भावार्थ--जो मनुष्य क्रोध आदि कषायोंके वशीभूत होगा, तप करनेकी सामर्थ्य न रखता होगा, निंदित वा ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंका

न होकर शूद्र होगा और सुंदर शरीरके अवयवोंका धारक न होकर अंधा लंगड़ा आदि होगा वह निर्ग्रंथ लिंग नहिं पाल सकता इसलिये वह निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र नहीं किंतु जो मनुष्य उत्तम क्षमाका धारक, तप करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला, निर्दोष, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंमें किसी एक वर्णका धारक, और सुंदर शरीरके अवयवोंसे युक्त होगा वही निर्ग्रंथ लिंगका पालन कर सकैगा इसलिये ऐसा उत्तम पुरुष ही निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र है ॥ ५१ ॥

कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादयः ।
नरस्य कुत्सिता व्यंगास्तदन्ये लिंगयोग्यता ॥ ५२ ॥

अर्थ–मनुष्यके निंदित कुल जाति वय शरीर कर्म बुद्धि और क्रोध आदिक व्यंग–हीनता हैं–निर्ग्रंथ लिंगके धारण करनेमें बाधक हैं और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करनेमें कारण हैं । भावार्थ–यदि मनुष्य नीचकुल और नीच जातिसे उत्पन्न होगा असमर्थ वृद्ध काना लंगड़ा आदि शरीरका धारक कुकर्मी अज्ञानी और क्रोधी मानी मायाचारी आदि होगा तो वह कभी निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेका पात्र नहिं हो सकता किंतु जो कुल और जातिसे उत्तम होगा, दीक्षाके योग्य वयका धारक और निर्दोष अवयवोंसे युक्त शरीरसे मंडित होगा, उत्तम कार्योंका आचरण करनेवाला ज्ञानवान और क्रोध आदिसे रहित होगा, वही निर्ग्रंथ लिंगके धारण करनेकेलिये योग्य है इसलिये निंदित कुल जाति आदि निर्ग्रंथलिंगके बाधक हैं और उत्तम कुल आदि उसके साधक हैं ॥ ५२ ॥

येन रत्नत्रयं साधोर्नाश्यते मुक्तिकारणं ।
स व्यंगो भण्यते नान्यस्तत्त्वतः सिद्धिसाधने ॥ ५३ ॥

अर्थ–जिसके द्वारा संयमीके मोक्षका कारण रत्नत्रय नष्ट हो वही मोक्षके साधन तप आदिमें वास्तविक रीतिसे व्यंग बाधक कारण है अन्य नहीं । भावार्थ–पहिले यह कह दिया गया है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्षके मार्ग हैं जब तक इनकी प्राप्ति नहिं होती तब तक कदापि मोक्ष नहिं मिल सकती इसलिये जिसके द्वारा इस मार्गका नाश होता हो वह मोक्षके साधन-तपमें व्यंग-बाधक कारण है । नीच कुल नीच जाति दीक्षाके योग्य शरीरका न

होना आदिके होते तपका आराधन नहिं हो सकता इसलिये ये व्यंग हैं-तपके आराधनमें बाधक कारण हैं और उत्तम कुल उत्तम जाति योग्य शरीरका होना आदिके होते तपका पूर्णरूपसे आचरण होता है इसलिये ये व्यंग-बाधक कारण नहीं।

यो व्यावहारिको व्यंगो मतो रत्नत्रयग्रहे ।
न सोऽपि जायते व्यंगः साधुः सल्लेखनाकृतौ ॥ ५४ ॥

अर्थ-रत्नत्रयके ग्रहण करते समय जो व्यावहारिक व्यंग बतलाया गया है सल्लेखनाके समय भी उस व्यंगको उत्तम नहिं कहा गया है। भावार्थ-मृत्युके समय काय और कषायोंको क्रमसे कृश करते २ धर्मध्यानमें सावधान रहकर प्राणोंके त्यागको सल्लेखना कहते हैं। इसको सन्याससमरण वा उत्तममरण भी कहा गया है। तो जो पहिले रत्नत्रयके ग्रहणमें व्यवहार व्यंग कहा गया है वह सल्लेखना करनेवालेकेलिये भी उत्तम नहीं अर्थात् उत्तमकुल उत्तम जातिसे उत्पन्न, योग्य अवस्था और निर्दोष अवयवोंसे युक्त शरीरका धारक, उत्तम कार्योंका करनेवाला, बुद्धिमान और क्रोध आदिसे रहित ही सल्लेखनाको धारण कर सकता है अन्य नीच कुलमें उत्पन्न आदि नही ॥ ५४ ॥

यस्यैहलौकिकी नास्ति नापेक्षा पारलौकिकी ।
युक्ताहारविहारोऽसौ श्रमणः सममानसः ॥ ५५ ॥

अर्थ-जिस मुनिके चित्तमें न तो इस लोककी इच्छा है और न परलोककी इच्छा है तथा जिसका आहार विहार युक्त है शास्त्रानुकूल है वह समचित्तका धारक मुनि श्रमण समझा जाता है। भावार्थ-जो मुनि तपसे इस बातकी लालसा रखता है कि मुझै इसलोकमें उत्तम स्त्री आदि पदार्थ और चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त हों और परलोकमें भी उत्तम विभूति आदिकी प्राप्ति हो तथा जिसका आहार विहार अयुक्त होता है वह मुनि चंचल चित्तका धारक कुत्सित समझा जाता है और जो इसलोक और परलोककी इच्छासे रहित होकर तप आराधन करता है और जिसका आहार विहार शास्त्रानुसार है वह समचित्तका धारक मुनि श्रमण होता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे तप करते समय इसलोक परलोक संबंधी इच्छाका सर्वथा निरोध रक्खें और आहार विहार शास्त्रानुसार करैं ॥ ५५ ॥

कषायविकथानिद्राप्रमाक्षार्थपराङ्मुखाः । जीविते मरणे तुल्याः शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे ॥ ५६ ॥

आत्मनोऽन्वेषणा येषां भिक्षा येषामनेषणा। संयताः संत्यनाहारास्ते सर्वत्र समाशयाः ॥५७॥

अर्थ–जो योगी कषाय विकथा निद्रा राग और पांचो इद्रियोंके विषयोंसे पराङ्मुख हैं जीवन मरण शत्रु मित्र और सुख दुःखमें जिनके भाव समान हैं जो आत्माकी ही खोज करते रहते हैं भिक्षामें इच्छारहित हैं और अनाहार हैं वे समचित्तके धारक सच्चे संयमी हैं। भावार्थ–क्रोध मान माया लोभ चार कषाय, स्त्रीकथा राष्ट्रकथा राजकथा और भोजनकथा चार विकथायें, निद्रा, राग और स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच इद्रियोंके पांच विषय, सब मिलकर पंद्रह प्रमाद हैं। जो योगी इन पंद्रह प्रकारके प्रमादोंसे रहित हैं, जीवन मरण शत्रु मित्र और सुख दुःखमें समान हैं अर्थात् जीवन मरण आदिके उपस्थित हो जानेपर सुखी दुखी नहिं होते। जिनकी इच्छा सदा आत्माके स्वरूपके जाननेकी रहती है, जो हृदयसे भिक्षाको नहिं चाहते और निराहार रहते हैं वे समचित्तके धारक योगी संयमी कहेजाते हैं ५६-५७

य: स्वशक्तिमनाच्छाद्य सदा तपसि वर्तते।
साधुः केवलदेहोऽसौ निष्प्रतीकारविग्रहः ॥ ५८ ॥

अर्थ–जो मुनि केवल शरीररूप परिग्रहका धारक है अपनी शक्तिको छिपा न कर तपका आचरण करता है और अपने शरीरपर उपसर्ग आनेसे किसीप्रकारका प्रतीकार नहीं करता वह सच्चा साधु है। भावार्थ–जो मनुष्य मुनिमुद्रा धारणकर वनवासी होगया है, जिसके सिवाय शरीरके दूसरा कोई परिग्रह नहिं है, जो अपनी शक्तिको न छिपाकर घोर तपका आराधन करता है और जो अन्य पदार्थोंमें ममताकी तो क्या बात ! शरीरमें भी किसीप्रकारकी ममता नहीं रखता-शरीरके विनाशके कारण उपस्थित होजाने पर भी कुछ प्रतीकार नहीं करता वह सच्चा साधु है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे तप करते समय शरीरमें किसीप्रकारका ममत्व न करें और जितनी शक्ति हो उसके अनुसार अवश्य तपका आराधन करै ॥ ५८ ॥

एकासनोदराभुक्तिर्मांसमध्वादिवर्जिता।
यथालब्धेन भैक्षेण नीरसा परवेश्मनि ॥ ५९ ॥

अर्थ–तथा पराये घर आहारके मिल जानेपर मुनिगण मांस मधु आदिके संबंधसे रहित और नीरस एक आसनसे

अवमोदर्य–अल्प भोजन करते हैं। भावार्थ–लौकिक ख्याति लाभकी इच्छा न कर संयमकी सिद्धिकेलिये, राग भावोंका नाश और कर्मोंके विनाशकेलिये ध्यान और स्वाध्यायकी सिद्धि एवं इद्रिय और कामके जीतनेकेलिये मुनिगण जो अल्प अहार करते हैं उसका नाम अवमोदर्य है इसलिये जिससमय मुनिगण भोजनकी वेलामें गृहस्थोंके घर आते हैं उससमय वे स्वादिष्ट वा अस्वादिष्ट जैसा आहार उन्हें मिलजाता है उसमेंसे यह भलेप्रकार जानकर कि यह आहार मांस मधु आदि अपवित्र पदार्थोंके संबंधसे रहित शुद्ध और नीरस है एक आमनसे अवमोदर्य–थोड़ा आहार करलेते हैं ।५९।

पक्केऽपक्के सदा मांसे पच्यमाने च संभवः। तज्जातीनां निगोदानां कथ्यते जिनपुंगवैः ॥ ६० ॥
मांसं पक्कमपक्क वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते। अनेकाः कोटयस्तेन हन्यंते किल जन्मिनां ॥ ६१ ॥

अर्थ–भगवान जिनेंद्रका उपदेश है कि मांस पका हुवा कच्चा वा पकता हुआ कैसा भी क्यों न हो उसमें बहुतसे उस जातिके निगोदिया जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है इसलिये जो मनुष्य पके वा कच्चे वा अधपके कैसे भी मासका स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ो जीवोंका प्राणघात करते हैं। भावार्थ–मांसका स्पर्श करना वा खाना हिंसा-अनर्थका मूल कारण है क्योंकि एक तो जो मनुष्य मांसके लोलुपी हैं उनकेलिये पहिले ही जीवोंका विध्वंस होता है इसलिये उन्हें हिंसाका दोप पहिलेसे ही लग जाता है। दूसरे चाहें मांस पका हो चाहें कच्चा हो और चाहें पकरहा हो उसमें अनंते निगोदिया जीवोंकी प्रति समय उत्पत्ति होती रहती है इसलिये इस बातका निश्चय है कि जो मनुष्य पक्के वा कच्चे मांसका स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ों जीवोंकी हिंसा करते हैं अतः जो पुरुष उत्तम हैं और हिंसाजन्य पापसे वचना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सर्वथा मांसका भक्षण करना छोड़दें और भक्षण करना तो दूर रहो उसका स्पर्श तक भी न करें ॥ ६०–६१ ॥

बहुजीवप्रघातोत्थं बहुजीवोद्भवास्पदं।
असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ–जो महानुभाव असंयमसे भय करनेवाले हैं और चाहते हैं कि हमारे संयममें किसीप्रकारकी बाधा न आवे उन्हें चाहिये कि वे मन वचन कायसे मधुका भी सर्वथा त्याग करदेवें क्योंकि मधु बहुतसे जीवोंके घातसे उत्पन्न होता

है और बहुतसे जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है। भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना संयम है जो मनुष्य मधु-शहदके भक्षण करनेवाले हैं वे कभी संयमका पालन नहिं करसकते क्योंकि मधुकी उत्पत्ति बहुतसे जीवोंके घातसे होती है अर्थात् जिस छत्तेके अंदर मधुमक्खियां मधुको इकट्ठा करती हैं उसमें बहुतसे उनके अंडे बच्चे रहते हैं और जो मनुष्य छत्ता तोड़कर मधु निकालते हैं उससमय छत्तेके निचोड़नेके कारण वे अगणित अंडे बच्चे नष्ट हो जाते हैं। तथा यह मधु अनेक जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान है-सदा अनंते जीवोंकी इसमें उत्पत्ति होती रहती है इसलिये जो मनुष्य यह चाहते हैं कि हमारे संयममें किसीप्रकारकी बाधा न आवे उन्हें चाहिये कि वे मन वचन कायसे सर्वथा मधुका त्याग करदें-मधुकी ओर झांककर भी न देखें ॥ ६२ ॥

कंदो मूलं फलं पत्रं नवनीतमगृध्नुभिः।
अन्वेषणीयमग्राह्यमन्नमन्यदपि त्रिधा ॥ ६३ ॥

अर्थ—अगृध्नु-भोजनकी लालसा रहित मुनियोंको चाहिये कि वे कंद मूल फल पत्र और नवनीत-मक्खनके भोजनका मन वचन कायसे सर्वथा त्याग करदें तथा अन्य भी अयोग्य अन्नके आहारको छोड़दें। भावार्थ—कंद मूल फल पत्र नवनीत आदि पदार्थ हिंसाके कारण हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि इनका सर्वथा आहार लेनेका त्याग करदें तथा जो अन्य भी मुनिके योग्य न हो उस अन्न आदिके आहारको गृहण न करें किंतु प्रासुक और शुद्ध आहार ही लें ॥ ६३ ॥

पिंडः पाणिगतोन्यस्मै दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं भुंक्ते चेच्छेदभाग्यतिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—आहार देते समय गृहस्थको चाहिये कि वह जिस मुनिको देनेके लिये हाथमें आहार ले उसै उसी मुनिको दे अन्य मुनिको देना योग्य नहीं यदि कदाचित् अन्यको दे भी दिया जाय तो मुनिको खाना न चाहिये क्योंकि यदि मुनि उसै खालेगा तो वह छेद प्रायश्चित्तका भागी गिना जायगा ॥ ६४ ॥

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधिनिपीडितः।

तथा चरतु चारित्रं मूलच्छेदो यथास्ति नो ॥ ६५ ॥

अर्थ–जो मुनि बालक वृद्ध ग्लान-रोगसे पीडित और तीव्रव्याधिसे पीडित हैं उन्हें भी उसरूपसे चारित्रका आचरण करना चाहिये जिससे उनके मूलगुणोंका छेद न हो। भावार्थ–जो मुनि बालक वृद्ध रोगसे पीडित-ग्लान और तीव्र व्याधिसे पीडित हैं यद्यपि वे घोर तपका आराधन नहिं कर सकते तथापि उन्हें इतना तप तो अवश्य करना चाहिये जिनसे उनके मूल गुणोंका छेद न हो जाय ॥ ६५ ॥

आहारमुपधिं शय्यां देशं कालं बलं श्रमं ।
वर्तते यदि विज्ञाय स्वल्पलेपो यतिस्तदा ॥ ६६ ॥

अर्थ–जो मुनि आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रमको भलेप्रकार जानकर चारित्रमें प्रवृत्ति करता है वह यति स्वल्पलेप रहता है अर्थात् उसे बहुत थोड़ा पाप लगता है। भावार्थ–पापोंके नाशकेलिये वा अधिक पापोंका आत्मामें आस्रव न हो इसलिये मुनि निर्ग्रंथ लिंगको धारण करते हैं तथा आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रमोंको जानकर चारित्रमें प्रवृत्ति करनेसे उन्हें थोड़ा पाप लगता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि आहार आदिको भलेप्रकार जानकर चारित्रका पालन करें ॥ ६६ ॥

संयमो हीयते येन येन लोको विराध्यते ।
ज्ञायते येन संक्लेशस्तन्न कृत्यं तपस्विभिः ॥ ६७ ॥

अर्थ–जिस क्रियाके करनेसे संयममें हानि पहुंचै लोकविरोध हो और अधिक कष्ट मालूम पड़े मुनियोंको ऐसी क्रिया कभी न करनी चाहिये। भावार्थ–मुनिको वही कार्य करना चाहिये जिससे उसके पवित्र संयममें किसीप्रकारकी हानि न आवे, कैसा भी लोक विरोध न हो और अधिक क्लेश भी न मालूम पडे किंतु जिस क्रियाके आचरण करनेसे संयममें हानि, लोकविरोध, अधिक क्लेश भोगना पडे, संक्लेश परिणाम हो जांय उस क्रियाका कदापि आचरण न करना चाहिये ॥ ६७ ॥

एकाग्रमनसः साधोः पदार्थेषु विनिश्चयः ।

यस्मादागमतस्तस्मात्तस्मिन्नाद्रियतां तरां ॥ ६८ ॥

अर्थ–एकाग्रचित्तके धारक मुनिको आगम–शास्त्रके द्वारा पदार्थोंका विशेष और वास्तविक निश्चय होता है इसलिये उसै चाहिये कि वह शास्त्रका अत्यंत आदर करै। भावार्थ–पदार्थोंके विशेष और वास्तविक ज्ञानका नाम सम्यग्ज्ञान है । जब तक मुनिको यह दिव्यज्ञान प्राप्त नहिं होता तबतक उसै पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोंके द्वारा होता है इसलिये मुनिको चाहिये कि वह एकाग्र चित्तका धारक हो शास्त्रका विशेष आदर करै–अच्छीतरह उसका मनन और परिशीलन करै ॥ ६८ ॥

परलोकविधौ शास्त्रं प्रमाणं प्रायशः परं ।
यतोऽत्रासन्नभव्यानामादरः परमस्ततः ॥ ६९ ॥

अर्थ–परलोक कोई पदार्थ है इसमें निर्दोष वा पुष्ट प्रमाण प्रायः शास्त्र ही है इसलिये जो पुरुष आसन्नभव्य हैं बहुत शीघ्र जिन्हैं मोक्ष मिलनेवाली है उनका शास्त्रोंमें अत्यंत आदर होता है। भावार्थ–परलोक पदार्थ अतींद्रिय है–इंद्रियां उसै विषय नहिं कर सकतीं इसलिये वह हमसरीखे मनुष्योंके प्रत्यक्ष गोचर हो नहिं सकता । तथापि अनुमान प्रमाणसे परलोककी सिद्धि की जाती है परंतु स्पष्टरूपसे नहीं अर्थात् अनुमानसे कोई परलोक पदार्थ है इसबातको सिद्ध भी कर लें परंतु वह कैसा और किंस्वरूप है ? यह उसका विशेष स्वरूप नहिं जाना जा सकता किंतु आगम प्रमाणसे उसकी विद्यमानता और विशेष स्वरूप स्पष्टरूपसे जानलिये जाते हैं इसलिये जो पुरुष जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और परलोक मोक्ष आदिके स्वरूपको जाननेकी गहरी लालसा रखते हैं वे पूर्णरूपसे शास्त्रोंका आदर करैं ॥ ६९ ॥

उपदेशं विनाप्यंगी पटीयानर्थकामयोः । धर्मे तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥ ७० ॥
अर्थकामाविधानेन तदभावः परं नृणां । धर्माविधानतोऽनर्थस्तदभावश्च जायते ॥ ७१ ॥
तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्छास्त्रयत्नो विधीयते । मोहांधकारिते लोके शास्त्रं लोकप्रकाशकं ॥७२॥
मायामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं द्रव्यनिबंधनं । चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधकं ॥ ७३ ॥

न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति तस्य धर्मक्रियाखिला। अंधलोकक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥ ७४ ॥

अर्थ—उपदेशके विना भी इस जीवकी अर्थ और काममें स्वयं प्रवृत्ति हो जाती है परंतु धर्ममें प्रवृत्ति शास्त्रसे ही होती है इसलिये शास्त्रमें आदर रखना महान हितकारी है। तथा अर्थ और काममें प्रवृत्ति न करनेसे मनुष्योंके उनका ही अभाव होता है परंतु धर्मके न आचरण करनेसे नानाप्रकारके अनर्थ और धर्मका अभाव दोनों होते हैं इसलिये जो पुरुष धर्मार्थी हैं धर्मके आचरण करनेकी अभिलाषा रखते हैं उन्हें सदा शास्त्रमें यत्न करना चाहिये क्योंकि यह शास्त्र मोहरूपी अंधकारसे आच्छन्न इसलोकमें समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, मायारूपी भयंकर व्याधिकेलिये उत्तम औषध है, अर्थका कारण है, समस्त पदार्थोंका दिखानेवाला नेत्र है, और समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। जिस मनुष्यकी ऐसे कल्याणकारी शास्त्रमें भक्ति नहीं उस मनुष्यकी तीव्रकर्मके दोषसे समस्त धर्मक्रियायें अंधे मनुष्यकी क्रियाओंके समान निकृष्ट फलको प्रदान करनेवाली हैं। भावार्थ—यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है कि जब मनुष्य कुछ बड़ा हो समझने लगता है तब उसकी धन कमाने और विषय सेवनमें अपने आप प्रवृत्ति होजाती है इसलिये अर्थ और काममें मनुष्योंकी प्रवृत्तिकेलिये किसीके उपदेशकी आवश्यकता नहिं होती परंतु धर्ममें किसीकी स्वयं प्रवृत्ति नहिं होती, उसमें प्रवृत्ति तो शास्त्रके उपदेशसे ही होती है इसलिये शास्त्रमें प्रेमका करना परम हितकारी है तथा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अर्थ और कामके न सेवनसे तो केवल अर्थ-कामका ही अभाव होगा परंतु यदि धर्मका आचरण न किया जायगा तो धर्मका अभाव होगा सो तो होगा ही नानाप्रकारके अनर्थोंका भी सामना करना पड़ेगा इसलिये जो पुरुष धर्मके इच्छुक हैं उन्हें चाहिये कि वे अच्छीतरह शास्त्रोंका मनन परिशीलन और अभ्यास करें क्योंकि मोहांधकारसे व्याप्त इसलोकमें यह शास्त्र समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, मायारूपी व्याधिकेलिये प्रबल औषध है, धनका कारण है, अतींद्रिय भी पदार्थोंको दिखानेवाला नेत्र है और समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। यदि किसी मनुष्यकी ऐसे कल्याणकारी शास्त्रमें भी भक्ति नहीं तो समझना चाहिये उस मनुष्यकी क्रियायें अंधे मनुष्यकी क्रियाओंके समान निष्फल हैं धर्मके अभावमें तीव्र अशुभ कर्मके बंधको करनेवाली होनेसे निकृष्टफलके देनेवाली हैं ॥ ७०-७४ ॥

यथोदकेन वस्त्रस्य मलिनस्य विशोधनं।

रागादिदोषदुष्टस्य शास्त्रेण मनसस्तथा ॥ ७५ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मलिन भी वस्त्र जलसे शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार राग आदि दोषोंसे दुष्ट भी मन शास्त्रसे शुद्ध हो जाता है। भावार्थ—वस्त्र कैसा भी मलिन क्यों न हो यदि वह जलसे धोया जायगा तो अवश्य शुद्ध हो जायगा उसीप्रकार मन भी राग द्वेष आदि दोषोंसे कितना भी दुष्ट क्यों न हो यदि शास्त्रका विचार अभ्यास किया जायगा तो वह अवश्य शुद्ध होजायगा इसलिये जो पुरुष अपने मनको शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इसबातको भलेप्रकार जानकर कि, जिसप्रकार मलिन वस्त्रके शुद्ध करनेमें प्रधान कारण जल है उसीप्रकार राग द्वेष आदि दोषोंसे दूषित मनके शुद्ध करनेमें प्रधान कारण शास्त्र है' अवश्य पूर्णरूपसे शास्त्रका अभ्यास मनन परिशीलन करें ॥ ७५ ॥

आगमे शाश्वती बद्धिर्मुक्तिस्त्रीशंफली यतः ।
ततः सा यत्नतः कार्या भव्येन भवभीरुणा ॥ ७६ ॥

अर्थ—सदा शास्त्रमें भलेप्रकार लगीहुई बुद्धि मोक्षरूपी स्त्रीकी दूती है इसलिये जो संसारके भयसे भीत भव्य मनुष्य हैं उन्हें चाहिये कि वे बड़े यत्नसे बुद्धिको शास्त्रमें स्थिर रक्खें। भावार्थ—जिसप्रकार दूती अपनी स्वामिनी स्त्रीसे मनुष्यको जल्दी मिला देती है उसीप्रकार सर्वदा शास्त्रमें लगी हुई बुद्धि भी मोक्षको प्राप्त करादेती है इसलिये जो मनुष्य संसारके दुखोंसे भीत हैं उन्हें चाहिये कि वे बड़े यत्नसे शास्त्रमें बुद्धिको स्थिर रक्खें जिससे उन्हें जल्दी मोक्षरमणीका समागम प्राप्त हो जाय ॥ ७६ ॥

कांतारे पतितो दुर्गे गर्ताद्यपरिहारतः । यथांधो नाश्नुते मार्गमिष्टस्थानप्रवेशकं ॥ ७७ ॥
पतितो भवकांतारे कुमार्गापरिहारतः । तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो मार्गं मुक्तिप्रवेशकं ॥ ७८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दुर्गम वनके अंदर पडेहुये अंधे मनुष्यको खड्डा आदिसे रहित और अभीष्ट स्थान पर पहुंचानेवाला मार्ग नहिं मिलता उसीप्रकार शास्त्रोंको न जानकर जो मनुष्य संसाररूपी वनमें भटकता फिरता है उसे भी कुमार्गसे रहित और मोक्षस्थानमें पहुचानेवाला उत्तम मार्ग नहिं मिलता। भावार्थ—ऊपर कहदिया गया है कि शास्त्र नेत्र है जो पुरुष शास्त्रका ज्ञाता नहीं वह सूझता होकर भी अंधा है क्योंकि जिसप्रकार दैवयोगसे वनमें पहुंचा हुआ

अंधा पुरुष नगरमें अपने इष्ट स्थानपर आना चाहता है परंतु मार्गके न मिलनेसे वह इधर उधर वनके खड्डोंमें गिरता हुआ भटकता फिरता है-नगरमें नहिं आसकता उसीप्रकार जो पुरुष शास्त्रका ज्ञाता नहीं वह कुमार्गोंपर चलनेके कारण संसारमें घूमता रहता है उत्तम मार्ग-मोक्षमार्गपर नहिं आसकता इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे अवश्य शास्त्रोंका अभ्यास मनन और परिशीलन करें क्योंकि जिसप्रकार नेत्रवाला मनुष्य उत्तम मार्गको देखकर अपने अभीष्ट स्थानपर सुखपूर्वक आजाता है उसीप्रकार शास्त्रोंका ज्ञाता मनुष्य भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्ष मार्गपर गमनकर मोक्षस्थान प्राप्त करलेता है ॥ ७७–७८ ॥

यतः समेप्यनुष्ठाने फलभेदोभिसंधितः । स ततः परमस्तत्र ज्ञेयो नीरं कृषाविव ॥ ७९ ॥
वहुधा भिद्यते सोऽपि रागद्वेषादिभेदतः । नानाफलोपभोक्तॄणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः ॥८०॥

भावार्थ–जोतना बोना आदि समानरूपसे कार्योंके करनेपर भी जिस खेतमें योग्य जल दिया जाता है उसीमें धान्यकी उपज अच्छी होती है अन्यमें नहिं होती इसलिये जिसप्रकार खेतीमें जल मुख्य है उसीप्रकार अन्य समस्त कार्योंके समानरूपसे करनेपर भी जैसा अभिप्राय होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है इसलिये अभिप्राय ही मुख्य है और वह अभिप्राय रागरूप द्वेषरूप आदिके भेदसे वा नानाप्रकारके फलोंको भोगनेवाले मनुष्योंकी बुद्धि आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है ॥ ७९–८० ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः ।
सर्वकर्माणि भिद्यंते तद्भेदाच्च शरीरिणां ॥ ८१ ॥

अर्थ–पहले श्लोकमें जो बुद्धि आदिके भेदसे अभिप्राय अनेक प्रकारका बतलाया है वहां आदि शब्दसें ज्ञान और असंमोह लिये गये हैं अर्थात् बुद्धि ज्ञान और असंमोह ये तीन भेद अभिप्रायके हैं और इनमें परस्पर भेद होनेसे मनुष्योंके समस्त कार्योंके फलमें भी भेद हो जाता है ॥ ८१ ॥

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र ज्ञानमागमपूर्वकं ।

तदेव सदनुष्ठानमसंमोहं विदो विदुः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो इंद्रियोंके अवलंबनसे हो वह बुद्धि, आगमकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, और श्रेष्ठ अनुष्ठान
सहित वह ज्ञान ही असंमोह है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें बुद्धि ज्ञान और असंमोहका नाम कहा है उनमें इंद्रियोंकी
प्रवृत्तिके अनुसार चलनेका अभिप्राय होना बुद्धि, आगमकी आज्ञापूर्वक चलनेका अभिप्राय होना ज्ञान और श्रेष्ठ
अनुष्ठानपूर्वक ज्ञान ही असंमोह है ॥ ८२ ॥

चारित्रदर्शनज्ञानतत्स्वीकारो यथाक्रमं।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं बुद्ध्यादीनां प्रसिद्धये ॥ ८३ ॥ (?)

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि समस्तानि तनूमतां।
संसारफलदायीनि विपाकविरसत्वतः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जीवोंके बुद्धिपूर्वक जितने कार्य हैं वे समस्त संसाररूप फलके देनेवाले हैं क्योंकि वे परिणाममें विरस हैं।
भावार्थ—पहिले कहा जा चुका है कि इंद्रियविषयोंके अनुसार प्रवृत्ति होनेके भावको बुद्धि कहते हैं। तो जो कार्य
इंद्रियोंकी इच्छाके अनुरूप किया जाता है उससे अवश्यही विनाशीक और अंतमें दुखदायी फलकी प्राप्ति होती है
दुःखदायी फलकी प्राप्तिसे परिणाम संक्लेशमय रागद्वेषरूप होते हैं राग द्वेषके होनेसे कर्मबंध और कर्मबंधसे संसारमें
घूमना पड़ता है ॥ ८३-८४ ॥

तान्येव ज्ञानपूर्वाणि जायंते मुक्तिहेतवे।
अनुबंधः फलत्वेन श्रुतशक्तिनिवेशितः ॥ ८५ ॥

अर्थ—तथा यदि वे ही कार्य ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो मोक्षके कारण होते हैं क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार किया
गया है। भावार्थ—आगमकी आज्ञानुसार इंद्रियोंकी प्रवृत्ति करनेके—तप तपनेके भावको ज्ञान कहते हैं। तो जो ज्ञान-
पूर्वक कार्य किये जाते हैं वे मुक्तिदायक होते हैं। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानपूर्वक कार्योंके करनेसे

तो मुक्ति मिलती नहीं मुक्ति तो शुद्धात्मध्यानसे होती है क्योंकि यहां कारणमें कार्यका उपचार किया गया है अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार प्रवर्त्तनेसे कषायोंका नाश, कषायोंके नाशसे स्वाध्यायकी सिद्धि, स्वाध्यायकी सिद्धिसे आत्मध्यानकी प्राप्ति और आत्मध्यानसे मुक्ति मिलती है इसलिये ज्ञानपूर्वक कार्योंके करनेसे मुक्तिमें साक्षात् हेतु जो आत्मध्यानरूप कार्य, वह सिद्ध होता है अतः उसके कारणरूप ज्ञानपूर्वक कार्योंको भी मुक्तिका हेतु कह दिया है ॥ ८५ ॥

संत्यसंमोहहेतूनि कर्माण्यत्यंतशुद्धितः ।
निर्वाणशर्मदायीनि भवातीताध्वगामिनां ॥ ८६ ॥

अर्थ–तथा जो कार्य असंमोहपूर्वक होते हैं वे अत्यत शुद्ध होनेके कारण मोक्षमार्गपर गमनकरनेवाले जीवोंको मोक्ष-सुखके प्रदान करनेवाले होते हैं। भावार्थ–जिन कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण असंमोह होता है वे कर्म अत्यंत शुद्ध होते हैं और मोक्षमार्गपर गमनकरनेवाले मनुष्योंको वे निर्वाण कल्याणकी प्राप्ति कराते हैं ॥ ८६ ॥

भावेषु कर्मजातेषु मनो येषां निरुद्यमं ।
भवभोगविरक्तास्ते भवातीताध्वगामिनः ॥ ८७ ॥

अर्थ–जिन महानुभावोंका चित्त कर्मजनित भावोंमें निरुत्सुक है-जो कर्मजनित भावोंमें लालसा नहिं रखते और संसार-के भोगोंसे विरक्त हैं वे मोक्षमार्गपर गमन करनेवाले कहे जाते हैं। भावार्थ–स्त्री धन धान्य आदि समस्त पदार्थ कर्म-जनित हैं जैसे जीवके कर्म होते हैं उनके अनुसार उसे पुत्र आदि पदार्थोंकी प्राप्ति होती है । जो महानुभाव स्त्री पुत्र आदि पदार्थोंको विनाशीक और अहितकारी मान उनकेलिये लालायित नहिं होते और सर्वदा संसारके भोगोंसे विरक्त रहते हैं वे पुरुष भवातीताध्वगामी–मोक्षमार्गपर गमन करनेवाले गिने जाते हैं इसलिये उत्तम पुरुषको चाहिये कि वे पुत्र स्त्री आदि किसी भी सांसारिक पदार्थको न अपनावें ॥ ८७ ॥

एक एव सदा तेषां पंथाः सम्यक्परायिणां ।
व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदोऽपि जायते ॥ ८८ ॥

अर्थ–जिसप्रकार व्यक्तियोंमें सामान्य–समानताद्योतक धर्म एक होता है तो भी उसकी अवस्थामें विशेषत्वकी

अपेक्षा भेद होजाता है उसीप्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं उनका सामान्यरूपसे तो मार्ग-मोक्षका मार्ग एक ही है तो भी कथंचित् विशेपत्वकी अपेक्षा उसकी दशामें भेद हो जाता है इसलिये भिन्न भी है। भावार्थ–जिसप्रकार समस्त मनुष्य आदि मनुष्यत्व आदिकी अपेक्षा एक हैं तो भी क्षत्रियत्व, ब्राह्मणत्व आदि वा कृष्णत्व गौरत्व आदिकी अपेक्षा उनकी अवस्थामें भेद होनेसे भिन्न हैं उसीप्रकार समस्त मोक्षगामियोंका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्ष-मार्ग तो एक ही है परंतु क्षायोपशमिक आदिके भेदसे कथंचित् भिन्न भी है अर्थात् कोई सम्यग्दृष्टि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन आदि रूप मोक्षमार्गपर गमन कर रहा है कोई औपशमिक रूपपर और कोई क्षायिकरूपपर । इसलिये तो तीनों भिन्न २ मार्गानुगामी हैं परंतु वे सब ही सम्यग्दर्शन आदि रूप मार्गपर गमन कर रहे हैं इसलिये एक मार्गानुगामी भी हैं

निर्वाणसंज्ञितं तत्त्वं संसारातीतलक्षणं ।
एकमेवावबोद्धव्यं शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ ८९ ॥

अर्थ–मोक्ष निर्वाण आदि शब्दोंके भेद होनेपर भी वास्तविकरूपसे निर्वाण नामका तत्त्व एक ही है और उस-का स्वरूप संसारसे रहितपना है। भावार्थ–मोक्षके सिद्धि निर्वाण अव्याबाधस्थान निर्वृति आदि अनेक नाम हैं तथा एक मनुष्य यदि उसके स्वरूपका सिद्धिके नामसे वर्णन करता है तो दूसरा मनुष्य उसके स्वरूपका मोक्षके नामसे और ती-सरा निर्वाणके नामसे वर्णन करता है परतु यदि निश्चयनयसे देखा जाय तो ये सब एक ही पदार्थके पर्याय हैं क्योंकि नि-र्वाण निर्वृति आदि अनेक नामोंके कहनेपर भी उसके मूलतत्त्व-मोक्षके स्वरूपमें कुछ भेद नहीं है इसलिये निश्चयनयसे तो उसका नाम एक ही है और व्यवहारसे उसके बहुतसे नाम हैं तथा उस मोक्षका शुद्ध स्वरूप संसारसे रहितपना है अर्थात् जिससमय यह जीवात्मा संसारके दुःखोंसे रहित होकर निराकुलतामय अचिंत्य सुखका अनुभव करता है उससमय मोक्षस्वरूप कहा जाता है ॥ ८९ ॥

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः परंब्रह्माऽभवः शिवः ।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि भेदस्तस्य न विद्यते ॥ ९० ॥

अर्थ–विमुक्त निर्वृत सिद्ध परंब्रह्म अभव और शिव ये सब शब्द अन्वर्थ-समान अर्थके वाचक हैं इसलिये शब्दोंके

भेद होनेपर भी परमात्मामें भेद नहीं- ये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं। भावार्थ—जिसने समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष प्राप्त करली हो वह विमुक्त है, निर्वृतिको प्राप्त करनेवाला निर्वृत, सिद्धिको प्राप्त करनेवाला सिद्ध, विशुद्ध आत्माका धारक परंब्रह्म, जन्म मरणसे रहित अभव और कल्याणस्वरूप शिव कहा जाता है। यद्यपि यहांपर परमात्माके नामोंमें भेद है परंतु मूल एक ही है अर्थात् जो परमात्मा विमुक्त है वही निर्वृत सिद्ध परंब्रह्म अभव और शिव है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे नामोंके भेदसे परमात्मामें भेद न मानें और समस्त कर्मोंसे रहित एवं ज्ञान आदि गुणोंके भंडार उस परमात्माका विमुक्त आदि किसी भी नामसे आराधन करें ॥ ९० ॥

तल्लक्षणाविसंवादा निराबाधमकल्मषं ।
कार्यकारणतातीतं जन्ममृत्युवियोगतः ॥ ९१ ॥

अर्थ—जो महानुभाव मोक्षके लक्षणमें विसंवादरहित हैं-मोक्षका जो लक्षण है वह जिन्हें यथार्थ मालूम है वे उसै निराबाध-बाधारहित निराकुलतामय सुखका भंडार, अकल्मष-ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंसे रहित और जन्म मरणसे रहित होनेकेकारण कार्यकारणपनेसे रहित कहते हैं। भावार्थ—मोक्षस्थान समस्तप्रकारकी बाधाओंसे रहित निराकुलतामय है, समस्त कर्म और उनके भेद प्रभेदोंसे रहित है, और जन्म मरणसे रहित होनेके कारण कार्यरूप और कारणरूप भी नहीं है ऐसा, जिन पुरुषोंको निर्दोष मोक्षका लक्षण मालूम है, वे उसे कहते हैं ॥ ९१ ॥

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः । मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ विवाद उपपद्यते ॥ ९२ ॥
सर्वज्ञेन यतो दृष्टो मार्गो मुक्तिप्रवेशकः । प्रांजलोयं ततो भेदः कदाचिन्नात्र विद्यते ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मुमुक्षु हैं-मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं वे जिससमय निर्भ्रांत हो वास्तविक रूपसे मोक्षका पूर्वोक्त स्वरूप जानलेते हैं उससमय उन्हें मोक्षकी युक्तियोंके विषयमें किसीप्रकारका विवाद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह मोक्षका मार्ग भगवान सर्वज्ञने देखा है इसलिये निर्दोष है और कभी उसमें भेद नहिं हो सकता। भावार्थ—जबतक मोक्षका वास्तविक स्वरूप नहिं जाना जाता तबतक उसके ज्ञानमें अनेकप्रकारके वाद विवाद उपस्थित हो जाते हैं किंतु जिससमय निर्भ्रांत हो मोक्षके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होजाता है उससमय उसके विषयमें जरा भी कोई विवाद नहिं उपस्थित होता क्योंकि भगवान सर्वज्ञके बतलाये हुये मार्गमें रंचमात्र भी फर्क नहि आसकता ॥ ९२–९३ ॥

विचित्रा देशना तत्र भव्यचित्तानुरोधतः ।
कुर्वंति सूरयो वैद्या यथा व्याध्यनुरोधतः ॥ ९४ ॥

अर्थ—तथा जिसप्रकार वैद्य व्याधिके अनुकूल औषध करते हैं उसीप्रकार आचार्य भी भव्योंके चित्तके अनुसार नानाप्रकारके ग्रंथोंका निर्माणकर उपदेश करते हैं। भावार्थ—जिससमय वैद्य रोगीके रोगको देखता है उससमय उसी रोगके अनुकूल औषध प्रदानकर उसै आराम कर देता है उसीप्रकार आचार्य भी भव्योंकी जैसी रुचि देखते हैं उसीके अनुसार ग्रंथोंका निर्माणकर भव्योंके चित्तको निर्दोष वना देते हैं-भव्योंको उपदेश देनेमें वे किसीप्रकारकी वंचना नहिं करते इसलिये विद्वानोंको इसबातका गाढ़ विश्वास रखना चाहिये कि आचार्योंद्वारा वनाये गये ग्रंथोंमें जो कुछ मोक्ष आदिके स्वरूप आदि वर्णन कियेगये हैं वे सब यथार्थ है भिन्न २ नयोंकी अपेक्षासे हैं उनमें रत्तीभर भी फर्क नहीं क्योंकि आचार्यगण भगवान सर्वज्ञ वीतरागके मार्गके अनुगामी होते हैं और राग द्वेषकी कालिमासे रहित होनेकेकारण उनका वंचक उपदेश नहिं होता ॥ ९४ ॥

कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः ।
विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थत ः ॥ ९५ ॥

अर्थ—व्यवहारसे तो मोक्षका कारण उपर्युक्त-अर्थात् व्यवहार चारित्र है और निश्चयनयसे विविक्तचेतनध्यान-निश्चयचारित्र मोक्षका कारण है। भावार्थ—तप व्रत आदिका आचरण करना व्यवहारचारित्र है और जिसमें केवल आत्माके शुद्ध स्वरूपका ध्यान हो उसै निश्चयचारित्र कहते हैं। व्यवहारनयसे व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण है और निश्चयनयसे निश्चयचारित्रको मोक्षका कारण कहा है ॥ ९५ ॥

यो व्यावहारिकः पंथा स भेदद्वयसंगतः । अनुकूलो भवेदेको निर्वृतेः संसृतेः परः ॥ ९६ ॥
निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं जिनभाषितं । संसृतेरनुकूलोऽध्वा चारित्रं परभाषितं ॥ ९७ ॥

अर्थ—जो व्यवहार मार्ग बताया है उसके दो भेद हैं और उनमें एक भेद (एक मार्ग) मोक्षके अनुकूल है और दूसरा

संसारके अनुकूल है। जिस चारित्रका भगवान जिनेंद्रने प्रतिपादन किया है वह तो मोक्षका अनुकूल मार्ग है और जिस चारित्रका प्रतिपादन दूसरोंने किया है वह संसारके अनुकूल मार्ग है । भावार्थ--तप व्रत आदिका आचरण करना जो व्यवहार चारित्र बतलाया है वह दो प्रकारका है--एक तो जिनभाषित और दूसरा परभाषित । उसमें जिनभाषित चारित्रके आचरणसे ही मोक्ष मिलती है क्योंकि वह सर्वज्ञके द्वारा देखा जानेकेकारण सत्य है और जो परभाषित चारित्र है उससे संसारमें ही घूमना पड़ता है क्योंकि वह रागी द्वेषियोंद्वारा प्रतिपादित होनेसे मिथ्या है । इसलिये जिनभाषित चारित्रका आचरण ही श्रेयस्कर है ॥ ९६--९७ ॥

चारित्रं चरतः साधोः कषायेंद्रियनिर्जयः ।
स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं ततो निर्वाणसंगमः ॥ ९८ ॥

अर्थ--जो साधु, भगवान जिनेंद्रद्वारा प्रतिपादित चारित्रका आचरण करता है उसके कषाय और इंद्रियोंका विजय होता है । कषाय और इंद्रियोंके विजयसे स्वाध्यायमें चित्त लगता है । स्वाध्यायमें चित्त लगनेसे ध्यानमें प्रवृत्ति होती है और ध्यानके करनेसे निर्वाणका समागम मिलता है-मोक्षकी प्राप्ति होती है । भावार्थ--कषाय और इंद्रियोंका वश न करना दु:खकी जड़ है जबतक कषाय और इंद्रियोंका दमन नहिं किया जाता तबतक संसारमें घूमना पडता है और नानाप्रकारके क्लेश भोगने पड़ते हैं किंतु जो साधुगण वीतराग भगवानद्वारा प्रतिपादित निर्दोष चारित्रका आराधन करते हैं वे क्रोध आदि कषाय और इंद्रियोंको जीत लेते हैं । कषाय और इंद्रियोंके वश हो जानेपर उनका चित्त स्वाध्यायकी ओर ऋजु होता है। स्वाध्यायसे वास्तविक आत्मस्वरूपका ज्ञान और उसके होजानेसे ध्यानमें प्रवृत्ति होती है तथा ध्यानमें प्रवृत्ति होनेसे समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है--उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य निर्दोष चारित्रका आराधन करें ॥ ९८ ॥

इदं चरित्रं विधिना विधीयते ततः शुभध्यानविरोधिरोधकं ।
विविक्तमात्मानमनंतमीशते न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः ॥ ९९ ॥

अर्थ--सम्यक्चारित्र शुभध्यानके विरोधी जो कार्य हैं उनका रोकनेवाला है और इसके विना आराधन किये साधु-

गण समस्तकर्मोंसे रहित शुद्ध आत्माका ध्यान नहिं कर सकते इसलिये सम्यक्चारित्रका अवश्य विधिपूर्वक आचरण किया जाता है। भावार्थ–जबतक शुद्धध्यानकी प्रगटता आत्माके अंदर नहिं होती तबतक कर्मोंसे रहित विशुद्ध आत्माका ध्यान नहिं होता, शुद्धध्यानकी प्रगटता उसीसमय हो सकती है जब कि उसके विरोधी कारणोंका निरोध हो जाता है और उसके विरोधी कारणोंका निरोध सम्यक्चारित्रसे होता है इसलिये विशुद्ध आत्माके ध्यानके प्रेमियोंको चाहिये कि वे अवश्य सम्यक्चारित्रका आराधन करैं ॥ ९९ ॥

रागद्वेषप्रपंचभ्रममदमदनक्रोधलोभव्यपेतो
यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुरधीर्लोकयात्रानपेक्षः ।
स ध्यात्वात्मस्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं
त्यक्त्वा कर्मारिचक्रं परमसुखमयं सिद्धिसद्म प्रयाति ॥ १०० ॥

अर्थ--राग द्वेष प्रपंच (छल छिद्र कपट) भ्रम (मिथ्याज्ञान अहंकार) काम क्रोध और लोभ आदिसे रहित, संसारके परिभ्रमणकी इच्छासे विमुख जो बुद्धिमान पुरुष पवित्र चारित्रका आचरण करता है वह समस्तप्रकारके पापोंसे रहित, अविनाशी, और अध्यात्मज्ञानके विषयभूत आत्माके स्वभावका ध्यानकर एवं कर्मरूपी वैरियोंका सर्वथा नाशकर परम सुखस्वरूप मोक्षमहलमें प्रवेश करता है। भावार्थ–जो मनुष्य राग द्वेष छल छिद्र कपट मिथ्याज्ञान अहंकार काम क्रोध लोभ आदिसे रहित और संसारके परिभ्रमणसे विमुख होकर सम्यक्चारित्रका आराधन करता है वही समस्त प्रकारके पापोंसे रहित, अविनाशी और अध्यात्मज्ञानके विषयभूत आत्माके स्वभावका ध्यान करसकता है उसीके कर्म नष्ट हो सकते हैं और वही निराकुलतामय सुखके स्थान मोक्षमहलमें निवास करता है इसलिये जिस-महानुभावको विशुद्ध अविनाशी आत्माके स्वभावके ध्यानकी इच्छा है–जो समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षमहलमें विराजना चाहता है उसै चाहिये कि वह राग द्वेष आदिसे मुख मोडे और भलेप्रकार सम्यक्चारित्रका आचरण करै ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रथमें चारित्राधिकार समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

दृष्टिज्ञानस्वभावस्तु सदानंदोस्ति निर्वृतः ।
न चैतन्यस्वभावस्य नाशो नाशप्रसंगतः ॥ १ ॥

अर्थ--मुक्तात्मा-सिद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप स्वभावके धारक हैं सदानंदमय हैं-सर्वदा निराकुलतामय आनंदके भोगनेवाले हैं उनके चैतन्य स्वभावका नाश नहिं होता क्योंकि यदि सम्यग्दर्शन आदि चैतन्य स्वभावोंका नाश स्वीकार करलिया जायगा तो मुक्तात्माका ही नाश हो जायगा। भावार्थ—पहिले कह दिया गया है कि बहुतसे सिद्धांतकारोंका यह सिद्धांत है कि जिससमय जीवात्माकी मोक्ष होजाती है उससमय उसके ज्ञान आदि चैतन्य गुणोंका नाश हो जाता है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि वास्तविक दृष्टिसे गुण गुणीमें अभेद है जो गुणी है वह गुण हैं और जो गुण हैं वह गुणी है यदि मोक्ष अवस्थामें चैतन्य गुणोंका नाश माना जायगा तो गुणी आत्मा ही न स्थिर रह सकैगा। यदि यह कहा जाय कि गुण गुणीका अभेद है ही नहीं, तो यह भी बात मिथ्या है क्योंकि गहरी दृष्टिसे विचारनेपर स्पष्टरूपसे विद्वानोंको गुण गुणीका अभेद मालूम पड़ जाता है इसलिये मोक्ष अवस्थामें चैतन्यस्वभावोंका नाश हो जाता है यह बात सर्वथा मिथ्या है किंतु मुक्तात्मा सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनस्वरूप और अनुपम आनंदका भोगनेवाला सम्यक्चारित्रस्वरूप है ॥ १ ॥

सर्वथा ज्ञायते तस्य न चैतन्यं निरर्थकं ।
स्वभावत्वेऽस्वभावत्वे विचारानुपपत्तितः ॥ २ ॥

अर्थ—चैतन्य आत्माका निरर्थक-कर्मजनित वैभाविक गुण नहीं है क्योंकि वह कर्मका स्वभाव है वा विभाव है यह विचार ही युक्तियुक्त नहीं ठहरता। भावार्थ—पहिले श्लोकमें मुक्त जीवके ज्ञानादि चेतनगुण नहीं नष्ट होते इस विषयमें यह उत्तर दे आये हैं कि वे ज्ञानादि जीवके स्वभाव हैं और स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता इसलिये वे सर्वदा बने रहते हैं। यदि वहां कोई यह शंका करै कि-अच्छा ! हम ज्ञानादिको जीवका स्वभाव न मानकर विभाव मानेंगे तब तो उनका नाश होना चाहिये। तो उसका ग्रथकारने इस श्लोकसे यह समाधान दिया है कि-ज्ञानादिको जीवका स्वभाव न मानकर यदि विभाव मानोगे तो यह बतलाओ कि—यह कर्मका स्वभाव है या विभाव ? यदि स्वभाव है तब तो

कर्म चेतन ठहरते हैं और यह बात ठीक नहीं। यदि विभाव है तो फिर स्वभाव किसका? इसलिये जीवके कर्मजनित विभाव पर्याय ज्ञानादि गुण हैं यह विचार युक्त नहीं ठहरता ॥ २ ॥

निरर्थकस्वभावत्वे ज्ञानभावानुषंगतः। न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्चेतनत्वानुषंगतः ॥ ३ ॥

प्रकृतेश्चेतनत्वं स्यादात्मत्वं दुर्निवारणं। ज्ञानात्मके न चैतन्ये नैरर्थक्यं न युज्यते ॥ ४ ॥

अर्थ--यदि चैतन्यको आत्माका निरर्थकस्वभाव--कर्मजनित विभावपर्याय माना जायगा तो कर्मोंमें ज्ञानत्व भी मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है परंतु ज्ञान कर्मका धर्म नहीं है। यदि ज्ञानको कर्मका धर्म भी मान लोगे तो उसे चेतन भी मानना पड़ेगा क्योंकि ज्ञान, चैतन्यस्वरूप है। और यदि कर्मको चेतन भी मान लोगे तो फिर उस-कर्ममें और आत्मामें कोई भेद ही न रह जायगा--कर्म और आत्मा एक ही पदार्थ होजायगे इसलिये ज्ञानात्मक आत्माका चैतन्य निरर्थक स्वभाव-विभावपर्याय कभी नहीं हो सक्ता ॥ ३-४ ॥

नाभावो मुक्त्यवस्थायामात्मनो घटते ततः। विद्यमानस्य भावस्य नाभावो युज्यते यतः ॥५॥

यथा चंद्रे स्थिता कांतिर्निर्मले निर्मला सदा। प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य मेघादिजनितावृतिः ॥ ६ ॥

तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्विशदे विशदा सदा। प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य कर्माष्टककृतावृतिः ॥ ७ ॥

जीमूतापगमे चंद्रे यथा स्फुटति चंद्रिका। दुरितापगमे शुद्धा तथैव ज्ञप्तिरात्मनि ॥ ८ ॥

अर्थ-विद्यमान पदार्थका कभी भी नाश नहिं होता इसलिये मोक्ष अवस्थामें आत्माका अभाव नहिं कहा जा सकता। जिसप्रकार निर्मल चंद्रमामें निर्मल कांति विद्यमान रहती है और उसकी प्रकृति एवं विकृतिमें कारण मेघ हैं उसीप्रकार निर्मल आत्मामें निर्मल ज्ञानकी विद्यमानता रहती है और उसके प्रकार वा विकार कर्मजनित हैं-कर्मोंसे उत्पन्न हुये हैं तथा जिसप्रकार मेघके नाश हो जानेपर चंद्रमाकी कांति स्फुटरूपसे प्रकाशमान हो जाती है उसीप्रकार जिससमय आत्मासे कर्मका संबंध छूट जाता है उससमय देदीप्यमान शुद्ध ज्ञान विकसित हो जाता है। भावार्थ-बौद्धोंका सिद्धांत है कि मोक्ष अवस्थामें आत्माका अभाव हो जाता है क्योंकि उन्होंने समस्त पदार्थोंको क्षणिक माना है उनके मतमें पदार्थ हरएक क्षणमें नष्ट होता रहता है और जो पदार्थ नष्ट होता है वह अपना संस्कार दूसरेमें डालता जाता

है इसलिये उस पदार्थकी संतान बनी रहती है एवं इसीयुक्तिसे उन्होंने दीपकके बुझनेके समान आत्माके बुझनेको मोक्ष माना है अर्थात् उनका सिद्धांत है कि जिसप्रकार दीपककी लो प्रतिसमय निकलती रहती हैं किंतु जिससमय वे समाप्त हो जाती हैं उससमय दीपक बुझ जाता है उसीप्रकार आत्मसंतान--ज्ञानसंतान भी प्रतिसमय पलटती रहती है और जिससमय वह नष्ट होजाती है उससमय आत्माकी मोक्ष हो जाती है-मोक्ष अवस्थामें आत्मा कोई पदार्थ नहिं रहता। परंतु यह सिद्धांत ठीक नहीं। क्योंकि प्रथमतो कोई संतान पदार्थ है यही बात अप्रमाणीक है क्योंकि संतानकी सिद्धिमें कोई निर्दोष प्रमाण नहीं। दूसरे-यह नियम है कि जो पदार्थ विद्यमान रहता है उसका कभी नाश नहि होता। आत्मा पदार्थ विद्यमान है इस कारण उसका भी कभी नाश नहिं हो सकता इसलिये मोक्ष अवस्थामें आत्माकी नास्ति नहि हो सकती। तथा नैयायिक आदि मोक्षमें ज्ञानकी मोजूदगी नहिं मानते परंतु यह सिद्धांत भी ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार निर्मल चंद्रमामें उसकी निर्मल कांति विद्यमान रहती है और मेघके कारण उसका भेद वा विकार हो जाता है अर्थात् वह कहीं भदमेली कहीं स्वच्छ दीख पड़ती है उसीप्रकार विशुद्ध आत्मामें विशुद्धज्ञान विद्यमान रहता है और ज्ञानावरण आदि कर्मके संबंधके कारण उस ज्ञानके मतिज्ञान आदि भेद वा विकार उत्पन्न हो जाते हैं एवं जिसप्रकार मेघ पटलके नष्ट हो जानेपर चंद्रमाकी कांति स्फुटरूपसे छटकने लगती है उसीप्रकार जिससमय कर्मावरणका नाश हो जाता है उससमय शुद्ध ज्ञानकी छटा आत्माके अंदर पूर्ण छटकने लगती है इसलिये इसबातको अच्छीतरहसे जान लेना चाहिये कि विद्यमान पदार्थका कभी नाश नहिं होता--आत्मा विद्यमान पदार्थ है इसलिये उसका कभी नाश नहिं हो सकता तथा ज्ञान भी विद्यमान पदार्थ है इसलिये मोक्ष अवस्थामें उसका भी नाश नहि हो सकता किंतु विरोधी कर्मके नाश हो जानेपर मोक्ष अवस्थामें ज्ञानका असली स्वच्छ स्वरूप प्रकट हो जाता है ॥ ५-८ ॥

धुनाति क्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि ।
मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥ ९ ॥

अर्थ--जिसप्रकार तीव्रगतिसे चलता हुआ पवन सूर्यपरसे मेघमंडलको हटादेता है उसीप्रकार योगी भी अपने शुद्धध्यानद्वारा क्षणभरमें आत्मासे कर्मावरणोंको हटादेता है। भावार्थ--सूर्य अत्यंत देदीप्यमान पदार्थ है किंतु जिससमय वह मेघमंडलसे आच्छन्न हो जाता है उससमय उसका प्रकाश ढक जाता है उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञान आदि देदी-

ध्यमान गुणोंका धारक है किंतु कर्मोंसे आच्छन्न होनेके कारण इसके असली ज्ञान आदि गुण व्यक्त नहिं होते परंतु तीव्र गतिसे चलनेवाले पवनसे मेघ पटलके नष्ट होजानेपर जिसप्रकार सूर्य अपनी अखंड दीप्तिसे चमचमा निकलता है उसीप्रकार जिससमय योगीगण अपने तीव्र योग-ध्यानसे कर्मावरणोंको नष्ट करदेते हैं उससमय उनकी आत्माके ज्ञानादि गुण व्यक्त होजाते हैं और उनसे वह जगमगा निकलता है ॥ ९ ॥

विविक्तात्मपरिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः ॥ १० ॥

अर्थ—जिस योगके द्वारा कर्मावरणोंसे विविक्त आत्माका ज्ञान हो वही योग प्रशंसनीय है ऐसा, योगके द्वारा समस्त पातकोंका नाश करनेवाले योगियोंका मत है । भावार्थ—योगका समान्य अर्थ ध्यान है और वह आर्त रौद्र आदि भेदसे चारप्रकारका है परंतु यहांपर वही उत्तम ध्यान समझा गया है जिसकेद्वारा समस्त कर्मावरणोंसे रहित शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जाय तथा वे ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं इसलिये योगियोंने इन्ही ध्यानोंको उत्तम और उपादेय ध्यान माना है आर्त रौद्र ध्यानको उत्तम नहिं बतलाया ॥ १० ॥

निरस्तमन्मथातंकं योगजं सुखमुत्तमं ।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहं ॥ ११ ॥

अर्थ—जो सुख उत्तम ध्यानसे उत्पन्न है वही सुख उत्तम है क्योंकि वह कामदेवरूपी यमराजका नाश करनेवाला है, शांतिस्वरूप है, स्थिर है, आत्मिक है, एवं जन्म और बुढ़ापाका नाश करनेवाला है। भावार्थ—जिससुखमें कामदेवका मालिकपना न हो, जो उत्तम, शांतिस्वरूप, स्थिर, आत्मिक, और जन्म मरण एवं बुढ़ापासे रहित हो वही वास्तविक सुख है किंतु इस सुखसे भिन्न सुख नहीं सुखाभास है तथा ऐसा सुख उत्तम ध्यानसे ही प्राप्त होता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे ऐसे अनुपम सुखकेलिये अवश्य उत्तम ध्यानका आराधन करें ॥ ११ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं ।

वदंतीति समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १२ ॥

अर्थ–जो पराधीन हो वह दुःख है और जो स्वाधीन हो वह सुख है इसप्रकार यह संक्षेपसे सुख दुःखका लक्षण है ॥ १२ ॥

ततः पुण्यभवा भोगा दुःखं परवशत्वतः ।
सुखं योगभवं ज्ञानं स्वरूपं स्ववशं ततः ॥ १३ ॥

अर्थ–इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो पुण्यसे उत्पन्न भोग हैं वे पराधीन होनेसे दुःख हैं और जो योगसे उत्पन्न ज्ञान है वह आत्माका स्वरूप और स्वाधीन होनेसे सुख है। भावार्थ–बहुतसे लोग पुण्यसे उत्पन्न विषय भोगोंको ही सुख मानते हैं परंतु वह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे पराधीन–इंद्रिय आदिके अधीन होनेके कारण दुःखस्वरूप हैं सुख तो योगसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है क्योंकि वह आत्मिक और स्वाधीन है ॥ १३ ॥

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरं ।
हेमं क्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते ॥ १४ ॥

अर्थ–जिसप्रकार हेम कीट कालिमा आदि मैलके दूर होजानेपर कल्याण शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार मनुष्योंका ध्यान भी निर्मल और स्थिर ज्ञान होजाता है। भावार्थ–यहांपर अशुद्ध सुवर्णको हेम माना है तो जिसप्रकार अशुद्ध सुवर्ण कीट कालिमा आदि मैलसे रहित होजानेपर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार मनुष्यका ध्यान जिससमय शुद्ध चैतन्य अवस्थाको धारण करलेता है उससमय विशुद्ध ज्ञान हो जाता है क्योंकि ध्यानकी दो पर्याय हैं और दोनों चैतन्यस्वरूप हैं ॥ १४ ॥

गंधर्वनगराकारं विनश्वरमवास्तवं ।
स्थावरं वास्तवं भोगं बुध्यते मुग्धबुद्धयः ॥ १५ ॥

अर्थ–जो पुरुष मुग्धबुद्धि हैं स्त्री पुत्र आदिकी ममतामें फसे हुये हैं वे गंधर्वनगरके समान रंग विरंगे विनाशीक और अवस्तुस्वरूप भोगको स्थिर और वास्तव मानते हैं। भावार्थ–जिसप्रकार इंद्रजालियों द्वारा दिखाया गया गंधर्वनगर

भोग भी चित्र परंतु उसे मूर्ख लोग सच्चा मानते हैं उसीप्रकार और अवस्तुस्वरूप होता है
रंग विरंगा, विनाशीक और अवस्तुस्वरूप होता है परंतु उसे मूर्ख लोग सच्चा मानते हैं ॥ १५ ॥
विचित्र विनाशीक और अवस्तुस्वरूप हैं परंतु मोहसे मूढ पुरुष उन्हें स्थिर और वास्तविक मानते हैं ॥ १५ ॥

संसारोयं महाव्याधिर्नानाजन्मादिविक्रियः ॥ १६ ॥

चित्तभ्रमकरस्तीव्ररागद्वेषादिवेदनः । यथानुभवसिद्धात्मा सर्वप्राणभृतामयं ॥ १७ ॥

अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः ।

अर्थ—यह संसार चित्तको भ्रांत करनेवाला है, तीव्र रागद्वेष आदिका भुगानेवाला है, अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे
युक्त है, नाना प्रकारकी जन्म मरण आदि विक्रियाओंका धारक है, अनादि है, अमुख्य है, नाना प्रकारके कर्मोंमें कारण
है और समस्त जीवोंकी अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय दो इंद्रिय आदि पर्यायस्वरूप है। भावार्थ—यह संसार सर्वथा दुःखका
ही घर है क्योंकि इसमें रहनेवाले मनुष्योंका चित्त सदा भ्रांत रहता है, तीव्र राग द्वेष आदिकी वेदना भोगनी पड़ती
अनेक प्रकारकी व्याधि और जन्म मरण आदि दुःखोंका सामना करना पड़ता है। तथा यह अनादि है, अप्रधान है-जी-
वका मुख्यस्वरूप नहीं है, नानाप्रकारके कर्मोंका प्रदान करनेवाला है और इसमें रहनेवाले जीव कभी एकेंद्रिय कभी दो
इंद्रिय आदि पर्यायोंका धारण करते हैं इसलिये जीवोंकी अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय आदि पर्यायोंका धारक है ॥१६--१७॥

सर्वजन्मविकाराणामभावे तस्य तत्त्वतः ।

न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा ॥ १८ ॥

अर्थ--जिससमय समस्त जन्मविकारोंका और संसारका नाश हो जाता है उससमय जो वास्तविकरूपसे मुक्त हो
जाता है वह अमुक्त नहिं होता जो मुख्य-उत्तम हो चुका वह अनुत्तम और जो अखंड ज्ञानस्वरूप हो चुका वह अ-
ज्ञान वा अल्पज्ञान स्वरूप नहि होता। भावार्थ—जबतक जीवके जन्म आदिके विकार और संसारका संबंध रहता है
तबतक वह मुक्त नहि कहा जाता किंतु जिससमय जन्म आदि विकारोंका संबंध और संसारका नाश हो जाता है
उससमय जीव मुक्त उत्कृष्ट और अखंड ज्ञानस्वरूप हो जाता है इसलिये उससमय वह मुक्त हो जानेपर अमुक्त-संसारी,
उत्कृष्ट हो जानेपर अनुत्कृष्ट और अखंड ज्ञानस्वरूप होनेपर अल्पज्ञानस्वरूप नहिं होता सदा वह मुक्त उत्कृष्ट और
अखंडज्ञानस्वरूप ही रहता है ॥ १८ ॥

यथेहामयमुक्तस्य नामयः स्वस्थता परं ।
तथा पातकमुक्तस्य न भवः स्वस्थता परं ॥ १९ ॥

अर्थ–जिसप्रकार व्याधिसे रहित पुरुषको व्याधि नहिं रहती वह स्वस्थ नीरोग हो रहता है उसीप्रकार जो पुरुष पापोंसे मुक्त है उसै संसारमें नहिं घूमना पड़ता सदा वह स्वस्वरूपमें ही लीन रहता है। भावार्थ–जबतक मनुष्य रोगी रहता है तब तक उसके रोग विद्यमान रहता है और जिससमय वह नीरोग हो जाता है उससमय उसके रोग नहिं रहता वह स्वास्थ्यलाभ करलेता है उसीप्रकार जबतक जीव कर्मोंसे संयुक्त रहता है तबतक वह संसारमें घूमता रहता है और जिससमय उसके कर्मावरण नष्ट होजाते हैं उससमय उसे संसारमें नहिं घूमना पड़ता वह स्वस्वरूपमें लीन हो निराकुलतामय मोक्षसुखका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं कार्येऽन्यत्र विचेष्टिते ।
यस्य तस्याग्रहाभावान्न भोगा भवहेतवः ॥ २० ॥

अर्थ–अन्य भोग भोगना आदि कार्योंके करनेपर भी जिसका मन शुद्ध ज्ञानमें लीन है उस मनुष्यके आसक्तिके अभावसे भोग संसारके कारण नहिं होते। भावार्थ–जो मनुष्य शुद्ध ज्ञानमें मन न लगाकर बडी लालसासे विषय भोगोंको भोगता है उसे उन भोगोंके भोगनेसे संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है किंतु जो विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होकर अपने मनको शुद्ध ज्ञानमें लीन रखता है उसै संसारमें परिभ्रमण नहिं करना पड़ता ॥२०॥

मायांभो मन्यतेऽसत्यं तत्त्वतो यो महामनाः। अनुद्विग्नो निराशंकस्तन्मध्ये स न गच्छाते ॥
मायातोयोपमा भोगा दृश्यंते येन वस्तुतः। स भुंजानोपि निस्संगः प्रयाति परमं पदं ॥२२॥

अर्थ–जिसप्रकार बुद्धिमान् मृगतृष्णाको वास्तविकरूपसे असत्य समझता है इसलिये किसीप्रकारका उद्वेग और संदेह न कर उसमें नहिं फंसता उसीप्रकार जो पुरुष भोगोंको मृगतृष्णाके समान मिथ्या जानते हैं वे भोगनेपर भी उनमें लिप्त नहिं होते इसलिये निराकुलतामय पदको प्राप्त करलेते हैं। भावार्थ–बालूके स्थानपर जो जलके रूपमें चमकती हुई बालू दीख पड़ती है उसै मृगतृष्णा कहते हैं प्रायः मूर्ख लोग जब प्याससे घबड़ा जाते हैं उससमय प्यासकी बाधा और

जलकी शकासे मृगतृष्णाकी ओर दोड़ते हैं और जल न मिलनेपर अत्यंत दुःखित होते हैं किंतु जो बुद्धिमान होते हैं
वे मृगतृष्णाका असली स्वरूप जानकर प्यासे होनेपर भी न कुछ चित्तमें घबड़ाहट लाते हैं और न उन्हें उसमें जलकी
शंका होती है इसलिये वे मृगतृष्णाकी ओर दोड़ धूप नहिं करते उसीप्रकार जो मनुष्य भोगोंको अच्छा समझते हैं
वे तो उनमें लिप्त रहनेके कारण संसारमें घूमते और अनत दुःख भोगते हैं किंतु जिन बुद्धिमान पुरुषोंको यह ज्ञान
है कि भोग मृगतृष्णाके समान असार हैं-कभी उनमें आसक्त होनेसे सुख नहिं मिल सकता इसलिये किसी कारणसे
उन्हें भोगते हुये भी उनमें लिप्त नहि होते वे थोड़े ही कालमें कर्मोंके नष्ट होजानेपर आनंदमय स्थान मोक्षकी
प्राप्ति करलेते हैं ॥ २१-२२ ॥

भोगांस्तत्त्वाधिया पश्यन्नाभ्येति भवसागरं।
मायांभो जानता सत्यं गम्यते तेन नाध्वना ॥ २३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मृगतृष्णाका सत्यस्वरूप समझकर मनुष्य उसकी ओर नहिं दोड़ता उसीप्रकार जो पुरुष भोगोंका वास्तविक स्वरूप जानता है वह भी संसाररूपी समुद्रकी ओर नहि झुकता। भावार्थ—जो मनुष्य मृगतृष्णाका स्वरूप नहिं समझता वह तो प्याससे व्याकुल हो मृगतृष्णाकी ओर दोड़ता हैं और जो इसवातको जानता है कि मृगतृष्णा जलका स्थान नहीं वह उसकी ओर झांकता तक भी नहीं उसीप्रकार जो मनुष्य भोगोंको हितकारी मानता हैं वह तो उनकी ओर झुकता और संसारमें परिभ्रमण करता है किंतु जिसको भोगोंका वास्तविक स्वरूप मालूम पड़ जाता है और यह ज्ञान हो जाता है कि भोग महादुःखदायी हैं वह उनकी ओर जरा भी ऋजु नहिं होता एवं उनकी ओर ऋजु न होनेके कारण उसे संसारमें परिभ्रमण भी नहिं करना पड़ता ॥ २३ ॥ तथा—

स तिष्ठति भयोद्विग्नो यथा तत्रैव शंकितः।
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि भोगमायाविमोहितः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मृगतृष्णाके स्वरूपको ही संदिग्ध रीतिसे जाननेवाला पुरुष जब दूरसे मृगतृष्णाको देखता है तो यह मृगतृष्णा है वा जलस्थान है? ऐसा संदिग्ध होकर 'यदि वहां जल न मिला तो व्यर्थ हैरानगति होगी' इस-

प्रकार हैरानगतिके भयसे उद्विग्न चित्त हो जाता है उसीप्रकार जो पुरुष यह वास्तविक मोक्ष मार्ग है या नहीं ? इस-प्रकार मोक्षमार्गमें शंकित है वह भी 'यदि कठिन चारित्र आदिका आचरण किया और मोक्ष न प्राप्त हुई तो व्यर्थ क्लेश भोगना पड़ेगा' इसप्रकारके भयसे उद्विग्न होकर भोगमायामें मूढ़ हो जाता है ॥ २४ ॥

धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःखपरंपरां ।
चंदनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किं ॥ २५ ॥

अर्थ--जिसप्रकार चंदनसे उत्पन्न भी अग्नि अवश्य जलाती है उसीप्रकार धर्मसे उत्पन्न भी भोग अवश्य दुःखोंको प्रदान करता है । भावार्थ–यद्यपि चंदन शीतल पदार्थ है क्योंकि यदि शरीरमें किसीप्रकारका संताप होजाय तो उसके लेपसे वह तत्काल दूर हो जाता है इसलिये उसके कार्यसे भी शांति मिलनी चाहिये परंतु देखते हैं जब चंदन अग्निमें डाल दिया जाता है अर्थात् चंदन जलाकर अग्नि की जाती है तो वह चंदनकी कार्य भी अग्नि अपना जलाना स्वभाव नहिं छोड़ती-वह अवश्य जलाने लगती है उसीप्रकार धर्म यद्यपि दुःखोंको दूर करनेवाला है और उससे उत्पन्न हुये कार्योंसे सुख मिलना चाहिये परंतु धर्मसे उत्पन्न हुये भोगोंके भोगनेसे अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये भोग कैसे भी सुखदायी नहिं हो सकते ॥ २५ ॥

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्नानंदाय विपश्चितां ।
न कल्मषसखो भोगस्तथा भवति शर्मणे ॥ २६ ॥

अर्थ–जिसप्रकार आपत्तिकी सखी लक्ष्मी विद्वानोंको सुखी नहिं बनाती उसीप्रकार पापका मित्र भोग भी मनुष्योंको कल्याणका करनेवाला नहिं होता । भावार्थ–जिसप्रकार लक्ष्मी पासमें रहनेसे अल्प सुख और उसके रक्षणादिसे उत्पन्न महान् दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये उसकी प्राप्तिसे विद्वान आनंद नही मनाते उसीप्रकार भोग अल्प सुखदायी और महान् दुखःके कारण पापके उत्पन्न करनेवाले होनेसे महादुखदायी होते हैं इसलिये वे भी कल्याणदायक नहीं होते अतएव ऐसे पापके कारण भोगोंका न भोगना ही अच्छा है ॥ २६ ॥

भोगसंसारनिर्वेदो जायते पारमार्थिकः ।

सम्यग्ज्ञानप्रदीपेन तन्नैर्गुण्यावलोकने ॥ २७ ॥

अर्थ–जिससमय सम्यग्ज्ञानरूपी दीपकसे भोगोंकी निर्गुणता मालूम पड़ जाती है अर्थात् भोग जरा भी गुणकारी नही यह बात अचलरूपसे हृदयपर अंकित होजाती है उसीसमय वास्तविक भोग और संसारसे वैराग्य होता है। भावार्थ–जबतक संसार और भोगोंका असली स्वरूप नहीं जाना जाता तबतक उनके भोगनेकी लालसा बनी रहती है और उनसे कभी वास्तविक वैराग्य नहिं होता किंतु जिससमय सम्यग्ज्ञानद्वारा उनका असली स्वरूप मालूम पड़ जाता है अर्थात् यह जान लिया जाता है कि भोगोंके भोगनेसे जराभी किसी गुणकी प्राप्ति नहिं होती उससमय वास्तविक वैराग्य हो जाता है इसलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि भोग और संसारसे हमैं असली वैराग्य हो जाय उन्हैं चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञानका सहारा लें ॥ २७ ॥

निर्वाणे परमा भक्तिः पश्यतस्तद्गुणं परं। चित्रदुःखमहाबीजे नष्टे सति विपर्यये ॥ २८ ॥

ज्ञानवंतः सदा बाह्यप्रत्याख्यानविशारदाः। ततस्तस्य परित्यागं कुर्वते परमार्थतः ॥ २९ ॥

अर्थ–जिससमय नानाप्रकारके दुःखोंका प्रधान कारण मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है-उससे सर्वथा विमुखता हो जाती है, उससमय मोक्षके गुणोंका ज्ञान होजानेसे मनुष्यकी मोक्षमें परम भक्ति होजाती है इसलिये जो पुरुष ज्ञानी और बाह्य पदार्थोंके त्यागमें प्रवीण हैं वे वास्तविक रूपसे मिथ्याज्ञानका त्याग करदेते हैं। भावार्थ–इस संसारमें मिथ्याज्ञान नानाप्रकारके दुःखोंका कारण है जबतक यह आत्मामें विद्यमान रहता है तबतक इस संसारका नाश नहिं होता और अपना असली स्वरूप मालूम नहिं पड़ता इसलिये जो ज्ञानवान पुरुष अपनेसे बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेमें प्रवीण हैं वे अनंत दुःखदायी और अपनेसे बाह्यस्वरूप अज्ञानका भी त्याग करदेते हैं ॥ २८–२९ ॥

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्भानुमानिव तामसैः।
विषयैर्विध्यते ज्ञानं न सन्नद्धः शरैरिव ॥ ३० ॥

अर्थ–जिसप्रकार सूर्य अंधकारसे लिप्त नहिं होता उसीप्रकार ज्ञानी भी पापोंसे लिप्त नहिं होता तथा जिसप्रकार कवच (वख्तर) पहिना हुआ मनुष्य वाणोंसे वेधा नहिं जाता उसीप्रकार ज्ञान भी विषयोंसे नष्ट नहिं होता। भावार्थ–जिसप्रकार

तेजस्वी सूर्यको मलिन अंधकार नहीं दवा सक्ता उसीप्रकार पाप भी ज्ञानीको लिप्त नहिं कर सकता अर्थात् अज्ञानसे होनेवाला कर्मबंध ज्ञानीके नहीं होता तथा जिससमय मनुष्य संग्रामके अंदर कवच पहिन लेता है उससमय तीक्ष्ण भी वाण जिसप्रकार उसके शरीरको वेध नहि सकते उसीप्रकार जिससमय मनुष्यको दृढ आत्मज्ञान हो जाता है उससमय वलवान भी विषयभोग उस ज्ञानको नष्ट नहि कर सकते ॥ ३० ॥

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहं ।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृतिसाधनं ॥ ३१ ॥

अर्थ–तथा वह ज्ञान अनुष्ठानका स्थान है, मोहरूपी अंधकारका नाश करनेवाला है पुरुषार्थका करनेवाला और मोक्षका कारण है। भावार्थ–ज्ञानपूर्वक कियेगये पूजन आदि कार्य उत्तम फलके देनेवाले होते हैं अज्ञानपूर्वक नहीं इसलिये ज्ञान, पूजन आदि अनुष्ठानोंका स्थान है, मोहरूपी अंधकारका नाशक है, चारों पुरुषार्थकी सिद्धि करनेवाला है और मोक्षका कारण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छंति चिंतिते । तत्तत्त्वं तत्त्वतश्चिंत्यं चिंतांतरनिराशिभिः ॥ ३२ ॥
विविक्तमांतरं ज्योतिर्निराबाधमनामयं । यदेतत्तत्परं तत्त्वं तस्यापरमुपद्रवः ॥ ३३ ॥

अर्थ–अन्य चिंताओंको न करनेवाले विद्वानोंको चाहिये कि वे वास्तविक रूपसे उसी तत्त्वका विचार करै जिस तत्त्वके चिंतवन करनेसे विकार निर्विकारपनेको प्राप्त हो जांय और वह तत्त्व अंतरंग ज्योति है जो कि विविक्त-समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियोंसे रहित निर्मल है, निराबाध-समस्त प्रकारकी बाधाओंसे मुक्त निराकुलतामय सुखका भंडार है, और अनामय-समस्त प्रकारके रोग आदि दुःखोंसे रहित उत्कृष्ट है एव उससे अन्य समस्त तत्त्व तत्त्व नहीं, दुःख हैं अर्थात् शुद्ध आत्मज्योतिको छोड़कर अन्य तत्त्वके अवलंबनसे अनंत दुःखोंका सामना करना पड़ता है। भावार्थ–यद्यपि संसारमें बहुतसे तत्त्व हैं परंतु उत्तम तत्त्व शुद्ध आत्मा ही है क्योंकि शुद्ध आत्मतत्त्वके आराधन करनेसे काम क्रोध मान आदि विकार सर्वथा नष्ट होजाते हैं इसलिये यह समस्त विकारोंका नाश करनेवाला है तथा समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियोंसे रहित होनेके कारण निर्मल है, निराकुलतामय सुखका भंडार और रोग आदि दुःखोंसे रहित है इसलिये जो उत्तम पुरुष वास्तविक

तत्त्वका स्वरूप चिंतवन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अन्य समस्त प्रकारकी चिंताओंसे रहित होकर इसी परम त-त्त्वका चिंतवन करै, अन्य तत्त्वकी ओर झांककर भी न देखें क्योंकि अन्य तत्त्व दुःखस्वरूप हैं उनके आराधनसे नानाप्रका-रके दुःखोंका सामना करना पड़ता है ॥ ३२-३३ ॥

न कुत्राप्याग्रहस्तत्त्वे विधातव्यो मुमुक्षुभिः ।
निर्वाणं साध्यते यस्मात्समस्ताग्रहवर्जितैः ॥ ३४ ॥

अर्थ--जो पुरुष मोक्षभिलाषी हैं--निराकुलतामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसी भी तत्त्वमें आग्रह न करना चाहिये क्योंकि जो पुरुष समस्त प्रकारके आग्रहोंसे रहित हैं वे ही मोक्ष सिद्ध कर सकते हैं अन्य नहीं । भावार्थ-आ-ग्रहका अर्थ विवाद है वह विवाद चाहैं शुभ पदार्थमें हो चाहैं अशुभ पदार्थमें हो, मोक्षकी प्राप्तिका सर्वथा प्रतिबंधक है इ-सलिये जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसी पदार्थमें विवाद न करना चाहिये. क्योंकि समस्त प्रकारके विवा-दोंसे रहित मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ३४ ॥

कर्ताहं निर्वृतेः कृत्ये ज्ञानं हेतुः सुखं फलं ।
नैकोऽपि विद्यते तत्र विकल्पः कल्पनातिगे ॥ ३५ ॥

अर्थ--मैं कर्ता हूं मोक्ष कार्य हैं, ज्ञान कारण है और सुख, फल है इत्यादि कल्पना मोक्ष तत्त्वमें नहीं क्योंकि वह वि-कल्पातीत है-समस्तप्रकारके विकल्पोंसे रहित है। भावार्थ--जबतक मोक्ष प्राप्त नहिं होती तबतक मैं मोक्षरूपी कार्यको करता हूं इसलिये मैं कर्ता और मोक्ष कार्य है। उसकी ज्ञानसे उत्पत्ति होती है इसलिये ज्ञान कारण और सुख फल-कार्य है इत्यादि कल्पना मोजूद रहती हैं परंतु जिससमय मोक्ष प्राप्त हो जाती है उससमय कर्ता कार्य आदिकी कल्पना नहि रहती क्योंकि वह विकल्पातीत अवस्था है-भेद कल्पना उसमें रहती ही नहीं ॥ ३५ ॥

आत्मव्यवस्थिता यांति नात्मत्वं कर्मवर्गणाः ।
व्योमरूपत्वमायांति व्योमस्था किमु पुद्गलाः ॥ ३६ ॥

अर्थ-जिसप्रकार आकाशमें स्थित पुद्गलपरमाणु आकाशस्वरूप नहिं होते उसीप्रकार जो कर्मवर्गणायें आत्मामें स्थित

हैं वे भी आत्मस्वरूप परिणत नहिं होतीं। भावार्थ–भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक पदार्थ चाहैं किसीप्रकार भी आपसमें संबद्ध होजाय कभी वे अपने अपने स्वभावको छोड़कर दूसरेके स्वभावस्वरूप नहिं होते। देखो! जिसप्रकार पुद्गलके परमाणु मूर्तिक हैं और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये अधाराधेय भावसे संबद्ध होने पर भी वे आकाशके रूप अमूर्तिक नहिं होते उसीप्रकार यद्यपि बहुतसे कर्म आत्माके साथ संबद्ध हैं परंतु वे आत्मस्वरूप परिणत नहिं होते अर्थात् आत्माका जैसा चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव है वैसा कर्मोंका चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव नहि होता–वे तो हरएक अवस्थामें जड़ और मूर्तिक ही रहते हैं॥ ३६॥

स्थावराः कार्मणाः संति विकारास्तेऽपि नात्मनः।
शश्वच्छुद्धस्वभावस्य सूर्यस्येव घनादिजाः॥ ३७॥

अर्थ–जिसप्रकार निरंतर शुद्ध तेजस्वभावके धारक सूर्यके मेघ आदिसे उत्पन्न विकार आत्मिक नहि गिने जाते उसीप्रकार पृथिवी आदि स्थावर कर्मजनित विकार हैं वे आत्माके नहीं गिने जाते। भावार्थ–सूर्य प्रचंड दीप्तिका धारक अत्यंत शुद्ध पदार्थ है और उसमें मेघ आदिके कारण बहुतसे विकार उत्पन्न होते हैं परंतु जिसप्रकार वे सूर्यके न गिने जाकर मेघ आदिके गिने जाते हैं उसीप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पति-रूप स्थावर कर्मोंके विकार हैं इसलिये वे आत्माके विकार नहिं हो सकते॥ ३७॥

रागादयः परीणामाः कल्मषोपाधिसंभवाः।
जीवस्य स्फटिकस्येव पुष्पोपाधिभवा मताः॥ ३८॥

अर्थ–जिसप्रकार निर्मल स्फटिकमें राग-लाल पीले आदि विकार पुष्पकी उपाधिसे उत्पन्न हैं उसीप्रकार जीवके भी राग आदि परिणाम कल्मष-पापरूप उपाधिसे उत्पन्न हैं। भावार्थ–स्फटिक रत्न अत्यंत स्वच्छ पदार्थ है उसमें लाल पीला आदि कोई विकार नहीं परंतु जिससमय उसके सामने हरे पीले आदि पुष्प रखदिये जाते हैं तो वह हरे पीले पुष्पोंके संबंधसे हरा पीला रूप परिणत हो जाता है उसीप्रकार आत्मा अत्यंत शुद्ध पदार्थ है उसमें कैसा भी राग आदि विकार नही परंतु उसमें जो पापरूप उपाधि विद्यमान है उससे वह राग द्वेष आदि स्वरूप परिणत होजाता है॥३८॥

परिणामाः कषायाद्या निमित्तीकृत्य चेतनां ।
मृत्पिंडेनेव कुंभाद्या जन्यंते कर्मणाऽखिलाः ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार मिट्टीके पिंडसे घट शराबा आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार कषाय आदि परिणाम भी चेतनाके निमित्तसे कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं। भावार्थ—जिसप्रकार घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी और चाक कुंभार आदि निमित्त कारण है उसीप्रकार आत्मामें जो क्रोध आदि कषायोंकी उत्पत्ति होती है उनका उपादान कारण कर्म है और चेतना निमित्त कारण है इसलिये क्रोध आदि आत्माके कार्य नहीं, कर्मोंके कार्य हैं ॥ ३९ ॥

आत्मनो ये परीणामाः मलतः संति कश्मलाः ।
सलिलस्येव कल्लोलास्ते कषाया निवेदिताः ॥ ४० ॥

अर्थ—जिसप्रकार जलमें कल्लोल उत्पन्न होतीं हैं उसीप्रकार कर्मके उदयसे जो आत्मामें मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे कषाय हैं। भावार्थ—जिसप्रकार पवनके द्वारा जलमें कल्लोल उदित होतीं हैं और जलको खलबला डालतीं हैं उसीप्रकार कर्मके उदयसे जो आत्मामें मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे भी आत्माको उसके स्वस्वरूपसे विचलित कर खलबला देते हैं और उन मलिन परिणामोंका ही नाम कषाय है ॥ ४० ॥

कालुष्याभावतोऽकर्म कालुष्यं कर्मतः पुनः ।
एकनाशे द्वयोनाशः स्याद्बीजांकुरयोरिव ॥ ४१ ॥

अर्थ—कालुष्यके अभावसे कर्मोंका अभाव होता है और कर्मोंसे कालुष्यकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार बीज और अंकुरके समान एकके नाशसे दोनोंका नाश हो जाता है। भावार्थ—जिसप्रकार बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीजकी उत्पत्ति होती है तथा अंकुरके अभावमें बीजका अभाव और बीजके अभावमें अंकुरका अभाव हो जाता है उसीप्रकार कालुष्यसे कर्म, कर्मोंसे कालुष्य होते हैं इसलिये कालुष्यके अभावमें कर्मोंका अभाव और कर्मोंके अभावमें कालुष्यका अभाव हो जाता है ॥४१॥

यद्यास्ति कलुषाभावो जीवस्य परिणामिनः ।

परिणामास्तदा शुद्धाः स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः ॥ ४२ ॥

अर्थ-परिणमन स्वभावके धारक इस जीवके जिससमय कालुष्यका अभाव हो जाता है उससमय सुवर्णके समान उत्तरोत्तर इसके परिणाम शुद्ध होते चले जाते हैं। भावार्थ-स्वभावसे शुद्ध भी सुवर्ण जिसप्रकार कीट कालिमा आदिके संबंधसे मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों उसकी कीट कालिमा आदि दूर होते जाते हैं त्यों त्यों वह उत्तरोत्तर शुद्ध होता चला जाता है और जिससमय उससे कीट कालिमा आदि सर्वथा जुदे होजाते हैं उससमय वह सर्वथा शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार स्वभावसे विशुद्ध भी आत्मा कालुष्यके संबंधसे मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों इसके कालुष्यका नाश होता जाता है त्यों त्यों यह भी विशुद्ध होता जाता है तथा जिससमय कालुष्यका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय यह सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

कल्मषाभावतो जीवो निर्विकारो विनिश्चलः ।
निर्वातनिस्तरंगाब्धिसमानत्वं प्रपद्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ-जिससमय यह जीव कालुष्यसे रहित होता है उससमय यह निर्विकार और निश्चल हो जाता है इसलिये पवनके अभावमें तरंगरहित शांत समुद्रकी उपमा धारण करता है। भावार्थ-जिससमय पवन चलता है उससमय उसके तीव्र झकोरोंसे समुद्रका जल उथल पुथल हो निकलता है और उससे समुद्र खलबला उठता है उसीप्रकार जबतक आत्मामें क्रोध आदि दुर्भावोंकी विद्यमानता रहती है तबतक उसमें राग द्वेष आदि नानाप्रकारके विकार उत्पन्न होते रहते हैं और उनसे वह सदा चंचल बना रहता है किंतु जिससमय इसके क्रोध आदि दुर्भाव नष्ट होजाते हैं उससमय इस आत्मामें किसीप्रकारका विकार उत्पन्न नहिं होता और विकारोंके अभावमें यह विनिश्चल अवस्थाको धारण करलेता है।

अक्षज्ञानार्थतो भिन्नं यदंतरवभासते ।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृज्ञातव्यमविपर्ययं ॥ ४४ ॥

अर्थ-इंद्रियज्ञानसे भिन्न जो ज्ञान अंतरंगमें प्रतिभासमान मालूम पड़ता है वही अभ्रांत आत्माका स्वरूप है और उसै ज्ञानवान मनुष्य ही जान सकते हैं। भावार्थ-ऊपर कहदिया गया है कि ज्ञान आत्माका वास्तविक स्वरूप है वहांपर

शंका होती है कि किस ज्ञानको आत्माका स्वरूप मानना चाहिये क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञान और आत्मिकज्ञानके भेदसे ज्ञान दो प्रकारका माना है उसका खुलासा यहां ग्रंथकारने किया है कि जो ज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञानसे भिन्न हो, संशय विपर्यय और अनध्यवसाय दोषोंसे रहित और अंतरंगमें प्रतिभासमान हो वही ज्ञान आत्माका वास्तविक स्वरूप है अन्य नहीं ॥ ४४ ॥

यत्रासत्यखिलं ध्वांतमुद्योतः सति चाखिलः ।
अस्त्यपि ध्वांतमुद्योतस्तज्ज्योतिः परमात्मनः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिसप्रकाशके अभावमें समस्त अंधकार ही अंधकार और जिसकी विद्यमानतामें सब प्रकाश ही प्रकाश प्रतीत होता है और अंधकार भी प्रकाशस्वरूप मालूम पड़ता है वह प्रकाश परमात्माका है । भावार्थ—संसारमें यद्यपि सूर्य आदिके प्रकाश मोजूद हैं परंतु जैसा उत्तम प्रकाश (ज्ञान) परमात्माका है वैसा किसीका भी नहिं है क्योंकि जबतक यह परमात्मप्रकाश--दिव्यज्ञान आत्मामें प्रकट नहिं होता तबतक सब ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होता है—स्पष्टरूपसे किसी भी अर्थका ज्ञान नहिं होता किंतु जिससमय यह प्रकट हो जाता है उससमय सब ओर प्रकाश ही प्रकाश दृष्टिगोचर हो जाता है अर्थात् मूर्तिक अमूर्तिक सब पदार्थ झलकने लगते हैं तथा जो पदार्थ पहिले नहिं जान पड़ते थे उन्हें भी जानलिया जाता है ॥ ४५ ॥

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः । न शक्यंतेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ॥४६॥
नान्यथा शक्यते कर्तुं मिलद्भिरिव निर्मलः । आत्माकाशमिवामूर्तः परद्रव्यैरनश्वरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने स्वरूपमें स्थित हैं वे कभी परपदार्थसे अन्यथा रूप नहिं किये जासकते अर्थात् कभी परपदार्थ उन्हें अपने रूपमें परिणत नहिं करसकता । आत्मा आकाशके समान निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी है इसलिये परस्परमें संबद्ध हुये भी परद्रव्योंसे कभी वह अन्यथा रूप नहिं किया जासकता अर्थात् जड़ कर्मरूप द्रव्यके संबंधसे वह कभी जड़स्वरूप परिणत नहि होसकता । भावार्थ—पदार्थोंके स्वभाव जुदे २ होते हैं और सब पदार्थ अपने अपने स्वभावोंमें स्थित रहते हैं इसलिये ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो दूसरेके स्वरूपको अपने स्वरूपमें परिणत क-

रहे। आकाश निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है उसमें बहुतसे परपदार्थ पुद्गलके परमाणु आदि विद्यमान रहते हैं परंतु वे आकाशको अपने स्वरूप परिणत नहिं करसकते अर्थात् पुद्गलका जैसा मूर्तिक स्वभाव है वैसा आकाशका नहिं होता उसीप्रकार आत्मा भी निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है तथा उससे अनंती कर्मवर्गणाओंका संबंध रहता है परंतु वे आत्माको अपने स्वरूप परिणत नहि करसकतीं अर्थात् कर्मोंका जो मूर्तिक स्वभाव है वैसा आत्माका नहि हो सकता ॥ ४६--४७ ॥

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलंभतः।
इंद्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा ॥ ४८ ॥

अर्थ–शरीर और आत्माका ज्ञान भिन्न २ ज्ञानोंसे होता है इसलिये शरीर और आत्माका आपसमें वास्तविक भेद है क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञानसे शरीर जाना जाता है और स्वसंवेदन-स्वानुभव ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है। भावार्थ–बहुतसे मनुष्योंका सिद्धांत है कि शरीर ही आत्मा है, शरीरसे भिन्न आत्मा कोई पदार्थ नहीं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि शरीर जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतन पदार्थ है वे कभी एक नहिं हो सकते तथा इनके स्वरूपका ज्ञान भी भिन्न २ ज्ञानोंसे होता है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञानसे शरीर जाना जाता है और अहं अहं–मैं मैं इस स्वसंवेदन ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता है इसलिये ये दोनों भिन्न हैं क्योंकि यदि दोनों एक होते तो एक ही प्रकारके ज्ञानसे दोनोंका ज्ञान हो सकता था ॥ ४८ ॥

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्।
बध्यघातकभावोऽस्ति नान्योन्यं जीवकर्मणोः ॥ ४९ ॥

अर्थ–न तो कर्म जीवके गुणोंको नष्ट करता है और न जीव ही कर्मके गुणोंको नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्मका आपसमें बध्यघातक संबंध नहीं। भावार्थ–न्यायशास्त्रमें बध्यघातकभाव, सहानवस्थानलक्षण[1] और प्रतिबध्य-

१ एक फलमें एक स्थानपर दो प्रकारके रूप नहिं रह सकते इसलिये एक जगह न रहनेवाले दो रूपोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध है।
२ चन्द्रकान्तमणिके सामने आते ही अग्निका जलना बंद हो जाता है इसलिये चन्द्रकान्तमणि और अग्निका आपसमें प्रतिबध्यप्रतिबंधनभाव विरोध है।

प्रतिबंधकभाव ये तीन प्रकारके विरोध माने गये हैं। वध्यघातक विरोधमें वध्यका अर्थ मरनेवाला और घातकका अर्थ मारनेवाला है यह विरोध अहि नकुल, अग्नि जल आदिमें देखनेमें आता है अर्थात् नौला सर्पको मार देता है इसलिये सर्प वध्य और नौला घातक कहा जाता है तथा जल अग्निको बुझा देता है इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है यहांपर जीव और कर्ममें यह विरोध देखनेमें नहिं आता क्योंकि यदि कर्म, जीवके गुणोंको नष्टकर करता अथवा जीव कर्मके गुणोंको नष्ट करता तब तो जीव और कर्ममें वध्यघातकभाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्ममें वध्यघातकभाव विरोध नहिं होसकता ॥ ४९ ॥

यदा प्रति परीणामं विद्यते न निमित्तता।
परस्परस्य विश्लेषस्तयोर्मोक्षस्तदा मतः ॥ ५० ॥

अर्थ–जिससमय एक दूसरेके परिणामके प्रति एक दूसरेकी निमित्तता नहिं रहती उससमय उन दोनोंकी जो सर्वथा जुदाई है उसका नाम मोक्ष है। भावार्थ–पुद्गलके ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि परिणामोंमें आत्माके राग आदि परिणाम निमित्त कारण हैं और आत्माके राग आदि परिणामोंमें पुद्गलके ज्ञानावरण आदि परिणाम निमित्त कारण हैं तो जिससमय पुद्गल आत्माके परिणामोंमें कारण नहिं पड़ता और आत्मा पुद्गलके परिणामोंमें कारण नहिं पड़ता अर्थात् जब कि पुद्गल और आत्माकी सर्वथा जुदाई हो जाती है उससमय मोक्ष होती है ॥ ५० ॥

येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ॥ ५१ ॥

अर्थ–आत्माके जैसे २ भाव होते हैं उन्हींके अनुकूल वह परिणत होता जाता है जैसा कि स्फटिकमणि। भावार्थ–स्फटिकमणिके सामने जैसा हरा पीला पुष्प वा अन्य कोई पदार्थ आजाता है तो वह जिसप्रकार उसीके रूप परिणत हो जाता है अर्थात् हरे पुष्प आदि पदार्थके संबंधसे हरा और पीले पुष्प आदि पदार्थके संबंधसे पीला हो जाता है उसीप्रकार इस आत्माके भी जैसे २ शुभ अशुभ परिणाम होते हैं उन परिणामोंके अनुसार यह भी परिणत होता चला जाता है अर्थात् यदि आत्माके परिणाम शुभ रूप होते हैं तो शुभरूप परिणत होजाता है और यदि इसके अशुभ रूप परिणाम होते हैं तो अशुभरूप परिणत होजाता है ॥ ५१ ॥ इसलिये–

येनात्मभावनाभ्यासे स नियोज्यो विपाश्चिता।
तेनात्ममयतां याति निर्वृत्याऽपरभावतः ॥ ५२ ॥

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं- अपने हित अहितको भले प्रकार समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्माको आत्मस्वरूपकी भावनाके अभ्यासमें लगावें जिससे परपदार्थोंसे हटकर उनकी आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त हो जाय। भावार्थ–स्फटिक मणिके समान जब कि आत्मा जैसी भावनाकर परिणमाया जाता है वैसा ही परिणत होजाता है तब विद्वानोंको यह अवश्य चाहिये कि वे उसे अपने शुद्धस्वरूपकी ओर परिणमावें और परपदार्थोंकी तरफ कुछ भी ख्याल न करें जिससे उनकी आत्मा शुद्ध हो जाय ॥ ५२ ॥

युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं पुनः कीटेन युज्यते ॥ ५३ ॥

अर्थ–जिसप्रकार एकवार अग्निकी ज्वाला द्वारा कीट कालिमा आदिसे सर्वथा रहित किया हुआ सुवर्ण फिरसे कीट कालिमासे युक्त नहिं होता उसीप्रकार जो आत्मा कर्मोंसे एकवार रहित हो चुका है वह पुनः कर्मोंसे संयुक्त नहिं होता। भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि आत्माकी मलिनतामें कारण राग द्वेप आदि भाव हैं जब तक आत्मामें इनकी मोजूदगी रहती है तबतक कभी वह शुद्ध नहिं होता और उनके अभावमें शुद्ध हो जाता है एवं जिसप्रकार कीट कालिमा आदिसे सर्वथा रहित होजाने पर सुवर्ण फिर उससे संयुक्त नहिं होता सर्वथा शुद्ध ही बना रहता है उसीप्रकार वह शुद्ध आत्मा भी राग द्वेपरूप कारणोंके अभावमें फिर कर्ममलोंसे मलिन नहिं होता ॥ ५३ ॥

दंडचक्रकुलालादिसामग्रीसंभवेऽपि नो। संपद्यते यथा कुंभो विनोपादानकारणं ॥ ५४ ॥
मनोवचोवपुःकर्मसामग्रीसंभवेऽपि नो। संपद्यते तथा कर्म विनोपादानकारणं ॥ ५५ ॥
कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं सदोपादानकारणं। मृद्द्रव्यमिव कुंभस्य जायमानस्य योगिभिः ॥५६॥

अर्थ–दड चाक और कुंभकार आदि सामग्री-कारणोंके रहनेपर भी जिसप्रकार विना उपदान कारणके घट उत्पन्न नहिं हो सकता उसीप्रकार मन वचन कायकी क्रियारूप समग्रीके रहनेपर भी विना उपादानकारणके कर्म भी नहिं

उत्पन्न हो सकते तथा जिसप्रकार उत्पन्न होनेवाले कुंभकी उपादान कारण मिट्टी है उसीप्रकार कर्मका उपादान कारण कालुष्य है। भावार्थ–हरएक कार्यकी उत्पत्तिमें दो प्रकारके कारण माने हैं एक उपादान कारण, दूसरा निमित्तकारण। निमित्त कारण तो वाह्य कारण है और उपादानकारण अंतरंग कारण है। घटकी उत्पत्तिमें दंड चाक और कुंभकार आदि निमित्तकारण हैं और मिट्टी उपादान कारण है उसीप्रकार कर्मकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण मन वचन कायकी क्रिया है और कालुष्य उपादान कारण है तथा जिसप्रकार दंड चाक कुंभकार आदि निमित्तकारणोंके मोजूद रहते भी उपादानकारण मिट्टीके विना घट नहिं उत्पन्न होता उसीप्रकार मन वचन और कायकी क्रियाके होनेपर भी जबतक उपादान कारण कालुष्य नहिं रहता तबतक कर्मोंकी उत्पत्ति नहिं होती ॥ ५४–५६ ॥

यथा कुंभमयो जातु कुंभकारो न जायते। सहकारितया कुंभं कुर्वाणोऽपि कथंचन ॥ ५७ ॥
कषायादिमयो जीवो जायते न कदाचन। कुर्वाणोऽपि कषायादीन्, सहकारितया तथा ॥५८॥

अर्थ–जिसप्रकार कथंचित् सहकारी स्वरूपसे घटको करता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहि होता उसीप्रकार सहकारीरूपसे कषाय आदिको करता हुआ भी जीव कषायादिस्वरूप परिणत नहिं होता। भावार्थ–यह नियम है कि उपादान कारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं। घटकी उत्पत्तिमें जिसप्रकार निमित्त कारण कुंभकार है उसीप्रकार कषाय आदि दुर्भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण आत्मा है तथा जिसप्रकार घटकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण होकर घटको बनाता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहिं होता उसीप्रकार कषाय आदि दुर्भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होकर कषाय आदि दुर्भावोंको करता हुआ भी आत्मा कषायस्वरूप परिणत नहिं होता ॥

यः कर्म मन्यते कर्माऽकर्म वाऽकर्म सर्वथा।
स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते॥ ५९ ॥

अर्थ–जो बुद्धिमान पुरुष सर्वथा कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म मानता है वह समस्त कर्मोंका कर्ता-उपार्जन करनेवाला भी उनका निराकर्ता-नाश करनेवाला होता है। भावार्थ–जो मनुष्य वस्तुके असली स्वरूपको जानता है वह यदि किसी समय हेय पदार्थको अपना भी डाले तो कुछ समय बाद उसके स्वरूपके ज्ञानके रहनेके कारण

उसको छोड़ भी देता है किंतु जिसको उसका स्वरूप ही नहिं मालूम है वह उसको ग्रहणकर उसे अहितकारी न समझनेके कारण कैसे छोड़ सकता है ? जो पुरुष कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म समझता है वह यदि कर्मोंका उपार्जन करता है तो कुछ समयके बाद उन्हें दुःखकारी समझ छोड़ भी देता है किंतु जिस पुरुषको यह ज्ञान ही नहीं कि कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ? वह कर्मोंको उपार्जन करता हुआ भी उन्हें दुःखदायी न समझनेके कारण कैसे छोड़ सकता है ? इसलिये विद्वानोंको कर्म वा अकर्मका स्वरूप भलेप्रकार समझना चाहिये, और कर्मोंसे मुक्त होनेका उपाय करते रहना चाहिये ॥ ५९ ॥

विषयैर्विषयस्थोपि निरासंगो न लिप्यते ।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा स्फटिकः कर्दमैरिव ॥ ६० ॥

अर्थ—जिसप्रकार कीचड़में पड़ा हुआ भी स्फटिकमणि कीचड़से लिप्त नहिं होता-कीचड़स्वरूप परिणत नहिं होता उसीप्रकार विषय भोग करता हुआ भी विशुद्धात्मा ममत्वरहित होनेके कारण विषयोंसे लिप्त नहिं होता । भावार्थ—स्फटिकमणिका स्वभाव स्वच्छ है उसे चाहे कैसी भी गाढ़ कीचड़में क्यों न पटक दिया जाय कीचड़ उसके स्वरूपको नष्ट नहिं कर सकती उसीप्रकार जो पुरुष विशुद्धात्मा है-कुछ २ कर्ममलोंके नाशसे जिसकी आत्मा निर्मल बन चुकी है वह यद्यपि किसी कारणसे विषय भोगोंको भोगता है परंतु मनमें लालसा न रखनेके कारण विषयोंसे लिप्त नहिं होता—उसकी आत्मा विशुद्धकी विशुद्ध ही बनी रहती है ॥ ६० ॥

देहचेतनयोर्भेदो दृश्यते येन तत्त्वतः ।
न संगो जायते तस्य विषयेषु कदाचन ॥ ६१ ॥

अर्थ—जिस महानुभावको शरीर और चेतनका वास्तविक भेद मालूम पड़ जाता है उस महानुभावकी कभी विषयोंमें लालसा नहिं होती । भावार्थ—जबतक शरीर और चेतनका भेदविज्ञान नहिं होता—शरीरको ही आत्मा मानलिया जाता है तबतक शरीरको सुख देनेकेलिये रात दिन विषयभोगोंके भोगनेमें लालसा बनी रहती है किंतु जिससमय यह ज्ञान होजाता है कि शरीर पृथ्वी आदि भूतोंका कार्य जड़ है और आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूपका धारक है

इसलिये दोनों कभी एक नहिं हो सकते उससमय विषय भोगोंमें जरा भी लालसा नहिं होती किंतु उनसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है ॥ ६१ ॥

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्त्रेधा जीवस्य जायते ।
यतः पुण्यस्य पापस्य निर्वृतेरेव कारणं ॥ ६२ ॥

अर्थ—शुभ अशुभ और शुद्ध भावोंके भेदसे जीवके भाव तीन प्रकारके हैं और वे क्रमसे पुण्य पाप और मोक्षके कारण हैं अर्थात् शुभ भावोंसे पुण्य, अशुभ भावोंसे पाप और शुद्ध भावोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—जिनेंद्रका पूजन, मुनियोंको दान, जीवोंकी रक्षा, शास्त्रका स्वाध्याय, आदि करना शुभ भाव हैं। चोरी करना, जुआ खेलना जीवोंको पीड़ा देना, परद्रव्यको हजम करनेका भाव रखना आदि अशुभ भाव हैं और समस्त कर्ममलोंसे रहित शुद्ध आत्माका विचार करना शुद्ध भाव है। जो जीव अपने भाव शुभ रखते हैं उन्हें पुण्यकी प्राप्ति होती हैं और पुण्यसे चक्रवर्ती आदि पदोंके मिलनेके कारण नानाप्रकारके सुख भोगनेमें आते हैं। जो जीव अपने भाव अशुभ रखते हैं उनके पापका संचय होता है और पापसे वे तिर्यंच आदि कुगतियोंमें जाकर तीव्र दुःख भोगते हैं तथा जिन जीवोंके परिणाम शुद्ध रहते हैं-जो सदा शुद्धात्माका ध्यान करते रहते हैं उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होती है अर्थात् वे समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशकर मोक्ष प्राप्त करलेते हैं और वहांपर निराकुलतामय सुखका आस्वादन करते हैं ॥ ६२ ॥ इसलिये—

ततः शुभाशुभौ हित्वा शुद्धं भावमधिष्ठितः ।
निर्वृतो जायते योगी कर्मागमनिवर्तकः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जो योगी शुभ अशुभ भावोंका सर्वथा त्यागकर शुद्ध भावोंको धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका आगमन रुक जाता है और वह मुक्ति प्राप्त करलेता है। भावार्थ—अशुभ परिणाम तो सर्वथा दुःखकारक हैं अर्थात् जिन मनुष्योंके परिणाम अशुभ रहते हैं उन्हें कभी सुख नहिं मिलता। शुभ परिणाम यद्यपि कुछ अच्छे हैं परंतु निराकुलतामय सुख वे भी प्रदान नहिं करते अर्थात् शुभ परिणामोंसे यद्यपि पुण्यकी उत्पत्ति होती है और पुण्यसे चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पद मिलते हैं किंतु जिससमय पुण्य क्षीण होजाता है उससमय नरक आदि गतियोंमें घूमना पड़ता है और अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं अतः शुद्ध परिणाम ही सर्वोत्कृष्ट हैं क्योंकि उनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इस-

लिये जो योगिगण समस्त कर्मोंसे रहित होना चाहते हैं और निराकुलतामय सुखका भोग करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे शुभ अशुभ दोनों प्रकारके परिणामोंका सर्वथा त्यागकर शुद्ध परिणामोंको धारण करैं जिससे उन्हें निराकुलतामय मोक्षसुखकी प्राप्ति हो जाय ॥ ६३ ॥

विनिवृत्यार्थतश्चित्तं विधायात्मनि निश्चलं।
न किंचिच्चिंतयेद्योगी निरस्ताखिलकल्मषः ॥ ६४ ॥

अर्थ–समस्त कल्मषोंका नाश करनेवाला योगी सांसारिक पदार्थोंसे अपना चित्त हटाकर निश्चलरूपसे अपनी आत्मामें लगावे और 'शुद्धात्माके स्वरूपके सिवाय' कुछ भी विचार न करै। भावार्थ–जिससमय स्त्री पुत्र आदि वाह्य पदार्थोंसे हटकर चित्त आत्मामें निश्चलरूपसे लग जाता है और सिवाय शुद्धात्माके स्वरूपके कुछ भी विचार नहिं किया जाता उससमय समस्त कल्मषोंका नाश हो जाता है इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे सिवाय शुद्ध आत्माके स्वरूपके किसी भी अन्य स्वरूपका विचार न करैं ॥ ६४ ॥

स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि विषयेषु दृढस्मृतिः।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो लोकद्वयविलोपकः ॥ ६५ ॥

अर्थ–जिसकी आत्मा परमार्थसे विमुख है और जो विषयोंका दृढरूपसे स्मरण करता रहता है वह सदा दुःखी और दोनों लोकोंका नाश करनेवाला होता है। भावार्थ–जो मनुष्य परमार्थ-निराकुलतामय मोक्षसुखसे विमुख होकर विषयोंका स्मरण करता रहता है वह कभी सुखी और उन्नत नहिं हो सकता, दुःखी और दीन ही रहता है तथा उसका न यह लोक सुधरता है न परलोक। किंतु जो पुरुष परमार्थके आराधक हैं और विषयोंकी ओर जरा भी नहिं झांकते वे सदा सुखी और उन्नत रहते हैं इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे विषयोंसे सर्वथा विमुख होकर परार्थकी ओर अपनी दृष्टिको लगावें ॥ ६५ ॥

भोगं कश्चिदभुंजानो भोगार्थं कुरुते क्रियां।
भोगमन्यस्तु भुंजानो भोगच्छेदाय शुद्धधीः ॥ ६६ ॥

अर्थ–बहुतसे मनुष्य संसारमें ऐसे हैं जो भोगोंको न भी भोगते हुये भोगोंके भोगनेकेलिये क्रिया करते हैं और

वहुतसे बुद्धिमान मनुष्य ऐसे हैं जो भोग तो भोगते रहते हैं परंतु प्रयत्न उनके नाशके लिये ही करते रहते हैं। भावार्थ--जो पुरुष अज्ञानी हैं और भोगांतराय कर्मके तीव्र उदयसे जिनको अभीष्ट भोगोंकी प्राप्ति नहिं हुई है वे यद्यपि विषय भोग नहिं करते परंतु उनके भोगनेकी तीव्र लालसा रहनेके कारण सदा उनकेलिये प्रयत्न करते रहते हैं किंतु जो पुरुष विशुद्ध आत्माके धारक ज्ञानी हैं और शुभ कर्मके उदयसे जिन्हैं उत्तमोत्तम भोग प्राप्त हैं वे उन्हैं भोगते हुये भी परिणाममें दुःखदायी मान उनके छोड़नेका सदा प्रयत्न करते रहते हैं ॥ ६६ ॥

स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि निरुद्धविषयस्मृतिः ।
सर्वदा सुस्थितो जीवः परत्रेह च जायते ॥ ६७ ॥

अर्थ--जिस पुरुषकी आत्मा परमार्थसे विमुख रहनेपर भी विषयोंकी स्मृतिसे रहित है वह पुरुष इसलोक परलोक दोनों लोकोंमें सुखी रहता है। भावार्थ--संसारमें विषयभोग वडेही दुःखकारी हैं जो मनुष्य इनके फंदमें फसा रहता है वह दोनों लोकमें दुःखी रहता है किंतु जो इनसे सर्वथा विरक्त रहता है वह परमार्थकी ओर दृष्टिको न भी लगाता हुआ सर्वत्र सदा सुख पाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये वे विषयभोगोंकी ओर जरा भी ऋजु न हों ॥ ६७ ॥

रागी भोगमभुंजानो बध्यते कर्मभिः स्फुटं ।
विरागः कर्मभिर्भोगं भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ ६८ ॥

अर्थ--जो पुरुष रागी हैं वे विषयभोगोंके न भोगनेपर भी कर्मोंसे वंधते हैं किंतु जो विरागी हैं-किसी भी पदार्थमें रागभाव नहिं रखते वे विषयभोगोंको भोगते हुये भी कर्मोंसे नहिं वंधते। भावार्थ--ऊपर कहदिया गया है कि कर्मोंके वंधमें प्रधान कारण राग और द्वेष है जवतक इनकी विद्यमानता आत्मामें रहती है तवतक सदा कर्मोंका वंध होता रहता है इसलिये जो पुरुष विषयभोगोंको तो भोगते नहीं परंतु उनमें सदा रागभाव रखते हैं अर्थात् सदा जिनका यह विचार रहता है कि कव विषयभोग मिलै और कव उन्हैं भोगें उनके सदा कर्मवंध होता रहता है और जो पुरुष विरागी हैं-विषयभोगोंके भोगनेमें जरा भी राग नहिं करते उनके कर्मोंका बंध नहिं होता इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि भोगोंमें किसी प्रकारका राग न करैं ॥ ६८ ॥

विषयं पंचधा ज्ञानी बुध्यमानो न बध्यते ।
त्रिलोकं केवली किं न जानानो बध्यतेऽन्यथा ॥ ६९ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष पांचो प्रकारके विषयोंको जानता हुआ भी कर्मोंसे नहिं बंधता यदि ज्ञानी भी कर्मोंसे बंधेगा
तो तीन लोकको जाननेवाले भगवान केवलीके भी कर्मबंध मानना पड़ेगा। भावार्थ—कर्मबंधमें ज्ञान कारण नहीं, राग-
द्वेष आदि विभाव भाव कारण हैं इसलिये स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द पांचो प्रकारके विषयोंको जानकर भी ज्ञानी
पुरुष कर्मोंसे नहिं बंधता। कहोगे कर्मबंधमें कारण ज्ञान भी है जितना जितना पदार्थोंका विशेष २ ज्ञान होता जाता है
उतना २ कर्मबंध भी बढ़ता जाता है सो ठीक नहीं क्योंकि इसरूपसे भगवान केवलीके भी कर्मबंध स्वीकार करना
पड़ेगा क्योंकि वे विशेषज्ञानी हैं-संसारके जितने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ हैं वे समस्त उनके ज्ञानमें सदा प्रतिभासित
होते रहते हैं इसलिये मानना पड़ेगा कि जिसको स्पर्श आदि विषयोंका ज्ञान है किंतु उनमें राग नहीं उसके कर्मबंध
नहिं होता और जिसके ज्ञान नहीं परंतु राग है उसके कर्मबंध होता है ॥ ६९ ॥

विमूढो नूनमक्षार्थमगृह्णानोऽपि बध्यते ।
एकाक्षाद्या निबध्यंते विषयाग्रहिणो न किं ॥ ७० ॥

अर्थ—जो पुरुष मूढ़ है-मोहसे मत्त हो रहा है वह इंद्रिय विषयोंको न भी ग्रहण करै तथापि कर्मोंसे बंधता है क्योंकि
विषयोंको न भोगने वाले भी एकेंद्रिय आदि जीवोंके कर्मोंका बंध होता है। भावार्थ—इंद्रियोंके पांचभेद हैं-स्पर्शन, रसना,
घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र। इनमेंसे किसी जीवके केवल एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, किसीके स्पर्शन और रसना ये
दो ही। किसीके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन, किसीके स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु ये चार और किसीके पांचों
ही। तो जिसप्रकार जिस जीवके केवल एकही इंद्रिय है उसके शेष चारों इद्रियोंका और जिसके दो आदि इंद्रियां हैं
उसके तीन आदि इंद्रियोंका अभाव होनेसे उन इंद्रियोंका विषयभोग तो नहीं होता परंतु कर्मबंध अवश्य होता है उ-
सीप्रकार जो मिथ्यात्वी अज्ञानी है उसके इद्रिय विषयोंका भोग न होनेपर भी कर्मबंध अवश्य होता है ॥ ७० ॥

रागद्वेषनिवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ।

रागद्वेषप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो पुरुष राग और द्वेषसे रहित हैं उनकेलिये प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं और जो पुरुष राग और द्वेष आदिसे युक्त हैं उनकेलिये भी प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं। भावार्थ—व्रत तप आदि जितनी शुभ क्रियाओंका आराधन किया जाता है वह राग द्वेषकी निवृत्तिकेलिये किया जाता है इसलिये जिसके राग और द्वेषका अभाव है उसके प्रत्याख्यान आदिका करना व्यर्थ है और जो पुरुष राग द्वेषसे पूर्ण है सदा जिसकी आत्मा रागी और द्वेषी बनी रहती है उसकेलिये भी प्रत्याख्यान-व्रत आदिका आचरण करना व्यर्थ है क्योंकि राग द्वेषकी मोजूदगीमें व्रत तप आदिका पालन कार्यकारी नहीं, उनसे मुक्ति न होकर संसार ही होता है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं व्रत तप आदि आचरण कर अपनी आत्माको शुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य राग द्वेषका सर्वथा त्याग करदें ॥ ७१ ॥

सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न रज्यते ।
प्रत्याख्यानादतिक्रांतः स दोषाणामशेषतः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो महानुभाव सर्वत्र उदासीन भाव रखता है तथा न किसी पदार्थमें द्वेष करता है और न राग, वह महानुभाव प्रत्याख्यानके द्वारा समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है। भावार्थ—स्त्री पुत्र धन धान्य आदि समस्त पदार्थोंमें उदासीन भाव रख, इष्ट पादर्थोंमें राग और अनिष्टपदार्थोंमें द्वेष न कर जो महानुभाव व्रत तप आदि प्रत्याख्यानका पालन करता है वह मनुष्य समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है ॥ ७२ ॥

रागिणः सर्वदा दोषाः संति संसारहेतवः ।
ज्ञानिनो वीतरागस्य न कदाचन ते पुनः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो पुरुष रागी हैं उनके सदा संसारके कारण दोष उत्पन्न होते रहते हैं और जो वीतराग ज्ञानी हैं उनके कोई दोष उत्पन्न नहिं होता। भावार्थ—संसारके कारण राग द्वेष आदि भाव हैं इसलिये वे सदा जिसके हुआ करते हैं उसै सदा संसारमें ही घूमना पड़ता है और जो पुरुष ज्ञानवान वीतराग हैं उनके राग आदि दोष उत्पन्न नहिं होते इसलिये उन्हें संसारमें नहिं घूमना पड़ता किंतु समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश कर वे निर्वाण धाममें जा विराजते हैं और वहां पर निराकुलतामय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ७३ ॥

जीवस्यौदयिको भावः समस्तो बंधकारणं ।
विमुक्तिकारणं भावो जायते पारिणामिकः ॥ ७४ ॥

अर्थ–जीवके समस्त औदयिक भाव कर्म बंधके कारण हैं और परिणामिक भाव मोक्षके कारण हैं । भावार्थ–जो भाव कर्मोंके उदयसे हों उन्हें औदयिक कहते हैं तथा वे मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंच गति ये चार गति, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, स्त्रीलिंग पुंलिंग नपुंसक लिंग ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन अज्ञान और असंयत इसप्रकार इक्कीस हैं जब तक इन कर्मोंका जीवके उदय रहता है तब तक सदा इसके कर्मोंका बंध होता रहता है परंतु अभव्यत्वको छोड़कर जीवत्व भव्यत्व आदि जो जीवके परिणामिक भाव हैं वे कर्मोंकी उदय आदिकी उपेक्षा नहिं रखते उनसे कर्मबंध नहिं होता वे मोक्षके कारण हैं ॥ ७४ ॥

विषयानुभवं वाह्यं स्वात्मानुभवमांतरं ।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यत्र सर्वतः ॥ ७५ ॥

अर्थ–जो सुख विषयजन्य है वह वाह्य सुख है और आत्माके अनुभवसे जन्य है वह अंतरंग सुख है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे वाह्य सुखका सर्वथा त्याग कर अंतरंग सुखमें स्थिति करैं । भावार्थ–सुख दो प्रकारका है एक वाह्य, दूसरा अंतरंग । जिस सुखकी उत्पत्ति स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके भोगोंके भोगनेसे होती है वह वाह्य सुख है और जो विशुद्ध आत्माके अनुभवसे प्राप्त होता है वह आत्मिक-अंतरंग सुख है । इनमें वाह्य सुख दुःखकारी है क्योंकि उसके पीछे अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं और विनाशीक है इसलिये वह त्यागने योग्य है तथा अंतरंग सुख अविनाशी है और उस सुखकी प्राप्तिसे आत्मा सुखमय होजाती है इसलिये वह ग्रहण करनेके योग्य है ॥ ७५ ॥

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौद्गलिकं मतं ।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः ॥ ७६ ॥

अर्थ–जो ज्ञान वैषयिक है-इंद्रियजन्य है वह समस्त पौद्गलिक है और जो ज्ञान विषयोंसे परावृत्त है-इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है वह आत्मिक ज्ञान है । भावार्थ–यद्यपि इंद्रियजन्य ज्ञान चैतन्यस्वरूप है वह पुद्गलस्वरूप नहिं

हो सकता तथापि ज्ञानकी वैभाविक परिणति होनेके कारण और उसकी उत्पत्तिमें-पुद्गलरूप इंद्रियां कारण हैं इसलिये उसे व्यवहारसे पुद्गलस्वरूप कह दिया है जैनसिद्धांतमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे ज्ञान-सम्यग्ज्ञान पांच प्रकारका माना गया है उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रियजनित हैं इसलिये ये कथंचित्-व्यवहार नयसे पौद्गलिक हैं। अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान आत्मसापेक्षी हैं—उनमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहिं करनी पडती इसलिये ये आत्मिक ज्ञान हैं। उनमें भी वास्तविक आत्मिकज्ञान केवलज्ञान है क्योंकि अवधि और मनःपर्ययज्ञानका विषय विकल है-सीमाको लिये हुये है और केवलज्ञानका विषय सकल है स्थूल सूक्ष्म यावत् पदार्थ केवलज्ञानसे जान लियेजाते हैं ॥ ७६ ॥

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते ।
पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ—गौओंके आपसमें भेद रहनेपर भी, जिसप्रकार दूधमें भेद नहि रहता-काली पीली सब गायोंका दूध श्वेत और मिष्ट ही होता है उसीप्रकार पुरुषोंके भेद रहनेपर भी ज्ञानमें भेद नहीं-सदा उसका जानना स्वभाव स्थिर ही रहता है। भावार्थ-यद्यपि गौ काली पीली खंडी मुडी आदि अनेक प्रकारकी होती हैं परंतु उन सबका दूध श्वेत और मिष्ट रहता है यह कभी नहिं होता कि उनका दूध भी काला पीला लाला होजाय उसीप्रकार पुरुष भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदिके भेदसे वा काना कुबड़ा बूचा आदिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं परंतु उनके ज्ञानोंमें भेद नहिं आता सबके ज्ञानोंमें जाननारूप शक्ति विद्यमान रहती है ॥ ७७ ॥

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं यथा दीपो व्यपोह्यते। विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं तथा ज्ञानं व्यपोह्यते ॥ ७८ ॥
स्वरूपमात्मनः सूक्ष्ममव्यपदेशमव्ययं। तत्र ज्ञेयं परं सर्वं वैकारिकमपोह्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि जिसप्रकार दीपकसे पदार्थको जानकर उसका (दीपकका) त्याग करदिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थको जानकर ज्ञानका भी त्याग कर दिया जाता है तथापि जो ज्ञान आत्माका स्वरूप सूक्ष्म व्यपदेशरहित और अविनाशी है वह तो आत्मामें विद्यमान रहता है और जो वैकारिक ज्ञान है इंद्रियोंके साहाय्यसे उत्पन्न होता है उस-

का त्याग करदिया जाता है। भावार्थ—एक तो शुद्ध ज्ञान रहता है और दूसरी उसकी पर्यायें होती हैं। जो शुद्ध ज्ञान होता है वह आत्माका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म भेदरहित अर्थात् सिवाय अखंड ज्ञानके जिसका कोई अन्य भेद नहिं हो सकता ऐसा और अविनाशी है तथा सदा वह आत्मामें विद्यमान रहता है इसलिये जिसप्रकार दीपकसे पदार्थोंका ज्ञान कर उसे छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर जिस ज्ञानको छोड़ा जाता है वह यह ज्ञान नहीं किंतु जो ज्ञान इंद्रिय आदिकी सहायतासे होनेवाला विकृत है वह ज्ञान है। अर्थात् विकृतज्ञानसे पदार्थोंको जानकर जिससमय स्वस्वरूपज्ञानका अवलंबन करते हैं उससमय विकृतज्ञान छूट जाता है ॥ ७८–७९ ॥

स्कंधच्छेदे पल्लवाः संति भूयो मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो।
देशच्छेदे संति भूयो विकारा मूलच्छेदे जन्मनस्ते तथा नो ॥ ८० ॥

अर्थ—जिसप्रकार वृक्षके स्कंधभागके नष्ट हो जानेपर फिर पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं किंतु मूलसे उसके नष्ट हो जानेपर फिर पल्लव नहिं होते उसीप्रकार संसारके एक देशरूपसे नष्ट होनेपर तो फिर विकार उत्पन्न हो जाते हैं परंतु जिससमय संसारका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय कोई विकार उत्पन्न नहिं होता। भावार्थ—देखनेमें आता है कि वृक्षका बीचसे स्कंध काट देनेपर फिर उसमें पल्लव ऊग आते हैं और बढ़ते बढ़ते वे इतने बढ़जाते हैं कि किसीसमय पूर्ववृक्षके समान ही विशालरूप धारण करलेते हैं उसीप्रकार संसारके एक देशको नष्ट भी करदिया अर्थात् शुभकर्मके उपार्जन करनेवाले तप आदिके करनेसे अशुभ पर्यायका नाशकर मनुष्य आदि उत्तम गति और उत्तम गोत्र आदिमें जन्म भी धारण करलिया तो भी वहां पापवर्धक क्रियाओंके आचरण करनेसे फिर अनेक गतियोंमें घूमना पड़ता है और अनेकप्रकारके घोरसे घोर दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये शुभ अशुभ दोनोंका नाश करना कार्यकारी है ॥ ८० ॥

देशच्छेदे ?(दश्च) चरित्रं भवति भवततेः कुर्वताश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे ?(दो) विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपं।
विज्ञायेत्थं विचिंत्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमंतः समग्र्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यांति मार्गं ॥ ८१ ॥

अर्थ—आत्मध्यानसे भिन्न चारित्रके आचरण करनेसे जीवके संसारकी परंपराका देशच्छेद—एकदेश नाश होता है

और आकाशके समान निर्मल कर्ममलसे रहित आत्मस्वरूपका ध्यान करनेसे उस संसारका मूलच्छेद–सर्वथा नाश हो जाता है ऐसा विचारकर जो श्रेष्ठ ज्ञानके धारक महानुभाव हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने अंतरंगमें ही विराजमान आत्मतत्त्वका ध्यान करैं क्योंकि जिन महापुरुषोंको अपने अभीष्ट स्थानकी प्राप्तिका सुलभ सन्निकट मार्ग मिल जाता है वे अन्य मार्गपर गमन नहीं करते। भावार्थ–पहिले श्लोकमें यह बात बतला आये हैं कि देशच्छेद होनेपर तो फिर ज्योंका त्यों संसार हो जाता है और मूलच्छेद होनेपर सर्वथा नहीं होता। अब इस श्लोकमें देशच्छेदमें कारण तो चित्ररूप चारित्र कहा है और मूलच्छेदमें शुद्धात्मध्यान बतलाया है इसलिये जिसप्रकार समीपका सीधा सच्चा मार्ग मिल जानेसे कोई क्लिष्ट दूरके झूंठे मार्गपर नहीं जाता उसीप्रकार अपने अंतरंगमें ही विराजमान आत्माके स्वरूपका ध्यानकरनेसे ही जब संसारका नाश करनेवाला मोक्षमार्ग मिलजाता है तब अन्य चारित्रका विद्वानोंको आचरण न कर आत्मध्यान करना चाहिये ॥

दृष्ट्वा वाह्यमनात्मनीनमखिलं मायोपमं नश्वरं ये संसारमहोदधिं बहुविधक्रोधादिनक्राकुलं।
तीर्त्वा यांति शिवास्पदं शिवमयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं तेषां जन्म च जीवितंचसफलंस्वार्थैकनिष्ठात्मनां

अर्थ–जो महानुभाव विषय आदि समस्त वाह्य पदार्थोंको अनात्मस्वरूप, इंद्रजालकी मायाके समान झूठे और विनाशीक देखकर क्रोध आदि नानाप्रकारके नाकोंसे व्याप्त संसाररूपी महासमुद्रको तरकर और निश्चल विशुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यानकर कल्याणमय मोक्षस्थानको प्राप्त करते हैं उन्हीं स्वस्वरूपमें स्थिति रखनेवालोंका जन्म और जीवन सफल है अन्यका नहीं। भावार्थ–जबतक विषय आदि वाह्य पदार्थोंमें यह ज्ञान नहि होता कि वे निज नहीं, पर हैं इंद्रजालसे बनाये हुये नगर आदिके समान झूठे और विनाशीक हैं तबतक संसारसे उदासीनता नहि होती। जबतक संसारसे उदासीनता नहि होती तबतक क्रोधादि कषायोंके जीतनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। जबतक क्रोधादि नहीं जीते जाते तबतक आत्माके शुद्धस्वरूपका चिंतवन नहिं किया जासक्ता और विना शुद्धात्माके स्वरूपके चिंतवनके निराकुलतामय मोक्षसुख नहिं प्राप्त हो सक्ता इसलिये जो महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपके भक्त हैं अपनी आत्माको समस्तकर्मोंसे रहित विशुद्ध बनाना चाहते हैं और अपना जीवन सफल करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे विषय आदि वाह्य पदार्थोंको पर, झूठे, और विनाशीक मानकर, क्रोध आदि दुर्भावोंके स्थान संसारका सर्वथा त्यागकर दें और विशुद्ध आत्मतत्त्वका भलेप्रकार चिंतवन करैं ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं निस्संगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं ।
ब्रह्मप्राप्त्या परमकृत स्वेषु चात्मप्रतिष्ठं नित्यानंदं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यं ॥ ८३ ॥

अर्थ—यति अमितगतिने समस्त सांसारिक पदार्थोंको आकाशका नगर, स्वप्नके पदार्थ, और इद्रजालमें दिखाये हुये पदार्थोंके समान देखकर ब्रह्म प्राप्तिकेलिये इस योगसार ग्रंथका निर्माण किया है जो कि परमपवित्र है आत्मस्वरूपका सदा आनंद प्रदान करनेवाला निर्दोष सूक्ष्म और अतींद्रिय-आत्माके दृष्टिगोचर है । भावार्थ—योगसारका अर्थ शुद्धात्मा भी है और यह योगसार ग्रंथ भी है तथा जिसप्रकार शुद्धात्मा उत्कृष्ट है, स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित है, नित्यानंद स्वरूप, समस्त कर्ममलोंसे रहित, अत्यंत सूक्ष्म, और अतींद्रिय ज्ञानी सर्वज्ञ ही उसके स्वरूपको जान सकते हैं अन्य नहीं ऐसा है उसीप्रकार यह योगसार ग्रंथ भी उत्कृष्ट है, आत्मस्वरूपका बतलानेवाला है नित्य आनंद प्रदान करनेवाला निर्दोष और गहन है एवं विशेष ध्यानदेनेसे इसका स्वरूप समझमें आता है सो ऐसे इस परम पवित्र योगसार ग्रंथका संसारके समस्त भोगोंको आकाशमें बादलोंसे बनेहुये नगरके समान, स्वप्नमें देखेहुये पदार्थ और इद्रजालसे दिखाये हुये पदार्थोंके समान झूठे और असत्य मानकर उनसे विरक्त-होनेकेलिये और चिदानंद चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्माकी प्राप्तिकेलिये यतिराज अमितगतिने निर्माण किया है ॥ ८३ ॥

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः ।
स्वस्वरूपमुपलभ्य सोऽचितं सद्म याति भवदोषवंचितं ॥ ८४ ॥

अर्थ—निर्मल चित्तका धारक होकर जो महानुभाव एकचित्तसे इस योगसार ग्रंथको पढ़ता है वह अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होकर परम पवित्र और संसारके समस्त दोषोंसे रहित मोक्षरूपी महलको प्राप्त करता है । भावार्थ—योगसार ग्रंथके अभ्याससे पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान होता है पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे संसारसे विराग और शुद्धात्मामें प्रेम होता है और उससे समस्त कर्मोंका नाश और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथमें **नवमाधिकार** समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

समाप्तश्चायं ग्रंथ ।



योगसार।

समाप्त।